प्रकाशक
दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान,
हस्तिनापुर (मेरठ) उ० प्र०



द्वितीय आवृत्ति २२००
वीर नि० सं० २५०८



मूल्य : दस रुपये



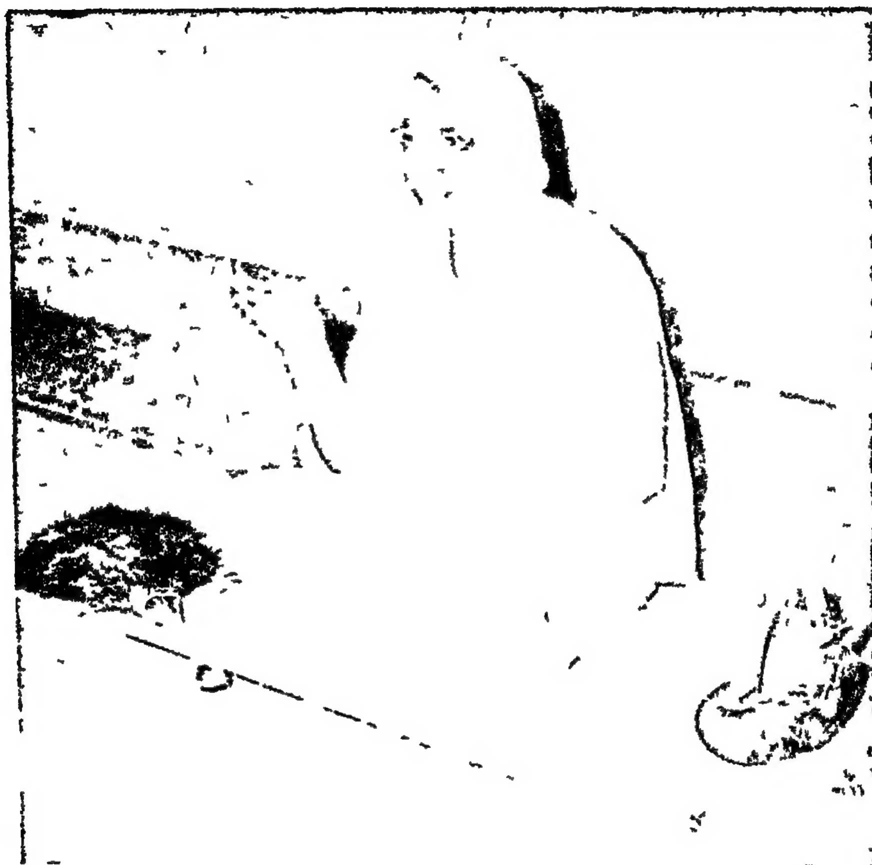
मुद्रक
वर्द्धमान मुद्रणालय
२७/९२-१९ जवाहरनगर कालोनी, वाराणसी



आवरण-परिचय

संघ के नायक आचार्यदेव विद्यमान हैं। शिष्य कृतिकर्म विधि से उनकी वंदना कर रहा है आचार्यश्री प्रति वंदना कर रहे हैं।

परमविदुषी पू० आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी



जन्म . टिकैतनगर (बाराबंकी) सन् १९३४ वि स १९९१
असोज शु १५ (शरद पू)
क्षुल्लिका दीक्षा · आ श्री देशभूषणजी से श्री महावीरजी मे
स २००९ चैत्र कृ १
आर्यिका दीक्षा . आ श्री वीरसागरजी से माधोराजपुर, (राज) मे
स, २०१३ वै कृ २

भारतीय श्रुति-दर्शन केन्द्र
जयपुर

आभार

श्रावक प्रमुख जिनशासन और वीतराग चारित्र सेवक श्रीमान् निर्मल कुमार जी सेठी, सीतापुर कुछ उन इने-गिने व्यक्तियो मे से हैं जिन्होने अपने पूज्य पिता स्व० सेठ हरखचद जी सेठी के पदचिह्नो पर चलते हुए धर्म के तथ्य को भलीभांति समझा है। जैन साहित्य और संस्कृतिके प्रचार-प्रसार की तरफ आपका समूचा परिवार सतत् दत्तचित्त रहता है। सम्पूर्ण देश मे फैले हुए अपने व्यावसायिक प्रतिष्ठानो को संचालित करते हुए भी अपने अत्यन्त व्यस्त जीवन के क्षणो का बहुभाग आप जिनवाणी और गुरुसेवा मे बिताते है। आपकी ही तरह आपके सहोदर भी श्री हुलाशचद जैन, श्री महावीर प्रसाद जैन तथा श्री दिनेश चद जैन पिता से विरासत मे मिली जिनभक्ति की अनुपम भावना को सतत् वृद्धिगत करते हुए विशाल व्यावसायिक प्रतिष्ठानो का संचालन कर रहे हैं। वर्तमान मे श्री निर्मल कुमार जी सेठी श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के अध्यक्ष, उत्तर-प्रदेश रोलर फ्लोर मिल्स एसोसियेसन के अध्यक्ष, दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, उत्तर प्रदेश के महामत्री तथा काकन्दी, पावानगर कहाऊ तीर्थक्षेत्र कमेटियो के सरक्षक पद में धर्म और समाज की सेवा कर रहे है। पूज्य आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी के सान्निध्य मे आने के बाद सेठी जी के मन मे जिनवाणी प्रसार की भावना इतनी बलवती हो उठी मानो उनके जीवन का यही सब कुछ हो। वर्तमान मे दि० जैन त्रिलोक शोध सस्थान से जो भी जिन-साहित्य प्रकाशित हुआ है उसके मूल मे आपका आर्थिक योगदान तथा प्रबल गुरु भक्ति की भावना निहित रही है। इससे प्रस्तुत प्रकाशन का मूल्य लागत से भी कम रखने मे हमे सहायता तो मिली ही है, नयी शक्ति के साथ इस पुनीत कार्य को निरतर चलाते रहने की प्रेरणा भी प्राप्त हुई सहयोग के लिए हम श्रीमान् निर्मलकुमार जी सेठी के हृदय से आभारी हैं।

—संपादक

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला मे दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करनेवाले हिन्दी, सस्कृत, प्राकृत, कन्नड, मराठी आदि भाषाओ के न्याय, सिद्धान्त अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयो पर लघु एव बृहद् ग्रन्थो का मूल एव अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाए भी प्रकाशित होती रहती है।

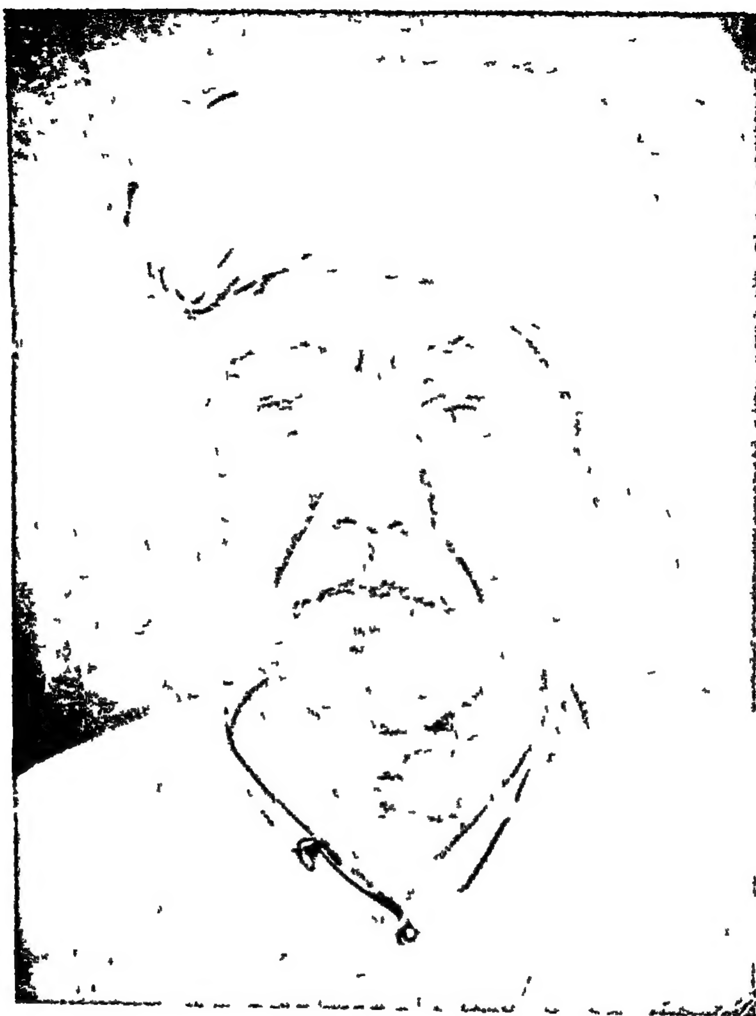
ग्रन्थमाला सम्पादक :

मोतीचंद जैन सर्राफ
शास्त्री, न्यायतीर्थ



रवीन्द्रकुमार जैन
बी० ए०, शास्त्री





स्व० सेठ हरखचद जी सेठी
(पिता श्री निर्मलकुमारजी सेठी, सीतापुर)

प्रस्तावना

इस ग्रन्थ का नाम है 'दिगम्बर मुनि'। यह नाम अपने आप में अन्वर्थ है। इस ग्रन्थ मे आदि से अन्त तक 'दिक्-दिशा ही है अम्बर-वस्त्र जिनके' ऐसे दिगम्बर मुनियो की साधारण चर्या और विशेष चर्याओ का वर्णन है। यह ग्रन्थ तीन खण्डो मे विभाजित है—

१ प्रथम खण्ड मे दिगबर मुनि दीक्षा क्यो ली जाती है ? विरक्त श्रावक दीक्षा लेने का जब इच्छुक होता है तब गुरु के पास कैसे निवेदन करता है ? गुरु उसे दीक्षा देते समय क्या-क्या निर्णय लेते है ? इत्यादि बातो का सविस्तृत वर्णन है।

पुन गुरु शिष्य को २८ मूलगुण प्रदान करते है, पिच्छी, कमडलु और पुस्तक देते हैं। शिष्य भी अर्हंत मुद्रा को धारण कर पांचो परमेष्ठी के अन्तर्गत एक परमेष्ठी बन जाता है। २८ मूलगुणो के अन्तर्गत छह आवश्यक क्रियायें हैं—सामायिक, स्तुति, वदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग। दिगम्बर मुनि इन क्रियाओ के पालन मे पूर्ण सावधान रहते हैं। इस खण्ड मे इन क्रियाओ का सुन्दर विवेचन है। मुनियो की अहर्निश चर्या कैसी होनी चाहिये ? अनगारधर्मामृत के आधार से इस अहोरात्रि चर्या का अच्छा विश्लेषण है।

मुनियो की अष्टमी, चतुर्दशी आदि क्रियाओ का भी निरूपण किया गया है। दिगम्बर मुनि छयालीस दोष और बत्तीस अन्तरायो को टाल कर आहार ग्रहण करते है। अत पिंड शुद्धि के प्रकरण मे छयालीस दोषो का और ३२ अन्तरायो का वर्णन किया गया है। दिगम्बर मुनियो की जो-जो चर्यायें एक समान ही रहती है उन्ही का इस खण्ड मे विवेचन होने से यह सामान्यचर्या को निरूपण करने वाला है।

२ द्वितीय खण्ड मे मुनियो के भेद प्रभेद बतलाये गये है। आचार्य के छत्तीस, उपाध्याय के पच्चीस और साधुओ के अट्ठाईस मूलगुण होते हैं। इन विशेष गुणो की अपेक्षा से दिगम्बर मुनियों मे भेद हो जाते है। ऐसे ही सराग-वीतरागचर्या की अपेक्षा, उत्तरगुणो की अपेक्षा, ऋद्धियो की अपेक्षा आदि कितने तरह से मुनियो मे भेद हो सकते है प्राय. उन सबका इस खण्ड मे विवेचन है।

३ तृतीय खण्ड मे यह बतलाया गया है कि इस दुषमकाल मे भी भावलिंगी मुनि होते है और अन्त तक होते रहेगे। परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती ही रहेगी। प्रथमानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग आदि ग्रन्थो के आधार से आज के मुनियो की चर्या को निर्दोष और आगम विहित सिद्ध किया है। हाँ ! यदि कोई मुनि अनर्गल चर्या करते हो, अनर्गल बोलते हो तो उनके आगमविरुद्ध होने से सभी मुनि दूषित नही हो जायेंगे। क्या पूर्व मे—चतुर्थ काल मे सदोष मुनि नही होते थे ? होते थे। श्री सोमदेव सूरि ने कहा भी है कि—

उच्चावच जन प्रायो समयोऽय जिनेशिनाम् ।

अर्थात् जिनेंद्रदेव के शासन मे प्राय' ऊँच और हीन सभी तरह के लोग रहते है।

इस खण्ड मे वर्तमान के चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शातिसागर, वीर-सागर आदि का सक्षिप्त परिचय दिया गया है। अनतर मुनियो के युक्ता-हार-युक्त विहार का सुन्दर विवेचन है।

आज कुछ लोग कहते है कि यदि मुनि चटाई रख लेते हैं, घास बिछा लेते है, वसतिकामे रहते है, किवाड खोलते है, नौका मे बैठते है, ग्राम या शहर मे रहते है तो वे मुनि ही नही है किन्तु सर्वथा ऐसी बात नही हैं। जैनाचार्यों ने मुनियो के दो भेद किये है जिनकल्पी और स्थविरकल्पी। जिनकल्पी मुनि एकलविहारी होते हैं—वन मे या पर्वतो पर ही रहते है, वे सदा मौन रहते है, अपनी आत्मा के ध्यान मे तत्पर रहते है। चूँकि उनके उत्तम सहनन होता है अत ये जिनकल्पी मुनि पचमकाल मे नही हो सकते है। स्थविरकल्पी मुनि चतुर्थ काल मे भी होते थे और आज तो ये ही होते है। मुनि चटाई, घास ले सकते है, वसतिका मे रह सकते हैं, किवाड बन्द कर सकते है, खोल सकते है, नौका मे भी बैठ सकते हैं, ग्राम, शहर मकान आदि मे भी रह सकते है। आगम के आधार से सभी शंकाओ का समाधान दिया गया है।

श्री कुदकुददेव कहते है—

"भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाण हवेइ साहुस्स।
त अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥७६॥

इस भरत क्षेत्र मे दु षमकाल मे मुनि को आत्म स्वभाव मे स्थित होने पर धर्मध्यान होता है। जो ऐसा नही मानता है वह अज्ञानी है।

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं ।
लोयतियदेवत्त तत्थ चुदा णिव्वुदिं जति ॥७७॥

आज भी इस पंचम काल मे रत्नत्रय से शुद्ध आत्मा (मुनि) आत्मा का ध्यान करके इन्द्रत्व और लौकातिक देव के पद को प्राप्त कर लेते हैं और वहाँ से चलकर निर्वाण को प्राप्त कर लेते है ।[1]

इस पचमकाल मे अन्त तक निर्दोष दिगम्बर मुनियो की परम्परा चलती रहेगी । इसका स्पष्टीकरण देखिए महान् प्रामाणिक गन्थ तिलोय-पण्णत्ति मे—

श्री यतिवृषभाचार्य कहते हैं—

"सुविधि नाथ को आदि से लेकर सात तीर्थों मे धर्म की व्युच्छित्ति हुई थी और शेष सोलह तीर्थंकरो के तीर्थों मे धर्म की परम्परा निरतर बनी रही है । उक्त सात तीर्थों मे क्रम से पावपल्य, अर्द्धपल्य, पौनपल्य, पल्य, पौनपल्य, अर्द्धपल्य और पावपल्य प्रमाण धर्मतीर्थ का व्युच्छेद रहा है । हुंडावसर्पिणी के दोष से यहाँ सात धर्म के विच्छेद हुए है । उस समय दीक्षा के अभिमुख होने वालो का अभाव होने पर धर्म रूपी सूर्यदेव अस्तमित हो गया था ।[2]"

तात्पर्य यह है कि वृषभदेव से लेकर पुष्पदत नाथ तक धर्म परम्परा अव्युच्छिन्न रूप से चली आई थी । पुन पुष्पदत के तीर्थ मे पावपल्य तक धर्म का अभाव रहा है, अनतर जब शीतलनाथ तीर्थंकर हुए तब धर्मतीर्थ चला, उनके तीर्थ मे भी अर्द्धपल्य तक धर्म का अभाव रहा, ऐसे ही श्रेयास नाथ के तीर्थ मे पौनपल्य, वासुपूज्य के तीर्थ मे एक पल्य विमलनाथ के तीर्थ मे पौनपल्य, अनतनाथ के तीर्थ मे अर्द्धपल्य और धर्म-नाथ के तीर्थ मे पावपल्य तक धर्म का अभाव रहा है । अर्थात् कोई भी मनुष्य जैनेश्वरी दीक्षा लेने वाले नही हुए अत धर्म का अभाव हो गया ।

---

१ मोक्षपाहुड ।
२ " " गा० १२७८–१२७९ ।
हुडावसप्पिणिस्स य दोसेण सत्त होत्ति विच्छेदा ।
दिक्खाहिमुहाभावे अत्थमिदो धम्मरविदेओ ॥१२८०॥

यहाँ पर यह बात समझने की है कि मुनि संघ के विना धर्म की परम्परा नही चल सकती है। इसी का स्पष्टीकरण और भी देखिए श्री यतिवृषभाचार्य के शब्दो मे—

गौतम स्वामी से लेकर अग-पूर्व के एकदेश के जानने वाले मुनियो की परम्परा के काल का प्रमाण छह सौ तेरासी (६८३) वर्ष होता है। उसके वाद—

"जो श्रुततीर्थ धर्म प्रवर्तन का कारण है, वह वीस हजार तीन सौ सत्रह वर्षो मे काल दोष से व्युच्छेद को प्राप्त हो जायगा।"[1] अर्थात् ६८३ + २०३१७ = २१००० इक्कीस हजार वर्ष का यह पंचमकाल है तब तक धर्म रहेगा, अन्त मे व्युच्छेद को प्राप्त हो जायेगा।

इतने पूरे समय तक चातुर्वर्ण्य सघ जन्म लेता रहेगा, किंतु लोग प्रायः अविनीत, दुर्बुद्धि, असूयक, सात भय व आठ मदो से सयुक्त, शल्य एवं गारवो से सहित, कलहप्रिय, रागिष्ठ, क्रूर एव क्रोधी होगे।[2]"

इन पक्तियो से बिल्कुल ही स्पष्ट है कि इक्कीस हजार वर्ष के इस काल मे हमेशा चातुर्वर्ण्य सघ रहेगा ही रहेगा।

मुनि के अभाव मे धर्म, राजा और अग्नि का भी अभाव हो जायेगा यथा—

"इस पचम काल के अन्त मे इक्कीसवा कल्की होगा। उसके समय मे वीरागज नामक एक मुनि, सर्वश्री नामक आर्यिका तथा अग्निदत्त और पगुश्री नामक श्रावक युगल होगे। एक दिन कल्की की आज्ञा से मत्री द्वारा मुनि के प्रथम ग्रास को शुल्क रूप से मागे जाने पर मुनि अन्तराय करके वापस आ जायेंगे। उसी समय वे अवधिज्ञान को प्राप्त कर 'दु षमाकाल का अत आ गया है' ऐसा जानकर प्रसन्नचित्त होते हुए आर्यिका और श्रावक युगल को बुलाकर वे चारो जन चतुराहार का त्याग कर सन्यास ग्रहण कर लेगे। और तीन दिन बाद कार्तिक कृष्णा अमावस्या के स्वातिनक्षत्र मे शरीर को छोड़कर देवपद प्राप्त करेंगे।

उसी दिन मध्याह्नकाल मे क्रोध को प्राप्त हुआ कोई असुरकुमार देव राजा को मार डालेगा और सूर्यास्त के समय अग्नि नष्ट हो जावेगी।

---

१ तिलोय० अ० ४, गाथा १४९३।

२ तंत्तियमेत्ते काले जम्मिस्सदि चाउवण्णसघाओ।

तिलोय० अ० ४, गा० १४९४-१४९५

इसके पश्चात् तीन वर्ष, आठ माह और एक पक्ष के बीत जाने पर महाविषम छठा काल प्रवेश करेगा[1] ।"

इन वीरागज मुनि के पहले-पहले हमेशा मुनियो का विहार इस पृथ्वी तल पर होता ही रहेगा।

अगर यहाँ कोई शका करे कि शातिसागर के पहले निर्दोष मुनि कहाँ थे ? अत मुनि की अविच्छिन्न परम्परा कैसे मानी जा सकती है ?

तो यहाँ उत्तर यही है कि उस समय भी दक्षिण में मुनि विचरते थे। हाँ, इतना अवश्य हो सकता है कि वे अधिक प्रभावशाली नही हो। उदाहरण के लिये देखिये—

"एक आदिसागर महाराज थे। इनका जन्म महाराष्ट्र के अकली ग्राम मे सन् १८६६ मे हुआ था। इनका नाम शिवगोडा था, इन्होने ईस्वी सन् १९०६ मे क्षुल्लक दीक्षा ली एव ६-७ वर्ष बाद मुनि दीक्षा ले ली। ये जब भोज ग्राम मे जाते थे तो कभी आचार्य शातिसागर जी के घर इनका आहार हो जाता। आ० शातिसागर जी उस समय गृहस्थावस्था मे थे। वे सुबह इन मुनिराज को अपने कधे पर बिठाकर वेद गगा और दूध गगा नदी पार कराते थे। एक बार इन्होने कहा—महाराज! मै आपको नदी पार कराता हूँ आप मुझे ससार समुद्र से पार करा दीजियेगा। ये आदिसागर महाराज परम तपस्वी थे, सात दिन बाद आहार लेते थे और शेष दिन प्राय ध्यान मे व्यतीत करते थे। उदगाव मे इनकी समाधि हुई है।[2]"

ऐसे ही और भी मुनि दक्षिण में रहते आये है जो कि प्रसिद्धि में नही आ पाये हैं।

पूज्य आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी ने कई बार अपने सघ में मुनि आर्यिकाओ को 'मूलाचार' ग्रन्थ का आद्योपात स्वाध्याय कराया है। पुन' 'सिद्धात चक्रवर्ती वसुनदी आचार्य रचित तात्पर्यवृत्ति टीका' सहित मूलाचार ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में अनुवाद भी किया है। उन्होने समय की माँग के अनुसार 'दिगम्बर मुनि' नाम से इस ग्रन्थ को लिखा है। पूज्य माता जी ने इस ग्रन्थ के लिखने में श्री कुन्दकुन्दकृत मूलाचार को ही मूल आधार बनाया है तथा आचारसार, अनगारधर्मामृत, मूला-

---

१ तिलोय० अ० ४, पृ० ३४४-३४५।

२. आचार्य महावीर कीर्ति स्मृति ग्रन्थ (स० डा० नेमेन्द्रचन्द्र जैन पृ० ३९।

राधना, मूलाचार प्रदीप आदि ६५ ग्रन्थो का आधार लेकर यह ग्रन्थ तैयार किया है। स्थल-स्थल पर टिप्पण मे उन उन ग्रन्थों के उद्धरण दिये गये है। जिससे यह ग्रन्थ स्वरचित या स्वकल्पित न होकर पूर्वाचार्यो की वचन परपरा के अनुसार ही प्रामाणिक है।

यह ग्रन्थ केवल मुनि आर्यिकाओ के लिए ही पठनीय हो ऐसी बात नही है, श्रावक-श्राविकाओ को भी इसका पठन-पाठन करना चाहिये जिससे वे अपनी शकाओ को दूर कर आगममार्ग को समझें और वर्तमान के मुनि आर्यिकाओ के प्रति श्रद्धालु होकर उनकी भक्ति, पूजा, स्तुति करें। उन्हे आहारदानादि देवें, उनकी परिचर्या वैयावृत्य आदि करके अपने ससार की स्थिति कम कर लेवें।

हस्तिनापुर —मोतीचंद जैन
२३-९-८० सपादक

ग्रन्थ एवं ग्रन्थकर्त्री

संसार की स्थिति के साथ-साथ समाज की स्थिति है। मानव समाज की स्थिति सदैव परिवर्तित होती रही है। कभी उन्नति का और कभी अवनति का समय आता रहा है। जैनागम मे इसे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल कहा है। प्रत्येक काल भोगभूमि एव कर्मभूमि नाम से दो भागो मे विभाजित है। इस युग का आरम्भ भोगभूमि से है। अपने पूर्वोपार्जित कर्मफल के अनुसार प्रकृति के द्वारा प्रदत्त पदार्थों का भोग ही उनके लिए पर्याप्त था। आज की तरह विषमता नही थी। न धार्मिकता थी न अधार्मिकता। परिणामत वह न मोक्ष जाने हेतु साधनभूत थे न नरक जाने हेतु कर्म सचय करते थे। सभी सुखपूर्वक अपना जीवन बिताते थे। लेकिन काल का चक्र सदा घूमता रहता है वह किसी को भी स्थिर नही रहने देगा। धीरे-धीरे भोगभूमि का अत हुआ—लोगो मे सग्रह की प्रवृत्ति, इच्छाओ की वृद्धि होने लगी फलत परस्पर मे कलह आदि होने लगे तब क्रमश· १४ कुलकरों ने जन्म लेकर प्रजा को नानाविध ज्ञानबोध दिया। अन्तिम कुलकर नाभिराय के पुत्र देवाधिदेव भगवान् ऋषभदेव हुए जो जैनधर्म के आद्य प्रवर्तक है। उन्होने प्रत्येक प्राणी को आचार धर्म का सदुपदेश दिया जो आज जैनाचार कहा जाता है। जैनाचार का मूल अहिंसा है।

जैनाचार के दो रूप हैं—एक गृहस्थ (श्रावक) का आचार और दूसरा साधु (श्रमण) का आचार। ऊपर वर्णित अहिंसा और उसके मूलरूप सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह सभी प्रकार के पापो से बचने के लिए मूल रूप हैं। इनका जो पूर्णरूपेण पालन करता है वह साधु या श्रमण कहलाता है तथा जो पूर्णरूपेण पालन नही कर पाता वह अणुव्रती या गृहस्थ (श्रावक) कहलाता है। प्राणी मात्र मे दया, क्षमा, नम्रता, सरलता, सत्यवादिता, सहिष्णुता, पवित्रता, परदु खकातरता, सेवापरायणता, अकिंचनता जैसे अनेकानेक गुणो का उत्पन्न करना जैनाचार का प्रधान लक्ष्य है।

मुनि आचार का आरभ २८ मूलगुणो से होता है। इन मूलगुणो का धारी अपनी मन, वचन, काय की शक्तियो पर नियन्त्रण करते हुए आत्म स्वरूप मे मग्न होने का पुरुषार्थ करता है, विषयो की तृष्णा का दमन

करता हुआ आत्मशक्ति को जागृत करता है। ज्ञान, अध्ययन और ध्यान उसकी निजी सम्पत्ति होती है। त्रिकाल भावशुद्धि पूर्वक आत्मध्यानरत होता है। स्वप्न मे भी किसी का अनिष्टचितन नही करता है। और अपने विचारो को लौकिक विद्याओ द्वारा कलुषित नही करता। आत्म-कल्याण के साथ वह लोककल्याण की सतत भावना करता है। परिणामत पर-कल्याण की सद्भावना से नानाविध साहित्य का निर्माण कर आज भी श्रमण परम्परा को अक्षुण्य बनाए हुए है। जैन मुनि मूल-गुणो का पालन करता हुआ ८४ लाख उत्तरगुणो मे आत्म ध्यान और तप के द्वारा अपनी आध्यात्मिक शक्तियो का विकास करता है। और गुणस्थानो के परिप्रेक्ष मे कर्मक्षय करता हुआ अर्हंत् पद से विभूपित होता है।

इसी आत्मधर्मी श्रमण परम्परा मे महावीर के सिद्धान्तो का प्रचार करने के लिए अनेकानेक समर्थ आचार्य हुए है। डा० नेमिचद ज्योतिषाचार्य ने कालक्रम के अनुसार ऐसे आचार्यो को ५ कोटियो मे वर्गीकृत किया है जो उन्ही के शब्दो मे निम्नाकित अनुसार है। (१) श्रुतधराचार्य-वह आचार्य है जिन्होने सिद्धान्त, साहित्य, कर्म साहित्य, अध्यात्म साहित्य का ग्रथन आचार्यों के चरित्र और गुणो का जीवन मे निर्वाह करते हुए किया है। यह युग-सस्थापक और युगान्तरकारी आचार्य है। इन्होने प्रतिभा के क्षीण होने पर नष्ट होती हुई श्रुतपरम्परा को मूर्तरूप देने का कार्य किया। जैसे—धरसेन, पुष्पदत, भूतबली आदि। (२) सारस्वताचार्य—वह आचार्य है जिन्होने प्राप्त हुई श्रुतपरम्परा का मौलिक प्रणयन और टीका साहित्य द्वारा प्रचार और प्रसार किया। इन आचार्यो मे मौलिक प्रतिभा तो रही है पर श्रुतधरो के समान अग और पूर्व साहित्य का ज्ञान नही रहा। जैसे-समन्तभद्र, जिनसेन,अकलक आदि। (३) प्रबुद्धाचार्य—ऐसे आचार्य जिन्होने अपनी प्रतिभा द्वारा ग्रथ प्रणयन के साथ विवृत्तियाँ और भाष्य भी रचे है। कल्पना की रमणीयता या कल्पना की उड़ान प्रबुद्धाचार्यो मे अधिक है। इस श्रेणी के सभी आचार्य प्रायः कवि है जैसे पद्मनदि, वादीभसिह, हरिषेण आदि। (४) परम्परा पोषक आचार्य—वह भट्टारक है जिन्होने दिगम्बर परम्परा की रक्षा के लिए प्राचीन आचार्यो द्वारा निर्मित ग्रथो के आधार पर अपने नवीन ग्रथ लिखे। नवीन सम्भावनाओ का विकास इन आचार्यो द्वारा नही हो सका है। विश्लेषण का कार्य ही इनके द्वारा हुआ है जैसे सकल-कीर्ति, शुभचन्द्र आदि। (५) कवि और लेखक—दिगम्बर परम्परा के

श्रुत का संरक्षण विस्तार आचार्यो के अतिरिक्त गृहस्थ लेखक और कवियो ने भी किया है। जिन्होने मौलिक रचनाओ के साथ अनेक ग्रंथो की टीका और टिप्पण भी लिखे है। जैसे पं० आशाधर जी आदि।

इस प्रकार दिगम्बर परम्परा का पोषक आगम साहित्य ऐसे समर्थ आचार्यो के द्वारा समय-समय पर अभिवृद्ध किया गया। श्रमण जीवन की परम्परा अक्षुण्ण बनी रहे और निरन्तर साकार चलती रहे इस संदर्भ मे हमारे श्रुतधराचार्यो द्वारा जो आचार विषयक ग्रन्थ लिखे गए उनमे श्रमणो के आतरिक और बाह्य प्रवृत्तियो का गहराई से वर्णन किया गया है।

अनेकानेक आचार्यो द्वारा रचित चरणानुयोग के ग्रन्थो मे विविध-विविध विषयो पर अनेकानेक आचार्यों द्वारा वर्णन प्रस्तुत किया गया है। श्रमणाचार का क्रमिक सागोपाग पर्यालोचन किसी एक ग्रन्थ विशेष मे देखने को नही मिलता। साधु जीवन की प्रवृत्तियो की जानकारी के लिए हमे अनेकानेक ग्रन्थो का आलोडन करना पडता है।

प्रसन्नता है दिगम्बर मुनि नामक ग्रन्थ मे श्रमण जीवन, उसकी प्रतिक्षण की क्रिया का क्रमिक और सागोपाग सुबोध, सरल, यथावश्यक रूप मे वर्णन किया गया है। परमविदुषी सिद्धान्तवाचस्पति आर्यिकारत्न ज्ञानमती जी द्वारा लिखित 'दिगम्बर मुनि' ग्रन्थ यथार्थत दिगम्बर मुनि की सभी प्रकार की आन्तरिक और बाह्य क्रियाओ, कर्त्तव्यो के प्रस्तुतीकरण मे अपने आपमे एक प्रामाणिक कोष है यह ग्रन्थ साधु जीवन के हर पहलुओ और प्रत्येक प्रवृत्तियो का पूर्णरूपेण दर्पणवत् अवलोकन कराता है। ग्रथ मे टिप्पणी और मूल आचार्यो के ग्रन्थो का सकेत देने से ग्रन्थ की सैद्धान्तिक प्रामाणिकता स्पष्ट हुई है। कालक्रम के अनुसार आचार्यों का चरित्राकन करने से एक प्रबलप्रेरणा का स्रोत इसमे समाहित हो गया। चारो अनुयोगो के परिप्रेक्ष्य मे इस ग्रन्थ का प्रणयन अवश्य मुनि-परम्परा को विशुद्ध रूपेण अक्षुण्ण गति से प्रवाहित करने में पतवार का कार्य करेगा। तथा स्थितिकरण मे इस ग्रन्थ से अभूतपूर्व प्रेरणा का स्रोत प्राप्त होगा।

आर्यिकारत्न ज्ञानमती माता जी की अध्यात्म साहित्य सर्जना उनके ज्ञान के क्षयोपशम की जीवन्त उपलब्धि है। जो कार्य बडे-बड़े विद्वान् एकनिष्ठ होकर गत अनेक वर्षो मे नही कर पाए वह आर्यिकारत्न की ज्ञानभावतरगिणी से उद्भूत होकर ज्ञान चेतना के क्षेत्र मे एक अभूत पूर्व क्रान्ति ला दी। सस्कृत और प्राकृत भाषा के क्लिष्ट ग्रन्थो

का पठन, मनन और चिंतन कर जो अध्यात्म नवनीत अपनी लेखनी से प्रसूत किया उससे न केवल अध्यात्म और साहित्य की अभिवृद्धि हुई है अपितु माँश्री के ज्ञान और यशःशरीर को हमेशा के लिए स्थायी बना दिया। ज्ञानतेजस्विता के परिप्रेक्ष्य में जो निधियाँ आपने भेंट की वे निश्चित ही मील के पत्थर की भाँति ज्ञान, जिज्ञासुओ को निर्देश करती हुई अमरकृतियो के रूप में आध्यात्मिक जगत् मे अपना स्थायी नाम जोड जाएँगी।

आर्यिका श्री द्वारा लिखित, अनूदित, सम्पादित एव पद्यानुवादित विपुल साहित्य सागर की सक्षिप्त जानकारी यहाँ प्रस्तुत की गई है जिससे समीक्ष्य ग्रन्थो के विषय सन्दर्भ मे यथार्थ जानकारी जिनागम जिज्ञासुओ को प्राप्त करने मे सुलभता होगी।

नारी जगत् के इतिहास मे यह पहली मिशाल है जिसने बीसवी शताब्दी मे जिनागम के भण्डार को अपनी प्रखर प्रतिभा एव सद्साहित्य के द्वारा समलकृत कर भरा है। यथा नाम तथा साकार गुणो से वेष्टित ज्ञान और महाचरण की साकार प्रतिमूर्ति आर्यिका ज्ञानमती जी ने अबतक जितने विपुल साहित्य का सृजन किया है, अनेक विद्वान् मिलकर भी उतना साहित्य इतने समय मे साकार कर सकते ऐसी कम सम्भावना है।

१ करणानुयोगविषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ—प्राचीन आगम ग्रन्थो मे पूर्व आचार्यो द्वारा लोकरचना, स्थिति एव उसका स्वरूप प्रतिपादित किया है, माँ श्री ने उसे अत्यन्त सरलतम अभिव्यक्ति के रूप मे मौलिक ढग से प्रस्तुत करने मे अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। त्रिलोकभास्कर, जैन ज्योतिर्लोक, जम्बूद्वीप जैसे करणानुयोग विषयक ग्रन्थ लिखकर गूढ क्लिष्ट और विस्मृत गणित प्रधान नीरस विषय को सरस, सरल और सर्वजनहिताय रचकर अपनी ज्ञान प्रतिभा का व्यापक परिचय दिया है। चारो अनुयोगो के अध्ययन और चिन्तन के साथ सिद्धान्त का गम्भीरता के साथ गहन अध्ययन का सुफल परिणाम माँ ज्ञानमतीजी की पाण्डित्यपूर्ण साहित्यिक रचना से जाना जा सकता है। क्लिष्ट प्राकृत एव सस्कृत भाषा मे रचे गूढ ग्रथो की रचना को अत्यन्त प्रवाहमय सुबोध सरल शैली मे भाषानुवाद कर विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है।

२. पूजन विधान विषयक मौलिक ग्रंथ—भावनाओ की गहनता की अभिव्यक्ति की क्षमता कविहृदय मे ही सम्भव है। 'आर्यिका ज्ञानमतीजी द्वारा रचित सातिशय आगमानुकूल पूजन विधानो मे जम्बूद्वीप मण्डल पूजन विधान, गणधर वलय पूजन, सुदर्शन मेरु पूजन, इन्द्रध्वज विधान आदि ग्रंथ भक्ति, उपासना, अर्चना के चरमोत्कृष्ट रूप हैं। जिसे भक्त यथाविधि व्यक्त कर सातिशय लाभ की प्राप्ति करता है। यह पूजन विधान सातिशय कल्याणकारी नानाविध छन्दो मे गुम्फित अनेकानेक सद्भावो से आच्छादित हैं। भक्तिका चरमोत्कर्ष इनमे देखने को मिलता है। गेयता, सरलता, भावो की गहनता, भाषा की प्राञ्जलता, अलकारो की प्रचुरता इनके गीत काव्य की मौलिक विशेषताएँ हैं।

३. विशिष्ट मौलिक ग्रन्थ—तीर्थंकर महावीर और धर्म तीर्थ, आर्यिका, बाहुवलि चरित्र, काव्यमय भगवान् बाहुवलि, चौवीस तीर्थंकर आदि ग्रन्थ प्रथमानुयोग के सन्दर्भ मे माँ श्री द्वारा रचे गए हैं। इन पौराणिक आख्यानो को आधुनिक प्रयोग के सन्दर्भ मे अत्यन्त सफल और प्रभावकारी माना गया है। आचरण की सुगन्धि और धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति इनके अध्ययन से समुपलब्ध होती है।

जैन भारती, आत्मा की खोज, दशलक्षण धर्म ऐसी प्रभावकारी कृतियाँ है जो व्यक्ति को आत्मीक गुणो को प्राप्ति मे सहकारी हैं। भावाभिव्यक्ति, चरित्र चित्रण और आत्मदर्शन के जिन सोपानो का आख्यान इन कृतियो मे समाहारित है वह अपने आप मे वेजोड है।

४ स्तुतियाँ एव भक्तियाँ—आर्यिकाश्री का भाषागत अधिकार वेजोड है। उनका अध्ययन चिन्तन अपरिमाण मे 'स्व' कल्याण की प्राप्ति के मूलोद्देश्य से अर्पित किया गया है। ज्ञान की वहुमुखी उपलब्धि के लिए न्याय, व्याकरण, गणित, जैसे क्लिष्ट, शुष्क नीरस विषयो मे भी परमोत्कृष्ट दक्षता प्राप्त की तथा चारो अनुयोगो पर गहन व्यापक चिन्तन पूर्ण अध्ययन कर विषय पर अधिकार प्राप्त किया।

हमारे पूर्वाचार्यों ने सस्कृत एव प्राकृत भाषाओ मे विशुद्ध भावो की सम्प्राप्ति हेतु जिनेन्द्र अर्चनविषयक भक्ति भाव युक्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सातिशय अनेक भक्तियाँ रची है। पूज्य माँ श्री ने भी ऐसी ही विशिष्ट सातिशय भक्तियो स्तोत्रो की रचना कर उनका भाषागत पद्यानुवाद भी किया है। जो प्रत्येक जिज्ञासु के लिए एक अलौकिक निधि के रूप

मे उपलब्ध है। देवागम स्तोत्र, सामायिक, शान्तिभक्ति, समाधि भक्ति, निर्वाण भक्ति, आचार्य भक्ति, नन्दीश्वर भक्ति, चौबीस तीर्थंकर भक्ति, पचगुरु भक्ति, चैत्यभक्ति, पात्रकेशरीस्तोत्र, द्रव्य सग्रह, समाधिशतक, इष्टोपदेश आदि लगभग २ दशक स्तोत्रो, भक्तियो, स्तुतियो का पद्यानुवाद किया।

इसके अलावा सस्कृत भाषा मे स्व रचित एवं हिन्दी पद्यानुवाद की गई स्तुतियो मे—बाहुबलि स्तोत्र, त्रैलोक्य वंदना, सम्मेदशिखर वंदना, चद्रप्रभु स्तुति, जम्बूस्वामी स्तुति, शान्तिनाथ स्तुति, आदि लगभग ३० स्तोत्रो की रचना कर विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया। जैन वाङ्मय रूपी सागर से निकाले गए रत्नो जैसी वस्तु का समावेश इन प्रभावकारी कृतियो मे गुम्फित है। उपरोक्त सस्कृत स्वरचित स्तुति स्तोत्रो की पद छाया हिन्दी पद्यान्तर स्वय माँ श्री ने करके असस्कृत ज्ञाता जनो का महान् उपकार किया है। बालोपयोगी साहित्य—पूज्य माँ श्री ने अपनी विलक्षण तार्किक बुद्धि से बालमनोवैज्ञानिक स्थिति को भली प्रकार समझते हुए 'बालविकास' नाम से चार भागो का प्रणयन किया जिसमे चारो अनुयोगो को सम्यक्, सरल, सुबोध एवं मनोवैज्ञानिक आधेय आधार को दृष्टि मे रखकर सचित्र रूप मे विषय वस्तु को क्रमिक ज्ञान के साथ प्रस्तुत किया जिनसे बालको के कोमल मस्तिष्क मे धर्म और आचरण के पवित्र सस्कारो का अमिट प्रभाव पडता है। इसी शृखला मे 'भगवान् महावीर' आदि छोटी-छोटी कृतियाँ सचित्र प्रकाशित की गई है जो अपने आप मे प्रभावशाली है।

५ अनुवाद एव सम्पादन का महत्तर कार्य—मातृभाषा के अभाव मे पूर्वाचार्यों के ग्रथो का तात्पर्य समझना सर्वथा सामान्य व्यक्तियो के लिए दुष्कर है। माँ श्री ने अष्टसहस्री, नियमसार, लघीयस्त्रयी, भावसग्रह, भावत्रिभगी, आस्रव त्रिभगी, कातन्त्र व्याकरण, आलाप पद्धति, जैनेन्द्र प्रक्रिया, भगवती आराधना, न्यायकुमुदचन्द्र जैसे महानतम सिद्धान्त-न्याय-व्याकरण के क्लिष्ट सस्कृत, प्राकृत भाषी ग्रन्थो की सुबोध सरल हिन्दी टीका करके लोकोत्तर कार्य किया है।

जैन वाङ्मय का सर्वाङ्गीण स्वरूप चार अनुयोगो मे अनुबद्ध है। इनका समन्वित रूप यदि किसी एक पत्रिका मे देखने को मिलता है तो वह सम्यग्ज्ञान मात्र ही एक मासिक पत्रिका है जो जैन पत्रकारिता के क्षेत्र मे एक यही मासिक है जो एक साध्वी द्वारा पूरी तरह से चारो

अनुयोगो के परिप्रेक्ष्य मे प्रकाशित होकर हजारो पाठको के लिए उनकी विभिन्न रुचियो का प्रतिनिधित्व करती है। इसके पठन-पाठन मे सैकड़ो परिवारो पर आश्चर्यकारी सातिशय प्रभाव पड़े है।

आशा है माँ श्री ज्ञानमती जी का यह साहित्य आगामी अनन्त पीढ़ियो का महान् उपकार करेगा और यह 'दिगम्बर मुनि' ग्रन्थ जीवो के लिए मोक्षपथ का साधन बनेगा।

जैनकीर्ति स्तम्भ रोड,
टीकमगढ
८-९-८०

विमलकुमार जैन सोरया
आ० रत्न, एम० ए०, शास्त्री,
प्रतिष्ठाचार्य

दिगम्बर जैन मुनि और हम

वर्तमान काल इतना सकटमय प्रतीत हो रहा है जैसे दिगम्बर जैन-धर्म पर आक्रमण हो रहा हो। जिसका जो मन चाहता उसी प्रकार दिगम्बर धर्म को लक्ष्य करके लिख डालता है। उसे यह प्रतीत नही होता कि इसमे कितने प्राणियो की हिंसा, वह अपनी लेखनी से, वचनो से, कार्यों से कर रहा है। सभी अपने को सिद्ध पुरुष मानकर चल रहे हैं। कोई अपने को सामान्यजन मानने को तैयार नही।

ऐसे समय मे दिगम्बर जैनधर्म, दिगम्बर जैन मूर्ति, दिगम्बर जैन शास्त्र और दिगम्बर जैन गुरु की भक्ति, उपासना पूजा आदि सभी मन-माने ढग से चला रहे हैं। असयम की शरण मे रात दिन लोगो को बुलाया जा रहा है। तन से, मन से, धन से तीनो प्रकार से, येन केन प्रकारेण आकर्षण किया जा रहा है।

कोई कहता व लिखता है कि दिगम्बर जैनधर्म श्वेताम्बर जैनधर्म से निकला है। कोई कहता है कि दिगम्बर जैनधर्म मे कुछ भी मौलिकता नही है। कोई लिखता है कि दिगम्बर जैन साहित्य वैदिक साहित्य, श्वेताम्बर जैन साहित्य और अन्य धर्मो से चुराकर बना है। इनके पास (दिगम्बरो के पास) अपनी मौलिक सम्पत्ति है ही नही। इनके साधु भी ढोगी हैं, भोगी है, आराम तलब है, मौज बहार के धनी है, ऐशो आराम के आदी है। इन्हे पखे चाहिए, चटाइया चाहिए, महल, भवन, मकान आधुनिक साज-सज्जा से युक्त चाहिए। अच्छे पटरे, अच्छी चटाइया, अच्छा भोजन आदि चाहिये। न जाने कितने प्रकार के ओछे हथकडो से यह दिगम्बर जैन गुरुओ की निन्दा मे अग्रसर है।

दिगम्बर जैन मन्दिरो से प्राचीन हस्तलिखित शास्त्रो का, मूर्तियो का अपहरण इन महान् विरोधियो के कारण रात दिन हो रहा है। मृगछाल ओढे यह भेडिये रात दिन दिगम्बर धर्म पर नाना प्रकार के लेविल लगा कर उस पर आक्रमण कर रहे है। मारीच की सतानें दीपायन के अनुगामी. आज खुलकर दिगम्बर कहते कहते उसकी जड़ को उखाड़ फेंकने की

कोशिश मे रात दिन लगे हैं। यह सत्य तथ्य छुपाये छुप नही पा रहा है।

कोई पूजन पद्धति मे सुधार चाहता है, कोई प्रतिष्ठा विधान की आवश्यकता नही समझता, कोई मन्दिरो का निर्माण नही चाहता, कोई प्राचीन आचार्यों के शास्त्रो मे पूर्ण सुधार चाहता है। कोई आचार्य समतभद्र, आचार्य रविषेण, आचार्य जिनसेन, आचार्य अकलंक देव आदि को काष्ठासघी घोषित कर रहा है तो कोई सोमदेव सूरि को वकील बताता है तो कोई वर्तमान मे भावलिगी मुनि है ही नही—सभी द्रव्यलिगी मुनि हैं। आज के युग मे मुनि हो नही सकते यह सब जो वर्तमान मे हैं यह तो घर के दुखिया है पेट भरने को हैं आदि कहकर द्रव्यलिगी घोषित करके धूम धाम से हर्षोत्सव मनाने मे व्यस्त है।

खुले आम बडे सिद्धान्ताचार्य "त्यागधर्मका शत्रु कौन है ?" शूद्र जल त्याग का नारा महान् भूल आचार्य शातिसागर जी महाराज ने की—आदि लिखकर सन्तुष्ट हो रहे है। शिथिलाचार के युग मे शिथिलाचार को वढावा देने का एक विधिवत् षड्यंत्र देश, समाज के सामने चल रहा है। जिस भयकर स्थिति मे देश चारित्रहीन होने जा रहा है या चारित्र हीन बनाया जा रहा है उसमे यह धर्मद्रोही, समाजद्रोही तत्त्व अपना उल्लू साधने मे लगे है। इनके साथ है वह कुछ महान् अर्थसम्पन्न पुरुष जो विधवा विवाह, अनाचार दुष्प्रवृत्तियो को वढावा देते है। जिनको अर्थ की गरिमा मे धर्म की गरिमा कुछ भी नही है।

दिगम्बर जैनधर्म पर कोई नया आक्रमण हुआ हो यह भी नही कहा जा सकता। इससे पहले भी भगवान् अजितनाथ स्वामी, भगवान् श्रेयासनाथ स्वामी, भगवान् अरहनाथ स्वामी, भगवान् नेमिनाथ स्वामी, भ० पार्श्वनाथ स्वामी और भगवान् महावीर स्वामी के समय मे भी आक्रमण हुए थे। घानियो मे, कडाहो मे, आरो से, तीरो से, तलवारो से दिगम्बर जैन मुनियो पर उपसर्ग हुए। फिर भी दिगम्बर जैनधर्म को समाप्त न कर सके। फिर यह क्या कर सकेंगे ?

प्रात. स्मरणीय चारित्रचक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य शान्तिसागर जी महाराज ने दक्षिण भारत से विहार करके सन् १९२५ ई० से जो दिगम्बरत्व की चमक दमक उत्तर भारत मे फैलाई उससे भयभीत होकर इन शिथिलाचारियो ने, वामपन्थियो ने एक गुट बना लिया और शनै शनैः चमक दमक को नष्ट करने मे लग गये। लेकिन वह अपने मिशन मे उनके जीवन काल तक अश मात्र भी सफल न हो सके।

पूज्य आचार्य श्री के सल्लेखनाव्रत ने, समाधिमरण ने भारत मे ही नही विश्व मे एक हलचल दिगम्बर धर्म की प्रगट कर दी। उनके पट्टाधीश परम पूज्य चारित्र शिरोमणि श्री १०८ आचार्य वीरसागर जी महाराज ने गुरु परम्परा को अखड रखा, उनके पट्टाधीश परम तपस्वी आत्म ध्यानी श्री १०८ आचार्य शिवसागर जी महाराज ने परम्परा पर कठोर नियत्रण किया। आज उनके पट्टाधीश चारित्र शिरोमणि परमशात स्वभावी परम दिगम्बर श्री १०८ आचार्य धर्मसागर जी महाराज अपनी परम्परा पर दृढता से कायम है। चारित्र चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य शातिसागर जी महाराज के शिष्यो मे परम तपस्वी चारित्र शिरोमणि आचार्य श्री १०८ मुनि नेमसागर जी महाराज, पूज्य श्री १०८ आचार्य पायसागर जी महाराज, पूज्य श्री १०८ आचार्य कुथुसागर जी महाराज, पूज्य आचार्य कल्प श्री १०८ मुनि चन्द्रसागर जी महाराज, पूज्य श्री १०८ आचार्य नमिसागर जी महाराज, पूज्य श्री १०८ आचार्य महावीरकीर्ति जी आदि ने दृढता से मुनि धर्म, दिगम्बर धर्म की रक्षा की। आज वर्तमान मे परम पूज्य चारित्रशिरोमणि आचार्यरत्न श्री १०८ आचार्य देशभूषण जी महाराज, श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज, श्री १०८ आचार्य सन्मतिसागर जी, श्री १०८ आचार्य सुमतिसागर जी, श्री १०८ आचार्य विद्यासागर जी महाराज, श्री १०८ आचार्य मुनि, विद्यानदजी (एलाचार्य) आदि परम्परा पर दृढ है। निंदक उनकी, उनके शिष्यो की निन्दा मे तन्मय है तो वह अपने कर्त्तव्य पालन मे तन्मय है।

जिनकल्पी मुनि तो आज हमारे मध्य हैं नही स्थविरकल्पी मुनि हमारे मध्य है। जिनमे कुछ-न-कुछ कमी मिलना सम्भव है फिर २८ मूलगुणो मे उनके दोष हो तो उसे गुरु के समीप व्यक्त करके दूर किया जा सकता है। आगम की आज्ञा प्रमाण वर्तमान साधु मुनि अपनी चर्या आदि करते है। हाँ, कुछ मुनि अवश्य शिथिलाचार का पालन कर रहे है जो दिगम्बर जैन साधुओ को उचित नही है। इसका यह अर्थ नही है कि दिगम्बर जैनधर्म मे मुनि, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिकायें और ब्रह्मचारी है हो नही। सभी मुनि भ्रष्ट है, सभी मुनि द्रव्यलिंगी है आदि।

हमारे सामने परमविदुषी आर्यिकारत्न न्याय प्रभाकर, सिद्धातवाचस्पति, विद्यावारिधि श्री १०५ आर्यिका ज्ञानमती माताजी द्वारा लिखित ४८ पुस्तको मे से 'दिगम्बर जैन मुनि, ग्रन्थ है इसे आदि से अन्त तक हम पढ जावें और विचारे कि **"हमारी मान्यता मे कहाँ-कहाँ कमी आई है"**

यदि इस ओर ध्यान शुद्ध मन से दिया तो हमारा हमारे समाज का परम हित होगा।

मेरा अभिप्राय रंचमात्र भी किसी की आत्मा को कष्ट पहुँचाना नहीं है और न किसी को अनर्थ पथ पर चलने देने की भावना है। आत्मशुद्धि सभी करें यही भावना है। शिथिलाचार श्रावकों में अधिक बढ़ रहा है इसे अवश्य दूर करना हमारा धर्म है।

दिगम्बरत्व के विरोधियों को सद्मार्ग मिले यही कामना है।

अनंतचतुर्दशी
बडौत (मेरठ)
२३-९-१९८० ई०

बाबूलाल जैन जमादार
महामंत्री अ० भा० दि० जैन शास्त्रि परिषद्
एवं
प्रचारमंत्री श्री दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान,
हस्तिनापुर (मेरठ)

सहायक ग्रंथों के नाम

१ मूलाचार
२. प्रवचनसार
३ पुरुषार्थसिद्धयुपाय
४ आदिपुराण भाग १
५. आदिपुराण भाग २
६. आचारसार
७ अनगारधर्मामृत
८ शब्दार्णव चद्रिका
९ धवला ९ पुस्तक
१०. क्रियाकलाप
११ मूलाराधना
१२ सागारधर्मामृत
१३ कषाय पाहुड (प्र० पु०)
१४ धवला प्र० पु०
१५ धवला ८ पु०
१६ वसुनन्दि श्रावकाचार
१७ प्रायश्चित्त चूलिका
१८ सर्वार्थसिद्धि
१९ मूलाचार प्रदीप
२० इष्ट छत्तीसी
२१ भावसग्रह
२२ चारित्रसार
२३ तत्त्वार्थवृत्ति
२४ राजवार्तिक
२५ प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी
२६. गोम्मटसार जीवकाड
२७ उपासकाध्ययन
२८ तिलोयपण्णत्ति २ भाग
२९. समयसार
३० नियमसार
३१ आत्मानुशासन
३२ रत्नकरडश्रावकाचार
३३ गोम्मटसार कर्मकाड
३४ हरिवश पुराण
३५. पद्मपुराण १, २, ३ भाग
३६ पचसग्रह
३७ धवला पु० २
३८. धवला पु० ५
३९ त्रिलोकसार
४० परमात्मप्रकाश
४१ धर्मध्यान दीपक
४२ ज्ञानार्णव
४३ श्रुतावतार
४४ भगवान् महावीर और उनकी आचार्य परपरा ४ भाग
४५ जैनधर्म का प्राचीन इतिहास भाग २
४६ भट्टारक सप्रदाय
४७ गुर्वावली (डायरी से)
४८ नीतिसार
४९ दर्शनसार
५० पाडवपुराण
५१ आराधना कथाकोष
५२ जम्बूस्वामी चरित्र
५३ श्रेणिक चरित्र
५४ पद्मनदि पचविशतिका
५५ धन्यकुमार चरित्र
५६. भद्रबाहु चरित्र
५७ कातत्ररूपमाला
५८. आचार्य कुदकुद और उनका समयसार (प० लालबहादुर शास्त्री)
५९ पचास्तिकाय
६० षट्प्राभृत
६१ पचामृताभिषेक पाठ सग्रह
६२ महावीरकीर्ति स्मृति ग्रथ
६३ श्री आचार्य देशभूषण जीवन चरित्र
६४ चारित्र चक्रवर्ती
६५. श्री वीरसागर चरित्र ■

ग्रंथमाला-परिचय

भगवान् महावीर स्वामी के पच्चीस सौवें निर्वाण महोत्सव के पुनीत अवसर पर स्थापित "दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध सस्थान" के अन्तर्गत ग्रन्थ प्रकाशन हेतु "वीर ज्ञानोदय ग्रथमाला" की स्थापना सन् १९७४ वीर नि० म० २५०० मे हुई है। ग्रथमाला का प्रथम पुष्प "अष्टसहस्री" (प्रथम भाग भाषानुवाद सहित) श्रीमान् सेठ हीरालालजी रानीवाला व्यावर के द्रव्य से प्रकाशित हुआ है।

अन्य ग्रंथो के प्रकाशन की सुवधा के लिये १००१) एक हजार एक रुपये प्रदान करने वाले इस ग्रन्थमाला के सदस्य मनोनीत किये जाते हैं। कई ग्रंथों का प्रकाशन कार्य चल रहा है। ग्रथमाला द्वारा प्रकाशित प्रत्येक ग्रंथ की एक-एक प्रति ग्रथमाला सदस्यो को भेंट स्वरूप प्राप्त होती रहेगी। इस पुनीत कार्य हेतु निम्नलिखित धर्मानुरागी बन्धुओ ने १००१) रुपये प्रदान करके ग्रथमाला मे सहयोग प्रदान किया है।

१ श्री छोटेलाल कैलाशचन्द जैन सर्राफ, टिकैतनगर (बाराबकी)
२. श्री फूसूशाह प्रद्युम्न कुमार जैन सर्राफ, टिकैतनगर (बाराबकी)
३. श्री अमोलकचंद फूलचन्द्र सा सर्राफ, सनावद (प० निमाड) म० प्र०
४. श्रीमती शातिदेवी जैन, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६
५ श्रीमती इलायची देवी जैन, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६
६ श्रीमती केतकी देवी ध० प० श्रीमान् श्रीपति जी जैन, अजमेर
७ श्री उमेशचन्द जी जैन, नजफगढ, नई दिल्ली
८ श्री मागीलालजी पहाडिया, हैदराबाद
९. श्री गिन्नीलालजी जैन, कलकत्ता
१० श्रीमती जीऊबाईजी जैन, हैदराबाद
११. श्री बालचद चन्द्रकुमार जैन, टिकैतनगर (बाराबकी) उ० प्र०
१२. श्री रामचन्दजी ठेकेदार, जयपुर (राजस्थान)
१३ श्री मूलचन्दजी राधेलालजी बाणवाले, जयपुर (राजस्थान)
१४. श्री लाला श्यामलालजी ठेकेदार, दिल्ली
१५. श्री बहादुर सिंह जौहरी, दरीबा, दिल्ली
१६ श्री सुन्दरलालजी जैन सरूरपुरवाले, गाधीनगर, दिल्ली
१७ श्रीमती मगनमाला देवी धर्मपत्नी डा० नरेन्द्रप्रसाद जी, दिल्ली
१८ श्री हीरालाल कमलचन्दजी (हाथरसवाले) गांधीनगर, दिल्ली
१९ श्री अजितप्रसादजी जैन (हाथरसवाले) दिल्ली

२०. श्रीमती मायावती ध० पं० रघुनाथप्रसाद जैन, गाँधीनगर, दिल्ली
२१ श्रीमती सुमित्रा देवी एवं महेन्द्रा देवी जैन, रूपनगर, दिल्ली
२२ श्री वैद्य विजयकुमार जैन, गांधीनगर, दिल्ली
२३ श्री सुखानन्द प्रेमचन्द जैन, पखरपुर (बहराइच) उ० प्र०
२४ श्री बीजालालजी रतनलाल जी जैन, मदनगज-किशनगढ (राज०)
२५. श्री लल्लूमल शीतलप्रसाद जैन सर्राफ, सदर बाजार, मेरठ
२६ श्री जितेन्द्रकुमार जैन, सर्राफ, सदर बाजार, मेरठ
२७ श्री रघुनाथ प्रसाद राजकुमार जैन, सदर बाजार, मेरठ
२८. श्रीमती कुसुमलता देवी ध० प० श्री महेशचन्द जी जैन, हस्तिनापुर
२९ श्री रोशनलाल जी जयपाल जी जैन, बिनौली (मेरठ)
३० श्रीमती कुसुमलता देवी ध० प० स्व० लाला श्री कल्याणसिंह जी जैन, शाहदरा, दिल्ली
३१ श्री जयचन्द राय जी जैन, जैन कॉलोनी, वीरनगर, दिल्ली
३२. श्री चिरजीलाल महावीर प्रसाद सेठी, सरिया (हजारीबाग) बिहार
३३. श्री जयचद जी लुहाड़े, हैदराबाद
३४ श्रीमती गुलाबबाई ध० प० सेठ मोतीलाल आर० मिंडा, उदयपुर
३५ श्री विपिनचन्द जी जैन, पहाडी धीरज, दिल्ली
३६ श्रीमती बृजमणीदेवी ध०प० राय देवेन्द्रप्रसाद जैन एडवोकेट गोरखपुर (यू० पी०)
३७ श्री स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी (हरियाणा)
३८. श्री कन्हैयालाल सीताराम पाटनी, कलकत्ता
३९ श्री मोहनलाल जी छाबड़ा, फर्म–दीपचद नन्दलाल जैन, (बाराबंकी) उ० प्र०
४० श्री इन्दौरीलाल गुलाबचद जी जैन, सनावद (मध्यप्रदेश)
४१ श्री सुरेशचन्दजी जैन, जूनियर इजीनियर, बाराबकी (उ० प्र०)
४२ श्री निर्मलकुमार जी सेठी, सीतापुर (उ० प्र०)
४३ श्री सुल्तानसिंहजी जैन, कनाड़ा
४४ जैन समाज मोरीगेट, दिल्ली, मार्फत श्रीमती शातिदेवी जी निकल्सन रोड, दिल्ली
४५ श्री सतवीर सिंहजी जैन, विशम्भर भवन, मोरीगेट, दिल्ली
४६ श्री रमेशचन्द जैन, (पी० एस० जैन मोटर्स) राजपुर रोड, दिल्ली
४७ श्रीमती ताजरानी जैन ध० प० श्री प्रेमचन्दजी जैन, गाजियाबाद
४८ श्रीमती सुधा जैन, तुगलकलेन, नयी दिल्ली
४९. श्री विमलचंद रखबचंद जैन, क्लाथ मर्चेंट, सनावद (म० प्र०)

५० श्री अमरचंद जैन, टिकैतनगर (बाराबकी) उ० प्र०
५१. श्री सुभाषचन्द जैन, टिकैतनगर (बाराबंकी) उ० प्र०
५२ श्री कमलकुमार जैन सुपुत्र श्री विमलप्रसाद जैन, मोरीगेट, दिल्ली
५३ श्री नरेन्द्रकुमार जैन, फर्म-जे० एम० जैना, मोरीगेट, दिल्ली
५४ श्री ज्ञानचंद चुन्नीलाल जैन, मडलोई महेश्वर (प० निमाड) म. प्र.
५५ श्री प्रेमचद सा प्यारचद सा जैन सर्राफ, वडवाह (प० निमाड़)
५६. श्री अजितप्रसाद जी जैन ठेकेदार, दरियागज, नई दिल्ली
५७ श्री राजेन्द्रप्रसादजी जैन (कम्मोजी) दरियागज, नई दिल्ली
५८ श्रीमती सूरजदेवी जैन वकीलपुरा, दिल्ली
५९ श्रीमती लाजवन्तीदेवी जैन ध० प० श्री मदनलालजी जैन, दरियागंज, नई दिल्ली
६० श्रीमती शकुन जैन ध० प० श्री सुभाषचद जैन, दरियागज, नई दिल्ली
६१ श्रीमती राजुलदेवी ध० प० श्री विक्रमसेन जी जैन, दरियागज, नई दिल्ली
६२ श्रीमती शकुन्तला देवी ध० प० श्री नदकिशोर जैन, दरियागंज, नई दिल्ली
६३ श्रीमती कौशल्या देवी ध० प० श्री भगतरामजी जैन, दरियागज, नई दिल्ली
६४ श्रीमती लीलावती व श्रीमती शांतिदेवीजी सुपारीवाले, बारादरी, दिल्ली
६५ श्री कन्हैयालालजी पन्नालालजी सेठी, कलकत्ता
६६ श्रीमती पानबाईजी ध० प० श्री मोतीचदजी जैन, वेदवाडा, दिल्ली
६७ कु० ऋतु जैन सुपुत्री श्रीमती सुधा गुप्ता १ तुगलकलेन, नई दिल्ली
६८ कु० सिंधु जैन सुपुत्री श्रीमती सुधा गुप्ता १ तुगलकलेन, नई दिल्ली
६९. श्रीमती राधारानी वाला ध० प० श्री गणेशीलालजी रानीवाला कोटा (राज०)
७०. श्रीमती पुष्पा जैन सुपुत्री श्री ओंकारनाथ जैन सी० 6-14/2 S D A New Delhi-110016
७१ श्री प्रकाशचदजी पाड्या 5 B बल्लभनगर कोटा (राज०)
७२ श्रीमती उर्मिलादेवी w/o श्री मनोरंजन जैन, पटना (विहार)
७३ श्री मन्नालालजी बाकलीवाल, इम्फाल (मणिपुर)
७४ श्री रतनलालजी विनायका, डीमापुर (नागालैण्ड)

विषयसूची

खण्ड : १ दिगम्बर मुनियों की समानचर्या

खण्ड : २ दिगम्बर मुनियों के भेद-प्रभेद

खण्ड : ३ पंचमकाल में दिगम्बर मुनि

•

प्रथम खण्ड

दिगम्बर मुनियों की
समानचर्या



ॐ नमः सिद्धेभ्य

वन्दना

सिद्धार्थस्यात्मज वंदे, सर्वसिद्धिप्रदायकम् ।
चतुर्विंशतितीर्थेशान्, त्रैकालिकाश्च तान स्तुवे ।।१।।

अर्हत्सिद्धाश्च सूरीश्चोपाध्यायाश्च मुनीन् सदा ।
रत्नत्रयधरान् वंदे, दिग्वाससः पुन पुन ।।२।।

वाणी जिनमुखोद्भूता, हृदि संस्थाप्य भक्तित ।
गणेशाश्च त्रिधा वंदे, सर्वविघ्नविनायकान् ।।३।।

दिगम्बरमुनेश्चर्या, प्राप्तुकामा स्वसिद्धये ।
वक्ष्ये शास्त्रानुसारेण, भवभ्रमणसूदनीम् ।।४।।

यावन्मुक्तिर्न मे भूयात्, तावच्चर्याविधि हृदि ।
भावयित्वा च याचेऽहं, सकलं चरणं मुदा ।।५।।

—आर्यिका ज्ञानमती

दिगम्बर मुनि

स्वातंत्र्य सुख साधन की ओर

सिद्धिकाता को प्राप्त करने के इच्छुक कोई एक दिगबर जैनाचार्य मुनियो की सभा मे विराजमान हैं। कोई एक भव्य जीव वहाँ आकर आचार्यवर्य को पुन पुन नमस्कार करके विनयपूर्वक उनके चरण सानिध्य मे बैठ जाता है और हाथ जोड कर प्रश्न करता है, कि हे भगवन्! आत्मा के लिए हितकर क्या है? आचार्य कहते है—आत्मा के लिए हितकर स्वतन्त्रता है।

वह स्वतन्त्रता क्या है? और कहाँ है?

कर्मों के बधन से पूर्णतया छूट जाना ही स्वतन्त्रता है जो कि मोक्ष मे ही होती है।

कर्मों से छूटने का क्या उपाय है?

ससार, शरीर और भोगो से ममत्व छोडकर रत्नत्रय की साधना मे लग जाना ही कर्मों से छूटने का अथवा मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है।

यदि ऐसी बात है तो हे गुरुदेव! अब मै इन कर्मो के बधन से छूटना चाहता हूँ अत अब मै अपने आपको आपके श्री चरणो मे समर्पित करता हूँ। आप मुझे रत्नत्रय का दान दीजिये।

उस समय आचार्य महाराज उस भव्य से कहते है कि यदि तुम सपूर्ण दु खो से मुक्त होना चाहते हो तो यतिधर्म को स्वीकार करो[1]। जब वह तैयार हो जाता है तब आचार्य कहते हैं कि हे वत्स! घर जाकर अपने कुटुबी वर्गो से गृहत्याग की आज्ञा लेकर आ जावो और पुन जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करो। चूँकि जैन सिद्धान्त मे मुनियो के लिए सबसे पहले किसी भी भव्यजीव को मुनिधर्म का उपदेश देने का ही विधान है।

---

१ "पडिवज्जदू सामण्ण जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्ख ॥"

—प्रवचनसार, पृ० ४८५।

यथा—"जो अल्पमति साधु यतिधर्म का उपदेश न करते हुए गृहस्थ धर्म का उपदेश दे देता है उसको भगवान् अर्हंतदेव के आगम मे प्रायश्चित्त का भागी बतलाया है[1] ।"

इस नियम के अनुसार वे त्यागमार्ग का ही उपदेश देते है। पुन वह भव्यजीव अपने कुटुबियो के समक्ष निवेदन करता है कि हे मेरे शरीर के आश्रित माता-पिता-बधु अथवा पुत्रजनो ! सुनो, इस ससार मे परिभ्रमण करते हुए मुझे अनतकाल व्यतीत हो चुका है। अभी तक मैने ससार मे भ्रमण कराने के लिए कारणभूत ऐसे कर्मो के नाश का प्रयत्न नही किया है। अब मैं श्रीगुरुदेव के हस्तावलंबन से इस ससार समुद्र को पार करना चाहता हूँ। इसलिए अब मैं आप सभी लोगो से सम्बन्ध तोडकर धनधान्य आदि परिग्रह का त्याग कर सच्चे आत्मिक स्वतत्र सुख को प्राप्त करने के लिए दिगबर अवस्था धारण करना चाहता हूँ। सो आप लोग खुशी से मुझे आज्ञा दीजिये। भगवान् श्री कुदकुददेव भी कहते हैं—

"श्रमण होने का इच्छुक वह भव्य बंधु वर्गो से पूछ कर गुरु-माता-पिता आदि तथा स्त्री और पुत्रो से छोडा गया वह दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाच आचारो को प्राप्त कर लेता है[2] ।" वह विरक्तमना श्रावक इस प्रकार पूछता है कि—

"अहो ! इस पुरुष के शरीर के जनक-पिता के आत्मा ! अहो इस पुरुष के शरीर की जननी माता के आत्मा ! इस पुरुष का मेरा आत्मा तुम्हारे द्वारा जनित—उत्पन्न नही हुआ है, ऐसा तुम निश्चय से जानो। इसलिए तुम इस आत्मा को छोड़ो। जिसे ज्ञानज्योति प्रकट हुई है ऐसा यह मेरा आत्मा आज आत्मारूपी अपने अनादिजनक और जननी के पास जा रहा है।[3]" अर्थात् यह सम्यग्दृष्टि विरक्त आत्मा अपने कुटुबी-

---

१. यो यतिधर्ममकथयन् उपदिशति गृहस्थ धर्ममल्पमति ।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शित निग्रहस्थानम् ॥
श्री अमृतचद्रसूरि—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक ।

२ आपिच्छ बधुवग्ग विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं ।
आसिज्ज णाणदसणचरित्ततववीरियायार ॥२०२॥ —प्रवचनसार ।

३ "अहो इद जनशरीरजनकस्यात्मन्, अहो इद जनशरीरजनन्या आत्मन्, अस्य जनस्यात्मा न युवाभ्या जनितो भवतीति निश्चयेन युवा जानीत तत इममात्मान युवा विमुञ्चत, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योति आत्मानमेवात्मनोऽनादिजनकमुपसर्पति ।" —टीका श्री अमृतचद्रसूरि, पृ ४९१ ।

वर्ग माता-पिता आदि को कहता है कि हे मेरे शरीर सबधी आत्मन् ! तुमने मेरी आत्मा को जन्म नही दिया है अथवा अपने पुत्रो से कहता है कि हे मेरे शरीर सबधी पुत्रो के आत्मन् ! मैंने तुमको जन्म नही दिया है। माता-पिता के द्वारा तो केवल इस आत्मा के सबधी शरीर का ही जन्म होता है इसलिए अब तुम लोग मुझे छोडो—मेरे से ममता का त्याग करो। मै अब अनादिकालीन अपनी ही आत्मा का आश्रय लेना चाहता हूँ। इत्यादि प्रकार से बधु वर्गो को समझाकर और उनकी आज्ञा लेकर दीक्षा के सन्मुख होता है।

भगवान् तीर्थंकर भी बधु वर्गो से आज्ञा लेते है। यथा—

"तदनतर अविनाशी भगवान् महाराज नाभिराज आदि परिवार के लोगो से पूछकर इन्द्र के द्वारा बनाई हुई सुन्दर सुदर्शना नामक पालकी पर बैठे।"

यदि कदाचित् मोही या अज्ञानी जीव आज्ञा नही देते है और दीक्षार्थी का मन सुदृढ है तो वह बिना आज्ञा के भी दीक्षा ले लेता है। जैसे कि सुकुमाल सुकौशल आदि श्रावको ने बिना पूछे ही मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली थी।

वर्तमान मे भी दोनो मार्ग प्रचलित है—बहुत से श्रावक आज्ञा लेकर दीक्षित होते हैं और बहुत से श्रावक दृढमना होने से आज्ञा न मिलने पर भी दीक्षित हुए है। ०

---

१ सुरेन्द्रनिर्मिता दिव्या शिबिका च सुदर्शनाम्।
सनाभीन् नाभिराजादीनापृच्छयारूक्षदक्षर ॥९३॥
—आदिपुराण, पर्व १६, पृ० ३८१।

१. दीक्षा

जो श्रमण है, गुणो से परिपूर्ण है, कुल, रूप तथा वय से विशिष्ट है, और अन्य श्रमणो—मुनियो को अतिइष्ट हैं ऐसे आचार्य को 'हे भगवन्! मुझे स्वीकार करो' ऐसा कहकर प्रणाम करता है और आचार्य के द्वारा अनुगृहीत किया जाता है। पुन वह "मै किंचित् मात्र भी पर का नही हूँ, पर भी किंचित् मात्र मेरे नही है। इस लोक मे आत्मा के सिवाय अन्य कुछ भी मेरा नही है इस प्रकार निश्चय करके जितेन्द्रिय होता हुआ 'यथाजात' रूपधारी हो जाता है।

जन्मसमय के जैसा रूपवाला, शिर और दाढी मूँछ के केशो का लोच किया हुआ, परिग्रहरहित, हिंसादि से रहित और प्रतिकर्म—शरीर शृङ्गारादि से रहित ऐसा लिंग यतिधर्म का बहिरग चिह्न है। मूर्च्छा और आरभरहित, उपयोग और योग की शुद्धि से युक्त तथा पर की अपेक्षा से रहित ऐसा जिनेन्द्रदेव का लिंग श्रमणअवस्था का अतरग लिग है जो कि अपुनर्भव-मोक्ष का कारण है। तत्पश्चात् परमगुरु के द्वारा प्रदत्त उन दोनो लिंगो को ग्रहण करके उन्हे नमस्कार करके व्रतसहित क्रिया को सुनकर प्रतिक्रमण आदि के द्वारा उपस्थित होता हुआ वह श्रमण होता है।

व्रत, समिति, इन्द्रियरोध, लोच, आवश्यक, अचेलत्व, अस्नान, भूमिशयन, अदतधावन, स्थितिभोजन और एकभक्त—श्रमणो के इन अट्ठाईस मूलगुणो को जिनेन्द्रदेव ने कहा है। उनमे प्रमत्त होता हुआ श्रमण छेदोपस्थापक होता है। अर्थात् इन भेदरूप मूलगुणो मे अपने को स्थापित करता हुआ—मूलगुणो मे भेदरूप से आचरण करता हुआ छेदोपस्थापक कहलाता है[२]।"

---

१ अथवा छेदेन व्रतभेदेनोपस्थापन छेदोपस्थापन—टीका।

२ समण गणि गुणड्ढ कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदर।
समणेहिं त पि पणदो पडिच्छ म चेदि अणुगहिदो ॥२०३॥
णाह होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।
इदि णिच्छिदो जिणिदो जादो जघजादरूवधरो ॥२०४॥

इस प्रकार से आध्यात्मिक ग्रन्थ प्रवचनसार मे भी चरणानुयोग चूलिका मे भगवान् श्री कुन्दकुन्ददेव ने दीक्षा का क्रम बताया है। अब आचारसार आदि ग्रन्थो मे दीक्षा के योग्य पात्र का वर्णन जैसा बताया है वैसा यहाँ कहते है।

"जो आचार्य लोकव्यवहार की सब बातो को जानने वाले है, मोह-रहित और बुद्धिमान् हैं उनको सबसे पहले यह मालूम कर लेना चाहिए कि यह देश अच्छा है या नही ? दीक्षा देने योग्य है या नही ? मुनियो के लिए निर्वाह योग्य है या नही ? दीक्षार्थी पुरुष ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णो मे से किस वर्ण का है ? अथवा पतित या बहिष्कृत तो नही है ? उसके सब अंग पूर्ण है या नही ? यदि अपूर्ण हो तो दीक्षा का पात्र नहीं है। वह राज्य अथवा लोक के विरुद्ध तो नही है ? इसने कुटुम्ब और परिवार जनो से आज्ञा ले ली है या नही ? इसका घर आदि सम्बन्धी मोह नष्ट हो गया है या नही ? यह अपस्मार—मृगी आदि रोग से सहित तो नही है इत्यादि बातो को उसी के जाति तथा कुटुब के लोगो से पूछ कर निर्णय कर लेते है[1]।"

श्रीमद्भगवज्जिनसेनाचार्य भी कहते है कि—

कुल और जाति इन दोनो की विशुद्धि को सज्जाति कहते है, इस सज्जाति के प्राप्त होने पर सहज ही प्राप्त हुए गुणो से रत्नत्रय की प्राप्ति

जधजादरूवजाद उप्पाडिदकेसमसुग सुद्ध।
रहिद हिंसादीदो अप्पडिकम्म हवदि लिंग ॥२०५॥
मुच्छारभविजुत्त जुत्त उवजोगजोगसुद्धीहिं।
लिंग ण परावेक्ख अपुणब्भवकारण जेण्ह ॥२०६॥
आदाय त पि लिंग गुरुणा परमेण त णमसित्ता।
सोच्चा सवद किरिय उवट्ठिदो होदि सो समणो ॥२०७॥
वदसमिदिंदियरोधो लोचो आवासयमचेलमण्हाण।
खिदिसयणमदतवण ठिदिभोयणमेगभत्त च ॥२०८॥
एदे खलु मूलगुणा समणाण जिणवरेहिं पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥२०९॥ —प्रवचनसार

१ प्राज्ञेन ज्ञातलोकव्यवहृतिमतिना तेन मोहोज्झितेन।
प्राग्विज्ञात सुदेहो द्विजनृपतिवणिग्वर्णवर्योङ्गपूर्ण ॥
भूभृल्लोकाविरुद्ध स्वजनपरिजनोन्मोचितो वीतमोह—
श्चित्रापस्माररोगाद्यपगत इति च ज्ञातिसकीर्तनाद्यैं ॥११॥ —आचारसार

सुलभ हो जाती है। यह सज्जाति उत्तम शरीर के जन्म से ही वर्णन की गई है क्योकि पुरुषो के समस्त इष्ट पदार्थो की सिद्धि का मूल कारण यही एक सज्जाति है[१]।

निष्कर्ष यह निकला कि उपर्युक्त गुणो से युक्त भव्य जीव ही जैनेश्वरी दीक्षा के लिए पात्र होता है। तब आचार्यदेव उसकी दीक्षा के लिए शुभ मुहूर्त का निर्णय करके सघ को और जनता को सूचित कर देते है। कहा भी है—"मुमुक्षु पुरुष को शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभयोग, शुभ लग्न और शुभ ग्रहो के अश मे निर्ग्रंथ आचार्य के पास जाकर दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए[२]।"

"दीक्षा के पूर्व दिन भोजन के समय वह दीक्षार्थी गुरु के पास विधिवत् पात्र मे भोजन करने का त्याग करके करपात्र मे भोजन ग्रहण करके जिनमन्दिर मे आता है पुन दीक्षा के दिन उपवास ग्रहण करने के लिए "बृहत्प्रत्याख्यानप्रतिष्ठापन" क्रिया मे सिद्धभक्ति और योगभक्ति पढकर गुरु के पास उपवास सहित प्रत्याख्यान ग्रहण करके—आचार्य भक्ति, शाति भक्ति और समाधि भक्ति पढकर गुरु को नमस्कार करता है।

पुन दीक्षादाता—दीक्षा दिलानेवाले श्रावक उस दीक्षार्थी से शातिविधान, गणधर वलयविधान या चारित्रशुद्धि विधान आदि कोई विधान कराते है। यदि विधान का कार्यक्रम बडा है तो कई दिन पूर्व से ही विधान प्रारम्भ कर देते है। यदि दीक्षार्थी स्वय सपन्न है तो वह अपने द्रव्य से ही विधान आदि कार्य करता है। अनतर दीक्षादाता श्रावक उस दीक्षार्थी को दीक्षा के दिवस मगल स्नान कराकर यथायोग्य वस्त्र

---

१ विशुद्धिरुभयास्यस्य सज्जातिरनुवर्णिता।
यत्प्राप्तौ सुलभा बोधिरयत्नोपनतैर्गुणै ॥८६॥
शरीरजन्मना सैषा सज्जातिरुपवर्णिता।
एतन्मूला यत सर्वा पुसामिष्टार्थसिद्धय ॥८८॥
—आदिपुराणपर्व ३९, पृ २७७।

२ प्रशस्तशुभनक्षत्रयोगलग्नग्रहाशके। निर्ग्रन्थाचार्यमाश्रित्य दीक्षा ग्राह्या मुमुक्षुणा ॥१५७॥ —आदि पु पर्व ३९, पृ २८३।

३ "पूर्वदिने भोजनसमये भाजनतिरस्कारविधि विधाय आहार गृहीत्वा चैत्यालये आगच्छत्।" ततो ॰।
—बृहद्दीक्षाविधि, क्रियाकलाप पुस्तक, पृ ३३३।

अलंकार आदि से युक्त कर महामहोत्सव (बाजे-गाजे) के साथ उसे जिन-मंदिर मे लाते हैं। वह दीक्षार्थी देव शास्त्र और गुरु की पूजा करके वैराग्य भावना मे तत्पर होता हुआ सभी से क्षमा याचना करके गुरु के पास बैठ जाता है।

वहा पर दीक्षाविधि कराने वाले विद्वान् के कहे अनुसार पहले से ही सौभाग्यवती स्त्रियां पाटे पर धुले चावल फैलाकर उसपर पीले चावलो से स्वस्तिक बनाती हैं और उसके ऊपर श्वेतवस्त्र ढक देती हैं। दीक्षार्थी विनय से खड़ा होकर और हाथ मे श्रीफल लेकर सघ के समक्ष गुरुदेव से दीक्षा की याचना करता है कि हे भगवन्! मुझे ससार समुद्र से पार करने वाली ऐसी जैनेश्वरी दीक्षा प्रदान करके मुझ पर अनुग्रह कीजिये। उस समय गुरुदेव उसकी प्रार्थना स्वीकार करके उसे उस स्वस्तिक के आसन पर बैठने की आज्ञा देते हैं। वह शिष्य पूर्व दिशा मे मुख करके पर्यकासन से उसपर बैठ जाता है और गुरु भी वही पर पास मे उत्तरमुख करके बैठ जाते हैं पुनरपि सभी सघ को पूछकर सबने पहले दीक्षार्थी का लोच शुरू करते हैं।

उस समय आचार्यदेव उस शिष्य के मस्तक पर मन्त्रोच्चारण पूर्वक गधोदक लगाते हैं। पुन वर्धमान मंत्र के द्वारा पीले अक्षत आदि निक्षेपित करके भस्म (राख) लगाकर विधिवत् मत्रपूर्वक केशलोच विधि करते है। "वह शिष्य यदि केशलोच करने मे कुशल है तो स्वय अपने हाथ से केशलोच करता है। अन्यथा अन्य साधु उसका केशलोच पूरा करते है[1]।" पुन वह गुरुभक्ति करके गुरु की आज्ञा से अपने वस्त्र, आभूषण, यज्ञोपवीत आदि का त्याग करके उसी आसन पर बैठकर दीक्षा की याचना करता है। आचार्यदेव उसके मस्तक पर 'श्रीकार' लिखकर विधिवत् अट्ठाईस मूलगुण रूप व्रत प्रदान करते हैं।

लवग पुष्पो से सोलह सस्कारो को मस्तक पर आरोपित करके संयम का उपकरण पिच्छी, ज्ञान का उपकरण शास्त्र और शौच का उपकरण कमडलु देते हैं। इस प्रकार से विधिवत् दीक्षाविधि समाप्त होने पर वह शिष्य दिगबर मुनि बन जाता है और सारे विश्व मे पूज्य हो जाता है। ■

---

१. "स्वहस्तेन परहस्तेनापि वा लोच कार्य" —बृहद्दीक्षाविधि

२. मुनिचर्या

मूलगुण—मुनियो के प्रधान आचरण को मूलगुण कहते हैं। 'मूल' शब्द के अनेक अर्थ होते है फिर भी यहाँ मूल का प्रधान—मुख्य ऐसा अर्थ लिया गया है। 'गुण' शब्द के भी अनेक अर्थ हैं फिर भी यहा 'आचरण विशेष' ऐसा अर्थ लिया है। ये मूलगुण इस लोक और परलोक मे हित करने वाले हैं। इस लोक मे सर्वजनमान्यता गुरुपना और सभी जनो के साथ मैत्रीभाव आदि गुण होते है और परलोक मे देवो का ऐश्वर्य, तीर्थंकरपद चक्रवर्तिपद आदि प्राप्त होते हैं और परपरा से यह आत्मा सपूर्ण कर्मो से छूट जाता है। इन मूलगुणो के बिना आजतक किसी को शुक्लध्यान की सिद्धि नही हुई हैं और शुक्लध्यान के बिना मोक्ष की प्राप्ति भी नही होती है। तात्पर्य यह है कि ये मूलगुण वृक्ष की मूल—जड़ या बीज के समान ही मोक्ष के लिए मूलकारण है। और तीर्थंकरो द्वारा उपदिष्ट होने से प्रामाणिक हैं।

मूलगुण अट्ठाईस है—पाच महाव्रत, पाच समिति, पाच इद्रिय निरोध, षट् आवश्यक तथा लोच, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदतधावन, स्थितिभोजन और एकभक्त।

मुख्यव्रतो को महाव्रत कहते है। 'महान् शब्द का अर्थ प्रधान है। और व्रत शब्द, सावद्यनिवृत्तिरूप मोक्ष प्राप्ति के लिए निमित्तभूत आचरण मे आता है अर्थात् मोक्ष के लिए जो हिंसादि पापो का त्याग किया जाता है उसे ही व्रत कहते है। तीर्थंकर आदि महान् पुरुषो के द्वारा इनका अनुष्ठान किया जाता है। इसलिए भी इन्हे[1] महाव्रत कहते है।" अथवा महान् पुरुषार्थ जो मोक्ष उसकी प्राप्ति मे ये स्वत. ही हेतु होते है इसलिये महाव्रत कहलाते है।

१ अहिंसामहाव्रत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस इन षट्कायिक जीवो की हिंसा का मन वचन काय से पूर्णतया त्याग कर देना अहिंसा महाव्रत है। इस महाव्रत मे सपूर्ण आरभ और परिग्रह का त्याग हो जाता है।

---

१ महान् शब्दो महत्त्वे प्राधान्ये वर्तते व्रतशब्दोऽपि सावद्यनिवृत्तौ मोक्षवाप्ति-निमित्ताचरणे वर्तते। "महद्भिरनुष्ठितत्वात्" —मूलाचार टीका, पृ० ५।

२ **सत्यमहाव्रत**—राग, द्वेष, मोह, क्रोध आदि दोषो से युक्त असत्य वचनो का त्याग कर देना और ऐसा सत्य भी नही बोलना कि जिससे प्राणियो का घात हो जावे, वह सत्यमहाव्रत है।

३ **अचौर्यमहाव्रत**—ग्राम, शहर आदि मे किसी की भूली, रखी या गिरी हुई वस्तु को स्वय नही लेना, दूसरो के[1] द्वारा सग्रहीत शिष्य, पुस्तक आदि को भी न लेना तथा दूसरो के द्वारा बिना दी गई ऐसी योग्य वस्तु को भी नही लेना सो अचौर्यमहाव्रत है।

४ **ब्रह्मचर्य महाव्रत**—राग भाव को छोड कर पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना। बालिका, युवती और वृद्धा मे पुत्री, बहन और माता के समान भाव रखना यह त्रैलोक्य पूज्य ब्रह्मचर्य व्रत है।

५ **परिग्रहत्याग महाव्रत**—धन, धान्य आदि दस प्रकार के बहिरग तथा मिथ्यात्व, वेद आदि चतुर्दश प्रकार के अतरग परिग्रह का त्याग कर देना, वस्त्राभूषण अलकार आदि का पूर्णतया त्याग कर देना, लगोटी मात्र भी नही रखना सो अपरिग्रहमहाव्रत है।

आगम के कहे अनुसार गमनागमन, भाषण आदि मे सं-सम्यक् इति-प्रवृत्ति करना समिति है। ये समितिया व्रतो की रक्षा करने मे वृत्ति-बाड के समान है। इनके भी पाच भेद है—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग।

६ **ईर्या समिति**—निर्जंतुकमार्ग से सूर्योदय के प्रकाश मे चार हाथ आगे जमीन देखकर एकाग्रचित्त पूर्वक तीर्थयात्रा, गुरुवदना आदि धर्म कार्यो के लिये गमन करना ईर्या समिति है।

७ **भाषासमिति**—चुगली, हसी, कर्कस, परनिंदा आदि से रहित हित मित और असदिग्ध वचन बोलना भाषासमिति है।

८ **एषणा समिति**—छयालीस दोष और बत्तीस अतराय से रहित नवकोटि से शुद्ध श्रावक के द्वारा दिया गया ऐसा प्रासुक, निर्दोष, पवित्र आहार लना एषणासमिति है।

९ **आदाननिक्षेपणसमिति**—पुस्तक, कमडलु आदि को रखते या उठाते समय कोमल मयूर पिच्छिका से परिमार्जन करके रखना उठाना,

---

१ "सगृहीतानि चात्मवशीकृतानि च क्षेत्रवास्तुधनधान्यपुस्तकोपकरणच्छात्रादीनि तेषा सर्वेषा नादान न ग्रहण आत्मीयकरणविसर्जन।"

—मूलाचार टीका पृ० १२।

तृण, घास चटाई, पाटे आदि को भी सावधानी से देखकर पिच्छिका से परिमार्जन करके ग्रहण करना या रखना भी आदाननिक्षेपणसमिति है।

१० उत्सर्गसमिति—हरी घास से रहित, चिवटी आदि से या उनके विलो से रहित प्रासुक और एकात स्थान मे मलमूत्रादि विसर्जन करना यह उत्सर्ग या प्रतिष्ठापनसमिति है।

स्पर्शन, रसना आदि पाचों इद्रियो को वश मे रखना, इनको शुभ-ध्यान मे लगा देना पचेंद्रिय निरोध होता है। इसके भी पाचो इद्रियो की अपेक्षा पाच भेद हो जाते है।

११ स्पर्शनइद्रिय निरोध—सुखदायक, कोमल स्पर्शादि मे या कठोर ककरीली भूमि आदि के स्पर्श मे आनद या खेद नही करना।

१२ रसनेन्द्रिय निरोध—सरस, मधुर भोजन मे या नीरस, शुष्क भोजन मे हर्ष-विषाद नही करना।

१३ घ्राणेन्द्रिय निरोध—सुगन्धित पदार्थ मे या दुर्गंधित वस्तु मे राग-द्वेष नही करना।

१४ चक्षु इन्द्रिय निरोध—स्त्रियो के सुन्दररूप या विकृत वेष आदि मे रागभाव और द्वेषभाव नही करना।

१५ कर्णेन्द्रिय निरोध—सुन्दर-सुन्दर गीत, वाद्य तथा असुन्दर-निंदा गाली आदि के वचनो मे हर्ष विषाद नही करना। यदि कोई मधुर गीतो से गान करता हो तो उसे रागभाव से नही सुनना।

जो अवश–जितेन्द्रिय मुनि का कर्तव्य है वह आवश्यक कहलाता है। उसके छह भेद है—समता, स्तुति, वदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग।

१६ समता—"जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुख आदि मे हर्ष विषाद नही करना, समान भाव रखना समता है। इसे ही सामायिक कहते है। त्रिकाल मे देववदना करना यह भी सामायिकव्रत है।[1]" प्रात मध्याह्न और सायकाल मे विधिवत् कम से कम एक मुहूर्त–४८ मिनट तक सामायिक करना होता है।

१७ स्तुति—वृषभ आदि चौबीस तीर्थंकरो की स्तुति करना स्तव नाम का आवश्यक है।

---

१ जीवितमरणलाभालाभसयोगविप्रयोगबन्धुवरिसुखदु खादिषु तदेतत्समत्व समानपरिणाम त्रिकालदेववदनाकरण च तत्सामायिक व्रत भवतीत्यर्थ।"
—मूलाचार टीका, पृ० २९।

१८ वदना—अर्हंतो को, सिद्धो को, उनकी प्रतिमाओ को, जिन-वाणी को और गुरुओ को कृतिकर्म पूर्वक नमस्कार करना वदना है।

१९ प्रतिक्रमण—अहिंसादि व्रतो मे जो अतीचार आदि दोष उत्पन्न होते हैं, उनको निंदा-गर्हापूर्वक शोधन करना—दूर करना प्रतिक्रमण है। इसके ऐर्यापथिक, दैवसिक आदि सात भेद है।

२० प्रत्याख्यान—मन, वचन, काय से भविष्य के दोषो का त्याग करना प्रत्याख्यान है। आहार ग्रहण के अनतर गुरु के पास अगले दिन आहार ग्रहण करने तक के लिये जो चतुराहार का त्याग किया जाता है वह प्रत्याख्यान कहलाता है।

"अतीतकाल के दोष का निराकरण करना प्रतिक्रमण है। अनागत और वर्तमान काल मे द्रव्यादि दोष का परिहार करना प्रत्याख्यान है। यही इन दोनो मे अतर है। तप के लिये निर्दोष वस्तु का त्याग करना भी प्रत्याख्यान है। किन्तु प्रतिक्रमण दोषो के निराकरण हेतु ही है[1]।"

२१ कायोत्सर्ग—दैवसिक, रात्रि आदि क्रियाओ मे पच्चीस या सत्ताईस उच्छ्वास प्रमाण से तथा चौवन, एक सौ आठ आदि श्वासोच्छ्-वास पूर्वक णमोकार मत्र का स्मरण करना। काय-शरीर का उत्सर्ग—त्याग अर्थात् काय से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है।

२२ लोच—हाथो से अपने शिर, दाढी और मूछ के बाल उखाड़ना केशलोच मूलगुण है।

२३ अचेलकत्व—सूती, रेशमी आदि वस्त्र, पत्र, वल्कल आदि का त्याग कर देना, नग्न वेष धारण करना अचेलकत्व है। यह जितेन्द्रिय महान् पुरुषो के द्वारा ही स्वीकार किया जाने से तीनो जगत् मे वदनीय महान् पद है। वस्त्रो के ग्रहण करने से परिग्रह, आरभ, धोना, सुखाना, और याचना करना आदि दोष होते है, अत निष्परिग्रही साधु के यह व्रत होता है।

२४ अस्नानव्रत—स्नान, उबटन आदि का त्याग करना अस्नानव्रत है। धूलि से धूसरित, मलिन शरीरधारी मुनि कर्ममल को धो डालते है।

---

१ "अतीतकालदोषनिर्हरण प्रतिक्रमण। अनागते वर्तमाने च काले द्रव्यादि-दोषपरिहरण प्रत्याख्यानमनयोर्भेद। तपोऽर्थं निरवद्यस्यापि द्रव्यादे परि-त्याग. प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण पुनर्दोषाणा निर्हरणायैवेति।"

—मूलाचार, टीका पृ० ३५।

चाडाल आदि अस्पृश्य जन का अथवा विष्ठा, हड्डी, चर्म आदि का स्पर्श हो जाने से मुनि दडस्नान करके गुरु से प्रायश्चित्त भी ग्रहण करते हैं।

२५ **क्षितिशयन**—निर्जंतुक भूमि मे घास, पाटा अथवा चटाई पर शयन करना भूमि शयन व्रत है। ध्यान, स्वाध्याय आदि से या गमनागमन से थककर स्वल्प निद्रा लेना होता है।

२६ **अदंतधावन**—नीम की लकड़ी आदि से दत मजन नही करना अदतधावन व्रत है। दातो को नही घिसने से इन्द्रिय सयम होता है, शरीर से विरागता प्रगट होती है और सर्वज्ञदेव की आज्ञा का पालन होता है।

२७ **स्थितिभोजन**—पावो को चार अगुल अन्तराल से रखकर एक स्थान मे खड़े होकर दोनो हाथो की अजुली बनाकर श्रावक के द्वारा दिया हुआ आहार ग्रहण करना स्थितिभोजन व्रत है।

२८ **एकभक्त**—एक वेला मे आहार लेना—सूर्योदय के अनन्तर तीन घडी के बाद और सूर्यास्त के तीन घडी पहले तक दिन मे सामायिक काल को छोडकर एक बार आहार ग्रहण करना एकभक्त है[1]।

इस प्रकार दिगम्बर जैन साधु इन मूलगुणो का पालन करते हुए इस जगत् मे सर्वत्र पूज्य होते है और क्रम से मोक्ष को प्राप्त करने वाले होते है।

करण और चरण

पच महाव्रत, पच समिति और तीन गुप्ति (मन, वचन, काय को शुभ-अशुभ प्रवृत्ति से रोकना अथवा अशुभ प्रवृत्ति से रोकना भी गुप्ति है।) इन तेरह को तेरह प्रकार का चारित्र या चरण कहते हैं।

पच परमेष्ठी को नमस्कार, षट् आवश्यक क्रिया और असही तथा निसही इनको तेरह क्रिया या करण भी कहते है।

साधु इन तेरह प्रकार के चरण और करण मे कुशल रहते है।

---

१ आजकल प्राय नौ वजे से ग्यारह वजे तक साधु आहार को जाते हैं। कदाचित् एक वजे से भी जा सकते हैं। दिन मे एक वार ही आहार के लिये निकलना चाहिये। कदाचित् लाभ न मिलने पर उस दिन पुन दूसरी वार आहार के लिये नही जाना चाहिये।

दिगम्बर मुनि के बाह्य चिह्न

आचेलक्य, लोच, शरीर सस्कार हीनता और मयूरपिच्छिका मुनियो के ये चार चिह्न माने हैं[1] ।"

आचेलक्य—चेल-वस्त्रादि परिग्रह का त्याग करना । यहाँ चेल शब्द उपलक्षण मात्र है अत वस्त्र के साथ, खेत, घर, धन, धान्यादि सम्पूर्ण परिग्रहो का त्याग करना विवक्षित है । यह नग्नता ही निर्ग्रंथता है और यह उत्सर्ग लिंग है ।

निर्ग्रंथ अवस्था धारण किये विना मुक्ति असम्भव है । वस्त्र, चर्म, वल्कल, पत्ते आदि से शरीर को नही ढकना, भूषण आभरण आदि धारण नही करना ही अचेलकता है । यह अचेलकत्व व्रत जगत् मे पूज्य है और अट्ठाईस मूलगुणो मे एक मूलगुण है ।

लोच—स्नान और केशो का सस्कार आदि न करने से उसमे जूँ आदि उत्पन्न हो सकते हैं । इसीलिये अपने हाथ से मस्तक, दाढी और मूँछ के केशो को उखाडना केशलोच है । यह प्रदक्षिणावर्त[2] रूप से अर्थात् दाहिने बाजू से आरम्भ कर बायें तरफ आवर्त से किया जाता है । "दो मास के अनन्तर अथवा पूरे दो मास होने पर लोच करना उत्कृष्ट है । तीन मास के बीत जाने पर अथवा पूरे नही भी होने पर अथवा पूरे तीन मास होने पर केशलोच करना मध्यम है । चार मास पूर्ण होने पर अथवा अपूर्ण रहने पर लोच करना जघन्य है किन्तु चार महीने के ऊपर नही होना चाहिये[3] ।"

उपवास पूर्वक ही लोच करना होता है । पाक्षिक, चातुर्मासिक आदि प्रतिकमण के दिन ही लोच करना चाहिये अथवा बिना प्रतिक्रमण के दिन भी लोच किया जा सकता है । 'पुन. लोच करके प्रतिक्रमण

---

१ अच्चेलक्क लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहण ।
एसो हु लिंग कप्पो चदुव्विहो होदि उस्सग्गे ।।७।।

—मूलाराधना, पृ० २०९, मूलाचार, पृ० ४३७ ।

२ 'प्रदक्षिणावर्त केशश्मश्रुविषय हस्तागुलीभिरेव सपाद्य' ।

—मूलाराधना, टी० पृ० २२४ ।

३ 'द्वयोर्मासयोरतिक्रान्तयो सतोर्वा । त्रिषु मासेषु अतिक्रातेष्वनतिक्रान्तेषु सत्सु वा । चतुर्षु मासेषु पूर्णेष्वपूर्णेषु वा नाधिकेषु ।'

—मूलाचार टी०, पृ० ३६ ।

सूक्ष्मत्वादि युक्त लघु पिच्छिका ग्रहण करना चाहिए। खडे होने मे, चलने आदि क्रियाओ मे इस प्रतिलेखन से शोधन किया जाता है इसलिए स्वपक्ष मे जैन मुनियो के चिह्न मे यह एक विशेप चिह्न है[1]।"

"जो मुनि अपने पास पिच्छी नही रखते है वे उपर्युक्त क्रियाओ मे जीवो के घात से नही वच सकते है अत उन्हे निर्वाण की प्राप्ति नही हो सकती है। अन्यत्र भी कहा है—"कोई साधु विना पिच्छी सात कदम गमन करे तो एक कायोत्सर्ग से शुद्ध होता है। यदि एक कोश गमन करे तो एक उपवास से शुद्ध होता है तथा आगे दूना-दूना प्रायश्चित्त है[2]।"

यह पिच्छी जिनमुद्रा का चिह्न है, मुद्रा ही सर्वत्र मान्य होती है और मुद्रा रहित मनुष्य मान्य नही होता है[3]।

'साधु सामायिक' वदना, चतुर्विशतिस्तव आदि के समय भगवान् को नमस्कार करते समय और गुरुओ को नमस्कार करते समय दोनो हाथो मे पिच्छी को लेकर अजुलि जोडकर अर्थात् पिच्छिका सहित अजलि जोडकर वदना आदि करते है[4]।'

---

१ सुहुमा सति पाणा खु दुप्पेक्खा मसचक्खुणा।
तम्हा जीवदयट्ठाय धारये पडिलेहण ॥२०॥
उच्चार पस्सवण णिसि मुत्तो उट्ठिदो दु काऊण।
अप्पडिलिहिय सुवतो जीववह कुणदि णियद तु ॥२२॥
ण य होदि णयणपीडा अच्छि वि भमाडिदे दु पडिलेहे।
तो सुहुमादी लहुओ पडिलेहो होदि कायव्वो ॥२३॥
ठाणे चक्कमणादाणे णिक्खेवे समयआसणपयत्ते।
पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ लिंग च होई सयपक्खे ॥२४॥
ठाणणिसिज्जागमणे जीवाण हति अप्पणो देह।
दसकत्तरिठाणगद णिप्पिच्छे णत्थि णिव्वाण ॥२५॥
—मूलाचार, पृ० ४४१, ४२।

२ सप्तपादेषु निष्पिच्छ कायोत्सर्गाद्विशुद्ध्यति।
गव्यूतिगमने शुद्धिमुपवास समश्नुते ॥४४॥ —प्राय० चू०

३. 'मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यात् निर्मुद्रो नैव मन्यते ॥' —नीतिसार

४ पडिलिहियअजलिकरो उवछुत्तो उट्ठिऊण एयमणो।
अव्वाखित्तो वुत्तो करेदि सामायिय भिक्खू ॥३९॥ —मूला०, पृ० ४१६।
टीका— " प्रतिलेखनेन सहिताजलिकरो।

इस प्रकार से पिच्छिका के गुण और कार्य बताये है। ये साधु स्वय भी अपने हाथ से पिच्छी बना सकते हैं। अथवा श्रावक जन बनाकर प्रदान करते हैं। कहा भी है—

"यदि स्वाध्याय व्याख्यान आदि क्रियाओ को न छोडकर अवकाश के समय साधु पुस्तक पिच्छी आदि उपकरण बनाता है तो प्रायश्चित्त नही है यदि क्रिया मे बाधा करके बनावें तो प्रायश्चित्त है[1]।"

समाचार विधि

सम के भाव को समता कहते है अर्थात् रागद्वेष का अभाव सो समाचार कहलाता है। अथवा त्रिकाल देव वदना या पच नमस्कार रूप परिणाम समता है या सामायिकव्रत समता है, इस प्रकार के आचार को समाचार कहते है। अथवा सम—सम्यक्-निरतिचार मूलगुणो का अनुष्ठान आचार सो समाचार है, अथवा सभी मे पूज्य या अभिप्रेत जो आचार है वह समाचार है।

इस समाचार के दो भेद हैं—औधिक और पदविभागिक। सामान्य आचार को औधिक समाचार कहते हैं। तथा सूर्योदय से प्रारभ कर अहोरात्र मे जितना आचार मुनियो के द्वारा किया जाता है उसे पदविभागी समाचार कहते हैं।

औधिक समाचार के दस भेद

१ इच्छाकार—सम्यग्दर्शन आदि इष्ट को हर्ष से स्वीकार करना।

२. मिथ्याकार—व्रतादि मे अतिचारो के होने पर 'मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे' ऐसा कहकर उनसे दूर होना।

३ तथाकार—गुरु के मुख से सूत्रार्थ सुनकर 'यही ठीक है' ऐसा अनुराग व्यक्त करना तथाकार है।

४. आसिका—जिन मदिर, वसतिका आदि से निकलते समय 'असही' शब्द से वहा के व्यतर आदि से पूछ कर जाना।

५ निषेधिका—जिन मदिर, वसतिका आदि मे प्रवेश के समय 'निसही' शब्द से वहा के व्यतरादि से पूछकर प्रवेश करना।

६ आपृच्छा—गुरु आदिको से वदनापूर्वक प्रश्न करना। आहार आदि के लिए जाते समय पूछना।

७ प्रतिपृच्छा—किसी वडे कार्य के समय गुरु आदि से बार-बार पूछना।

---

१ प्रायश्चित्तसमुच्चय, पृ० ५७।

८. छदन—उपकरण आदि के ग्रहण करने मे या वदना आदि क्रियाओ मे आचार्य के अनुकूल प्रवृत्ति रखना।

९ सनिमंत्रण—गुरु आदि से विनय पूर्वक पुस्तक आदि की याचना करना।

१० उपसपत्—गुरुजनो के लिए 'मै आप का ही हूँ' ऐसा आत्म-समर्पण करना।

उपमपत् के पाच भेद हैं—विनयोपसपत्, क्षेत्रोपसपत्, मार्गोपसपत्, सुखदु खोपसपत् और सूत्रोपसंपत्।

१ अन्य सघ से विहार करते हुए आये मुनि को पादोष्ण या अतिथि मुनि कहते है। उनका विनय करना, आसन आदि देना, उनका अग मर्दन करना, प्रियवचन आदि वोलना। आप किस आचार्य के शिष्य हैं ? किस मार्ग से विहार करते हुए आये हैं। ऐसा प्रश्न करना, उन्हे तृण सस्तर, फलक-सस्तर, पुस्तक, पिच्छिका आदि देना, उनके अनुकूल आचरण करना अथवा उन्हे सघ मे स्वीकार करना विनयोपसपत् है।

२ जिस क्षेत्र—देश मे सयम, गुण, शील, यम-नियम आदि वृद्धिगत होते है उस देश मे निवास करना क्षेत्रोपसपत् है।

३ आगंतुक मुनि से मार्गविषयक कुशल पूछना, अर्थात् आप का अमुक तीर्थ क्षेत्र या ग्राम को जाकर सुखपूर्वक आगमन हुआ है न ? तथा मार्ग मे आपके सयम, तप ज्ञानादि मे निर्विघ्नता थी न ? इत्यादि सुख प्रश्न आपस मे पूछना मार्गोपसपत् है।

४ आपस मे वसतिका आहार औषधि आदि से जो उपकार करना है वह सुखदु खोपसपत् है। अर्थात् जो आगतुक मुनि आहार वसतिका आदि से सुखी है उनको शिष्य आदि का लाभ होने पर कमंडलु आदि दान देना, रोग पीडित मुनियो की प्राप्ति होने पर सुख शय्या, आसन, औषधि, अन्न[1] पानादि के द्वारा उपचार करना और मै आपका ही ऐसा बोलना यह सब सुखदु खोपसपत् है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि साधु साधु के लिए आहार वसतिका या औषधि का दान कैसे करेगे ? सो योग्य वसति मे उनकी व्यवस्था कराना श्रावको द्वारा आहार औषधि की व्यवस्था कराना ही उनके द्वारा शक्य है सो वे करेंगे ही।

१ सुखदुक्खे उवयारो वसहीआहारभेसजादीहिं।
तुम्ह अहति वयण सुहदुक्खुवसपया णेया ॥१४३॥ —मूलाचार-
टीकामें—"सु खशय्यासनौषधान्नपानमर्दनादिभिरुपकार"

५ सूत्र पठन मे प्रयत्न करना सूत्रोपसपत् है। सूत्र के लौकिक, वैदिक और सामयिक की अपेक्षा तीन भेद हो जाते है। गणितादि शास्त्र लौकिक सूत्र हैं, सिद्धात शास्त्र वेद कहलाते हैं इन सबधी सूत्र वैदिक सूत्र हैं और तर्कशास्त्र को समय कहते है। इन सबधी शास्त्र सामायिक है ऐसे तीन प्रकार के सूत्र, अर्थ और उभय को प्रयत्न पूर्वक पढना आदि नौ भेदरूप सूत्रोपसपत् है।

इस प्रकार से औघिक अर्थात् सक्षिप्त या सामान्य समाचार के दश भेद बताये गये है।

पदविभागिक समाचार—'कोई धैर्य, वीर्य, उत्साह आदि गुणो से सहित मुनि अपने गुरु के पास उपलब्ध शास्त्रो को पढ कर अन्य आचार्य के पास यदि और विशेष अध्ययन के लिए जाना चाहता है तो वह अपने गुरु के पास विनय से अन्यत्र जाने हेतु वार-वार प्रश्न करता है। अवसर देख कर तीन पाँच या छह वार प्रश्न करता है। पुन दीक्षागुरु और शिक्षागुरु से आज्ञा लेकर अपने साथ एक, दो या तीन मुनिवरो को लेकर जाता है। क्योकि सामान्य मुनियो के लिए आगम मे एकल विहारी की आज्ञा नही है[1]।'

साधु का एकलविहारी होने का निषेध

विहार के गृहीतार्थ विहार और अगृहीतार्थ विहार ऐसे दो भेद है। इनके सिवाय तीसरे-विहार की जिनेश्वरो ने आज्ञा नही दी है[2]।'

जीवादि तत्त्वो के स्वरूप के ज्ञाता मुनियो का जो चारित्र का पालन करते हुए देशातर मे विहार है वह गृहीतार्थ विहार है। और जीवादि तत्त्वों को न जान कर चारित्र का पालन करते हुए जो मुनियो का विहार है वह अगृहीतार्थ सश्रित विहार है। जो साधु वारह प्रकार के तप को करने वाले है, द्वादशाग और चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता है अथवा काल क्षेत्र आदि के अनुरूप आगम के ज्ञाता है या प्रायश्चित्त आदि ग्रन्थो के वेत्ता है। देह की शक्ति और हड्डियो के वल से अथवा भाव के सत्त्व से सहित है, शरीरादि से भिन्नरूप एकत्व भावना मे तत्पर है। वज्रवृषभ-नाराच आदि तीन सहननो मे से किसी उत्तम सहनन के धारक है,

१ तवसुत्तसत्तएगत्तभावसघडणधिदि समग्गो य।
पविआ आगमवलिओ एयविहारी अणुण्णादो ॥२८॥—मूलाचार, पृ० ८३।

२ गहिदत्थेयविहारो विदिओऽगिहिदत्थससिदो चेव।
एत्तो तदियविहारो णाणुण्णादो जिणवरेंहि ॥१४८॥—मूलाचार।

धृति—मनोबल से सहित है अर्थात् क्षुधा आदि बाधाओ को सहने मे समर्थ है। बहुत दिन के दीक्षित है, तपस्या से वृद्ध है—अधिक तपस्वी है और आचार शास्त्रो के पारगत है ऐसे मुनि को एकलविहारी होने की जिनेन्द्र देव ने आज्ञा दी है।

'गमनागमन'[1], सोना, उठना, बैठना, कुछ वस्तु ग्रहण करना, आहार लेना, मलमूत्रादि विसर्जन करना, बोलना, चालना आदि क्रियाओ मे स्वच्छद प्रवृत्ति करने वाला ऐसा कोई भी मुनि मेरा शत्रु भी हो तो भी वह एकाकी विचरण न करे। स्वेच्छाचारी मुनि के एकाकी विहार से गुरु की निंदा होती है, श्रुताध्ययन का व्युच्छेद, तीर्थ की मलिनता, जडता, मूर्खता, आकुलता, कुशीलता और पार्श्वस्थता आदि दोष आते है। एकल विहारी होने से कटक, ठूँठ आदि का उपद्रव, कुत्ते, बैल, आदि पशुओ के और म्लेच्छो के उपसर्ग, विष, हैजा आदि से भी अपना घात हो सकता है। ऋद्धि आदि गौरव से गर्व युक्त, हठग्राही, कपटी, आलसी, लोभी और पापबुद्धियुक्त मुनि सघ मे रहते हुए भी शिथिलाचारी होने से अन्य मुनियो के साथ नही रहना चाहता है। जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का लोप, अनवस्था—देखादेखी स्वच्छद विहारी की परपरा बन जाना, मिथ्यात्व की आराधना, आत्मगुणो का नाश और सयम की विराधना इन पॉच निकाचित दोषो का प्रसग आता है।"

अन्यत्र भी एकलविहारी का निषेध किया है—

"कोई मुनि अपने गुरु के समीप समस्त शास्त्रो का अध्ययन करके यदि अन्य मुनियो के सघ मे अध्ययन करने की इच्छा हो तो बार-बार पूछकर गुरु की आज्ञा लेकर अन्य किसी एक या दो अथवा बहुत से

---

१ सच्छदगदागदी सयणणिसयणादाणभिक्खवोसरणे।
सच्छदजपरोचि य मा मे सत्तू वि एगागी ॥२९॥
गुरुपरिवादो सुदवुच्छेदो तित्थस्स मइलणा जडता।
भिभलकुसीलपासत्थदा य उस्सारकप्पम्हि ॥३०॥
कटयखुण्णयपडिणियसाणा गोणादिसप्पमेच्छेहि।
पावइ आदविवत्ति विसेण य विसूइया चेव ॥३१॥
गारविओ गिद्धीओ माइल्लो अलसलुद्धणिधम्मो।
गच्छे वि सवसतो णेच्छइ सघाडय मदो ॥३२॥
आणा अणवत्था वि य मिच्छत्ताराहणादणासो य।
सजमविराहणा वि य एदे दु णिकाइया ठाणा ॥३३॥—मूला० १० ८३ ८४

मुनियो के साथ विहार करते है। (कदाचित् यात्रा, धर्मप्रभावना आदि के निमित्त से भी आजकल इसी तरह कुछ मुनि मिलकर गुरु की आज्ञा लेकर विहार करते है।) अकेले मुनि विहार नही करते है। इसका कारण यह है कि जो मुनि बहुत दिन के दीक्षित है, ज्ञान और सहनन से बलवान है तथा भावना से भी बलवान है ऐसे ही मुनि एकलविहारी हो सकते है। अन्य साधारण मुनियो के लिए एकाकी विहार की आज्ञा नही है। सो ही कहते है कि—जिस मुनि मे ऊपर कथित ज्ञान, सहनन और अत करण के बल आदि गुण नही है और जो अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करने मे तत्पर है ऐसा मेरा शत्रु भी कभी एकाकी विहार न करे[1]।"

और यदि ऐसा मुनि भी एकाकी विचरण करते हैं तो क्या दोप आते है सो दिखाते है—शास्त्रज्ञान की परपरा का नाश अवस्था दोष अर्थात् एक की देखादेखी बहुत से साधु ऐसा करने लगेंगे तो व्यवस्था विगड जावेगी। व्रतो का नाश, आज्ञा भग—जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उल्लघन और तीर्थधर्म तथा गुरु की अपकीर्ति हो जाती है। इसके सिवाय अग्नि, जल, विप, अजीर्ण, सर्प या क्रूर जनो के द्वारा अथवा आर्तध्यान रौद्र-ध्यान आदि के द्वारा अपनी विनाश हो जाता है। इत्यादि दोप एकाकी विहार मे आ जाते है।

संघ कैसा होना चाहिए ?

जिस संघ मे आचार्य—दीक्षा प्रायश्चित्त आदि दायक गुरु, उपाध्याय—अध्यापक मुनि, प्रवर्तक—सभी साधुओ को चर्या आदि मे प्रवृत्ति करने वाले, स्थविर—बाल वृद्ध आदि मुनि को सर्वज्ञानुकूल उपदेश देने वाले,

---

१ इत्येव बहुश पृष्ट्वा लब्ध्वानुज्ञा गुरोर्व्रजेत्।
व्रतिनैकेन वा द्वाभ्या बहुभि सह नान्यथा ॥२६॥
ज्ञानसहननस्वातभावनाबलवन्मुने ।
चिरप्रव्रजितस्यैकविहारस्तु मत श्रुते ॥२७॥
एतद्गुणगणापेत स्वेच्छारचारत पुमान्।
यस्तस्यैकाकिता मा भून्मम जातु रिपोरपि ॥२८॥
श्रुतसतानविच्छित्तिरनवस्था यमक्षय ।
आज्ञाभगश्च दुष्कीर्तिस्तीर्थस्य स्याद् गुरोरपि २९॥
अग्नितोयगराजीर्णसर्पक्रूरादिभि क्षय ।
स्वस्याप्यार्तादिकादेकविहारेरनुचितेयत ॥३०॥—आचारसार, पृ० २७, २८।

गणधर—सर्वसघ का पालन करने वाले, ऐसे पाच आधार जिस सघ में रहते है वही संघ रहने के लिए योग्य है।

जिस समय ये मुनि अपने सघ से निकलकर अन्य सघ मे प्रवेश करते है, उस समय उस सघ के सभी मुनि आगन्तुक अतिथि मुनि को देखकर उठकर खडे होते है। आगे जाकर नमोऽस्तु-प्रतिनमोऽस्तु करते है। उनका रत्नत्रय आदि कुशल पूछकर मार्ग की थकावट को दूर करने हेतु वैयावृत्ति आहार की व्यवस्था आदि सुविधा देते हैं। तीन दिन तक ये साधु आवश्यक क्रियाओ मे आहार आदि क्रियाओ मे परस्पर एक-दूसरे की परीक्षा करते है। दूसरे या तीसरे शिष्यगण आगन्तुक मुनि की चर्या की निर्दोषता आदि के विषय मे आचार्यदेव को जानकारी देते है। पुनः आगन्तुक मुनि का नाम, कुल, गुरु, दीक्षा आदि सभी बातें गुरु स्वय आगतुक से पूछते है। यदि वह मुनि सघ परम्परा से और अपने चारित्र से निर्दोष है, तो उसे स्वीकार करते है। आगतुक मुनि भी तब अपने आने का कारण निवेदन कर गुरु के पास श्रुत अध्ययन प्रारम्भ कर देते है। ये मुनि इस परसघ मे आचार्य आदि सब साधुओ के साथ ही प्रतिक्रमण आदि क्रियायें करते है स्वच्छन्द प्रवृत्ति नही करते है।

आर्यिकाओ की चर्या

'यहाँ तक जो मूलगुण और समाचार का वर्णन किया है ये ही सब मूलगुण और समाचार विधि आर्यिकाओ के लिए भी है। विशेष यह है कि वृक्षमूलयोग, आतापनयोग आदि का आर्यिकाओ के लिए निषेध है[1]।"

अन्यत्र भी कहा है—

"जिस प्रकार यह समाचार नीति मुनियो के लिए बतलाई है उसी प्रकार लज्जादि-गुणो से विभूषित आर्यिकाओ को भी इन्ही समस्त समाचार नीतियो का पालन करना चाहिए[2]।"

आर्यिकाये वसतिका मे परस्पर मे एक-दूसरे के अनुकूल रहती है। निर्विकारवस्त्र-वेश को धारण करती हुई दीक्षा के अनुरूप आचरण करती

---

१ एसो अज्जाणपि य सामाचारो जहाक्खिओ पुव्व।
सव्वम्हि अहोरत्ते विभासिदव्वो जधाजोग्ग ॥६७॥—मूलाचार, पृ० ९९।

२ लज्जाविनयवैराग्यसदाचारविभूषिते।
आर्याव्राते समाचार सयतेष्विह किन्त्विह ॥८१॥—आचारसार, पृ० ४२।

है। रोना, वालक आदि को स्नान कराना, भोजन वनाना, वस्त्र सीना आदि, गृहस्थोचित कार्य नही करती है। इनका स्थान साधुओ के निवास से दूर तथा गृहस्थो के स्थान से न अतिदूर न अतिपास ऐसा रहता है वही पर मलमूत्रादि विसर्जन हेतु एकात प्रदेश रहता है। ऐसे स्थान मे ये दो, तीन या तीस, चालीस आदि तक आर्यिकायें निवास करती हैं। ये गृहस्थो के घर आहार के अतिरिक्त अन्य समय नही जाती है।

कदाचित् सल्लेखना आदि विशेष कार्य यदि आ जावे तव गणिनी की आज्ञा से दो एक आर्यिकाओ के साथ जाती है। इनके पास दो साड़ी रहती है किन्तु तीसरा वस्त्र नही रख सकती है फिर भी ये लगोटी-मात्रधारी ऐसे ऐलक से भी पूज्य है चूकि इनके उपचार से महाव्रत माने गये है। किन्तु ऐलक के अणुव्रत ही है।

यथा—'ग्यारहवी प्रतिमाधारी ऐलक लगोटी मे ममत्व सहित होने से उपचार महाव्रत के योग्य भी नही है। किन्तु आर्यिका एक साडी मात्र धारण करने पर भी ममत्व रहित होने से उपचार महाव्रती है'[1]।" एक साडी पहनना और वैठकर आहार करना इन दो चर्याओ मे ही अन्तर है।

इन आर्यिकाओ का नेतृत्व करने वाले आचार्य कैसे होते है ?

शिष्यो के सग्रह और उन पर अनुग्रह करने मे कुशल, सूत्रार्थ मे विशारद यशस्वी, तेरह प्रकार की क्रिया और तेरह प्रकार के चारित्र मे तत्पर ऐसे आचार्य होते है जिनके वचन सभी को ग्राह्य और हितकर होते है। गभीर, स्थिरपरिणामी, मितभाषी, अल्पकुतूहली, चिरकाल के दीक्षित, पदार्थो के ज्ञान मे कुशल ऐसे आचार्य ही आर्यिकाओ के गणधर होते है। इन गुणो से व्यतिरिक्त आचार्य यदि आर्यिकाओ का नेतृत्व करते है तो गणपोषण, आत्मसकार, सल्लेखना और उत्तमार्थ ऐसे चार काल की विराधना करा देते है। अर्थात् सघ की अपकीर्ति सयम की हानि आदि दोष आ जाते है।

---

१ कौपीनेऽपि समूर्च्छत्वात् नार्हत्यार्यो महाव्रतम्।
अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् साटिकेऽप्यार्यिकार्हति ॥—सागारधर्मामृत, पृ० ५१८।

३. आहार शुद्धि

दिगम्बर साधु सयम की रक्षा हेतु शरीर की स्थिति के लिए दिन मे एक बार छयालीस दोष—चौदह मल दोष और बत्तीस अतरायो को टाल कर आगम के अनुकूल नवकोटि विशुद्ध आहार ग्रहण करते है। इसी को पिंडशुद्धि या आहार शुद्धि कहते है ।

छयालीस दोष

दिगम्बर मुनि के आहार के छयालीस दोष माने है। ये साधु इन दोषो से अपने को दूर रखते है।

उद्गम, उत्पादन, एषणा, सयोजना, अप्रमाण, इंगाल, धूम और कारण, मुख्य रूप से आहार सबधी ये आठ दोष माने गये है।

१ दातार के निमित्त से जो आहार मे दोष लगते है, वे उद्गम दोष कहलाते है।

२ साधु के निमित्त से आहार मे होने वाले दोष उत्पादन नाम वाले है।

३ आहार सबधी दोष एषणा दोष है।

४ सयोग से होने वाला दोष सयोजना है।

५ प्रमाण से अधिक आहार लेना अप्रमाण दोष है।

६ लपटता से आहार लेना इगाल दोष है।

७ निन्दा करके आहार लेना धूम दोष है।

८ विरुद्ध कारणो से आहार लेना कारण दोष है।

इनमे से उद्गम के १६, उत्पादन के १६, एषणा के १० तथा सयोजना, प्रमाण, इगाल और धूम ये ४, ऐसे १६ + १६ + १० + ४ = ४६ दोष हो जाते है।

इन सबसे अतिरिक्त एक अध.कर्म दोष है जो महादोष कहलाता है। इसमे कूटना, पीसना, रसोई करना, पानी भरना और बुहारी देना ऐसे पचसूना नाम के आरभ से षट्कायिक जीवो की विराधना होने से यह दोष गृहस्थाश्रित है। इसके करने वाले साधु उस साधु पद मे नही माने जाते है।

उद्गम के १६ भेद

१ औद्देशिक—साधु, पाखडी आदि के निमित्त से बना हुआ आहार ग्रहण करना उद्देश्य दोष है।

२ अध्यधि—आहारार्थ साधुओं को आते देखकर पकते हुए चावल आदि में और अधिक मिला देना।

३ पूतिदोष—प्रासुक तथा अप्रासुक को मिश्र कर देना।

४ मिश्रदोष—असयतो के साथ साधु को आहार देना।

५ स्थापित—अपने घर मे या अन्यत्र कही स्थापित किया हुआ भोजन देना।

६ वलिदोष—यक्ष देवता आदि के लिए बने हुए मे से अवशिष्ट को देना।

७ प्रावर्तित—काल की वृद्धि या हानि करके आहार देना।

८ प्राविष्करण—आहारार्थ साधु के आने पर खिडकी आदि खोलना या वर्तन आदि मांजना।

९ क्रीत—उसी समय वस्तु खरीदकर लाकर देना।

१० प्रामृष्य—ऋण लेकर आहार बनाना।

११ परिवर्त—शालि आदि देकर बदले मे अन्य धान्य लेकर आहार बनाना।

१२ अभिघट—पक्तिवद्ध सात घर से अतिरिक्त अन्य स्थान से अन्नादि लाकर मुनि को देना।

१३ उद्भिन्न—भाजन के ढक्कन आदि को खोलकर अर्थात् सील मुहर चपडी आदि हटा कर वस्तु निकाल कर देना।

१४ मालारोहण—निसैनी से चढकर वस्तु लाकर देना।

१५ आछेद्य—राजा आदि के भय से आहार देना।

१६ अनीशार्थ—अप्रधान दातारो से दिया हुआ आहार लेना।

ये सोलह दोष श्रावक के आश्रित होते है, ज्ञात होने पर मुनि ऐसा आहार नही लेते है।

उत्पादन के १६ भेद

१ धात्री दोष—धाय के समान बालको को भूषित करना, खिलाना, पिलाना आदि करना जिससे दातार प्रसन्न होकर अच्छा आहार देवें, यह मुनि के लिए धात्री दोष है।

२ दूत दोष—दूत के समान किसी का समाचार अन्य ग्रामादि मे पहुँचा कर आहार लेना।

३ निमित्त दोष—स्वर, व्यजन आदि निमित्त ज्ञान से श्रावको को हानि लाभ बताकर खुश करके आहार लेना।

४ **आजीवदोष**—अपनी जाति कुल या कला योग्यता आदि बता कर दातार को अपनी तरफ आकर्षित कर आहार लेना आजीवक दोष है।

५ **वनीपक दोष**—किसी ने पूछा कि पशु, पक्षी, दीन ब्राह्मण आदि को भोजन देने से पुण्य है या नही ? हाँ पुण्य है, ऐसा दातार के अनुकूल वचन बोलकर यदि मुनि आहार लेवें तो वनीपक दोष है।

६ **चिकित्सा दोष**—औषधि आदि बता कर दातार को खुश कर आहार लेना।

७ **क्रोध दोष**—क्रोध करके आहार उत्पादन करा कर ग्रहण करना।

८ **मान दोष**—मान करके आहार उत्पादन करा कर लेना।

९ **माया दोष**—कुटिल भाव से आहार उत्पादन करा कर लेना।

१० **लोभ दोष**—लोभाकाक्षा दिखा कर आहार करा कर लेना।

११ **पूर्वसस्तुति दोष**—पहले दातार की प्रशसा करके आहार उत्पादन करा कर लेना।

१२ **पश्चात् स्तुतिदोष**—आहार के बाद दातार की प्रशसा करना।

१३ **विद्या दोष**—दातार को विद्या का प्रलोभन देकर आहार लेना।

१४ **मत्रदोष**—मत्र का माहात्म्य बता कर आहार ग्रहण करना। श्रावको को शाति आदि के लिए मत्र देना दोष नही है किन्तु आहार के स्वार्थ से बता कर उनमे इच्छित आहार ग्रहण करना सो दोष है।

१५ **चूर्ण दोष**—सुगन्धित चूर्ण आदि के प्रयोग बता कर आहार लेना।

१६ **मूलकर्मदोष**—अवश को वश करने आदि के उपाय बता कर आहार लेना।

ये सभी दोप मुनि के आश्रित होते है इसलिए ये उत्पादन दोष कहलाते है। मुनि इन दोषो से अपने को अलग रखते है।

एषणा सम्बन्धी १० दोष

१ **शंकित**—यह आहार अध कर्म से उत्पन्न हुआ है क्या ? अथवा यह भक्ष्य है या अभक्ष्य ? इत्यादि शका करके आहार लेना।

२ **म्रक्षित**—घी तेल आदि के चिकने हाथ से या चिकने चम्मच आदि से दिया हुआ आहार लेना।

३ **निक्षिप्त**—सचित्त पृथ्वी, जल आदि से सबंधित आहार लेना।

"छह[1] कारणो से आहार ग्रहण करते हुए भी मुनि धर्म का पालन करते है और छह कारणो से ही आहार को छोडते हुए भी वे मुनि चारित्र का पालन करते है।"

आहार ग्रहण के ६ कारण

(१) "क्षुधा[2] की वेदना मिटाने के लिए, (२) अपनी और अन्य साधुओ की वैयावृत्ति करने के लिए, (३) सामायिक आदि आवश्यक क्रियाओ के पालन के लिये, (४) सयम पालन के लिये, (५) अपने दश प्राणो की चिंता अर्थात् प्राणो की रक्षा के लिये और (६) दश धर्म आदि के चिंतन के लिए मुनि आहार ग्रहण करते हुए भी धर्म का पालन करते है।" अर्थात् यदि मै भोजन नही करूँगा तो क्षुधा वेदना धर्मध्यान को नष्ट कर देगी, स्व अथवा अन्य साधुओ की वैयावृत्ति करने की शक्ति नही रहेगी, सामायिकादि आवश्यक क्रियायें निर्विघ्नतया नही हो सकेंगी, षट्कायिक जीवो की रक्षा रूप सयम नही निभेगा, अपने इंद्रिय, बल आयु प्राणो की रक्षा के बिना रत्नत्रय की सिद्धि नही होगी और आहार के बिना दश धर्मादि का पालन भी कैसे होगा ? यही सोच कर साधु आहार ग्रहण करते है।

आहार त्याग के ६ कारण

(१) "[3]आकस्मिक व्याधि के आ जाने पर (२) भयकर उपसर्ग के आ जाने पर (३) ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा हेतु (४) जीवन दया हेतु, (५) अनशन आदि तप करने के लिये और (६) संन्यास काल के उपस्थित होने पर मुनि आहार का त्याग कर देते है।"

दिगबर मुनि बल और आयु की वृद्धि के लिये, स्वाद के लिए, शरीर की पुष्टि या शरीर के तेज के लिए आहार ग्रहण नही करते है प्रत्युत

---

१. छहि कारणेहि असण आराहतो वि आयरदि धम्म ।
छहि चेव कारणेहि दु णिज्जुहवतो वि आयरदि ॥५९॥
—मूलाचार, श्री कुदकुद कृत, पृ० २४८ ।

२ वेयण वेज्जावच्चे किरियाठाणे य सजमट्ठाए ।
तध पाणधम्मचिता कुज्जा एदेहि आहार ॥३०॥

३. आदके उवसग्गे तितिक्खणे बमचेर गुत्तीओ ।
पाणिदयातवहेऊ सरीरपरिहार वोच्छेदो ॥६१॥
—मूलाचार, पृ० २५० ।

इनमे से कोई महामल है, कोई अल्पमल है, कोई महादोष हैं और कोई अल्पदोष है। रुधिर, मास, अस्थि, चर्म और पीप ये महादोष हैं, आहार मे इनके दीखने पर आहार छोडकर प्रायश्चित्त भी लिया जाता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवो का शरीर—मृतक लट, चिवटी मक्खी, आदि तथा बाल के आहार मे आ जाने पर आहार का त्याग कर दिया जाता है। नख के आ जाने पर आहार छोडकर गुरु से किंचित् प्रायश्चित्त भी लेना होता है। कण, कुण्ड, बीज, कद, फल और मूल के आहार मे आ जाने पर यदि उनको निकालना शक्य है तो निकाल कर आहार कर सकते हैं अन्यथा आहार का त्याग करना होता है।

सिद्ध भक्ति कर लेने के बाद यदि अपने शरीर मे रक्त, पीप बहने लगे अथवा दातार के शरीर मे बहने लगे तो आहार छोड देना होता है। मास के देखने पर भी उस दिन आहार का त्याग कर दिया जाता है।

द्रव्य से प्रासुक आहार भी यदि मुनि के लिए बनाया गया है तो वह अशुद्ध हे। इसलिए ज्ञात कर ऐसा आहार मुनि नही लेते है। "जैसे मत्स्य के लिये किये गये मादक जल से मत्स्य ही मदोन्मत्त होते है किंतु मेढक नही, वैसे ही पर के लिये बनाये हुए आहार मे प्रवृत्त हुए मुनि उस दोप से आप लिप्त नही होते है। अर्थात् गृहस्थ अपना कर्त्तव्य समझकर शुद्ध भोजन बनाकर साधु को आहार देते है तब मुनि अपने रत्नत्रय की सिद्धि कर लेते है और श्रावक दान के फल स्वर्ग मोक्ष को सिद्ध कर लेते है।

यदि आहार शुद्ध है फिर भी यदि साधु अपने लिये बना हुआ समझ कर उसे ग्रहण करता है तो वह दोषी है, और यदि कृत, कारित आदि दोष रहित आहार लेने के इच्छुक साधु को अध कर्मयुक्त—सदोष भी आहार मिलता है, किंतु उसे वह साधु बुद्धि से ग्रहण कर रहा है तो वह साधु शुद्ध है[१]।"

अन्यत्र भी कहा है—यदि मुनि मन, वचन, काय से शुद्ध होकर तथा आलस को छोडकर शुद्ध आहार को ढूंढता है तो फिर कही पर अध कर्म

---

१ जह मच्छयाण पगदे मदणुदए मच्छया हि मज्जति।
ण हि मडूगा एव परमकदे जदि विसुद्धो॥६७॥
आधाकम्मपरिणदो फासुगदव्वे वि बधओ भणिदो।
सुद्ध गवेसमाणो आधाकम्मे वि सो सुद्धो॥६८॥
—मूलाचार, पृ० २५५।

होने पर भी वह साधु शुद्ध ही कहा जाता है। शुद्ध आहार को ढूँढने से अध:कर्म से उत्पन्न हुआ अन्न भी उस साधु के कर्मबंध करने वाला नहीं है[1]।"

आहार का काल

"सूर्योदय से तीन घड़ी बाद और सूर्यास्त होने के तीन घडी पहले तक आहार[2] का समय है। "आहार काल मे भी आहार का समय उत्कृष्ट एक मुहूर्त (४८ मिनट), मध्यम दो मुहूर्त और जघन्य तीन मुहूर्त प्रमाण तक है[3]।" मध्याह्न काल मे दो घडी बाकी रहने पर प्रयत्न पूर्वक स्वाध्याय समाप्त कर, देव वदना करके वे मुनि भिक्षा का समय जानकर पिछी कमडलु लेकर शरीर की स्थिति हेतु आहारार्थ अपने आश्रम से निकलते हैं। मार्ग में संसार शरीर भोगो से विरक्ति का चितन करते हुए ईर्यापथ शुद्धि से धीरे-धीरे गमन करते है। वे किसी से बात न करते हुए मौन पूर्वक चलते हैं। श्रावक द्वारा पडगाहन हो जाने पर वे खडे हो जाते हैं तब श्रावक उन्हे अपने घर ले जाकर नवधा भक्ति करता है। अनतर मुनि अपने पैरो में चार अगुल का अंतर रखकर खडे होकर अपने दोनों करपात्रो को छिद्र रहित बना लेते है। अनतर सिद्ध भक्ति करके क्षुधा वेदना को दूर करने के लिये वे प्रासुक आहार ग्रहण करते हैं।

आहार में पाच प्रकार की वृत्ति

"गोचार, अक्षम्रक्षण, उदराग्निप्रशमन, भ्रमणाहार, भ्रामरीवृत्ति और श्वभ्रपूरण, इन पाच प्रकार की वृत्ति रखकर मुनि आहार ग्रहण करते हैं[4]।"

---

१ मुनिर्गवेषमाणो य शुद्धाहारमतद्रित ।
शुद्ध एव स योगार्द्यै सत्यध कर्मणि क्वचित् ॥३५॥
—मूलाचार प्रदीप, पृ० ६६।

२ उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हिमज्झम्हि ।
एकम्हि दुअतिए वा. मुहुत्तकालेयभत्त तु ॥३५॥
—मूला०, पृ० ४५।

३ यह काल की मर्यादा सिद्ध भक्ति से लेकर भोजन के अन्त तक की है।

४ मूलाचार प्रदीप, पृ० ७०।

जैसे गाय को घास देने वाली स्त्री चाहे सुन्दर हो या असुन्दर, वह गाय स्त्री की सुन्दरता अथवा वस्त्राभूषणो को न देखकर मात्र अपनी घास पर दृष्टि रखती है। वैसे ही मुनि भी अन्न, रस, स्वादिष्ट व्यजन आदि की इच्छा न रखते हुए दाता के द्वारा प्रदत्त प्रासुक आहार ग्रहण कर लेते है यह गौ के आचरणवत् गोचर या गोचरी वृत्ति कहलाती है।

जैसे कोई वैश्य रत्नो से भरी गाडी के पहियो की धुरी मे थोडी सी चिकनाई (ओगन) लगाकर अपने इष्ट देश मे ले जाता है वैसे ही मुनिराज भी गुणरत्नो से भरी हुई शरीररूपी गाडी को ओगन के समान थोडा सा आहार देकर आत्मा को मोक्षनगर तक पहुँचा देते हैं। इसको अक्ष म्रक्षणवृत्ति कहते है।

जैसे कोई वैश्य रत्नादि से भरे भाडागार मे अग्नि के लग जाने पर शीघ्र ही किसी भी जल से उसे बुझा देता है। वैसे ही साधु भी सम्यग्द, र्शन आदि रत्नो की रक्षा हेतु उदर मे बढी हुई क्षुधा रूपी अग्नि के प्रशमन हेतु सरस वा नीरस कैसा भी आहार ग्रहण कर लेते है। इसे उदराग्निप्रशमन वृत्ति कहते है।

जैसे कोई गृहस्थ अपने घर के गड्ढे को किसी भी मिट्टी से भर देता है वैसे ही साधु अपने उदर के गर्त को जैसा कुछ अन्न मिल गया, उससे भर देते है, मिष्ठ भोजन की इच्छा नही रखते है। यह श्वभ्रपूरण-वृत्ति है।

जैसे भ्रमर अपनी नासिका द्वारा कमल गध को ग्रहण करते समय कमल को किंचिन्मात्र भी बाधा नही पहुँचाता है। वैसे ही मुनिराज भी दाता के द्वारा दिये गये आहार को ग्रहण करते समय उन्हे किंचित् भी पीडित नही करते है। इसको भ्रामरीवृत्ति कहते है।

इस प्रकार से आहार ग्रहण करते हुए यदि बत्तीस अतरायो मे से कोई भी अन्तराय आ जाय तो वे आहार छोड देते हैं। जो दाता और पात्र दोनो के मध्य मे विघ्न आता है वह अन्तराय कहलाता है।

बत्तीस अन्तराय

१ **काक**—आहार को जाते समय या आहार लेते समय यदि कौवा आदि वीट कर देवे, तो काक नाम का अन्तराय है।

२ **अमेध्य**—अपवित्र विष्ठा आदि से पैर लिप्त हो जावे।

३ **छर्दि**—वमन हो जावे।

४ रोधन—आहार के जाते समय कोई रोक देवे।

५ रक्तस्राव—अपने शरीर से या अन्य के शरीर से चार अंगुल पर्यंत रुधिर बहता हुआ देखे।

६ अश्रुपात—दुःख से अपने या पर के अश्रु गिरने लगें।

७ जान्वधः परामर्श—यदि मुनि जंघा के नीचे के भाग का स्पर्श कर लें।

८ जानूपरिव्यतिक्रम—यदि मुनि जंघा से ऊपर का व्यतिक्रम कर लें अर्थात् जंघा से ऊँची सीढ़ी पर—इतनी ऊँची एक ही डग या सीढ़ी पर चढ़ें तो जानूपरिव्यतिक्रम अन्तराय है।

९ नाभ्योनिर्गमन—यदि नाभि से नीचे सिर करके आहारार्थ जाना पड़े।

१० प्रत्याख्यात सेवन—जिस वस्तु का देव या गुरु के पास त्याग किया है वह खाने में आ जाय।

११. जंतुवध—कोई जीव अपने सामने किसी जीव का वध कर देवे।

१२ काकादि पिंडहरण—कौआ आदि हाथ से ग्रास का अपहरण कर लें।

१३ ग्रासपतन—आहार करते समय मुनि के हाथ से ग्रास प्रमाण आहार गिर जावे।

१४ पाणौ जंतुवध—आहार करते समय कोई मच्छर, मक्खी आदि जन्तु हाथ में मर जावे।

१५ मांसादि दर्शन—मांस, मद्य या मरे हुए का कलेवर देख लेने से अन्तराय है।

१६ पादांतर जीव—यदि आहार लेते समय पैर के नीचे से पचेन्द्रिय जीव चूहा आदि निकल जाय।

१७ देवाद्युपसर्ग—आहार लेते समय, देव, मनुष्य या तिर्यंच आदि उपसर्ग कर देवें।

१८. भाजनसपात—दाता के हाथ से कोई बर्तन गिर जाय।

१९ उच्चार—यदि आहार के समय मल विर्सजित हो जावे।

२० प्रस्रवण—यदि आहार के समय मूत्र विसर्जन हो जावे।

२१ अभोज्य गृह प्रवेश—यदि आहार के सयय चाडालादि के घर मे प्रवेश हो जावे।

१२ पतन—आहार करते समय मूर्धा आदि गिर जाने पर।

२३ उपवेशन—आहार करते समय बैठ जाने पर।

२४ सदंश—कुत्ते बिल्ली आदि के काट लेने पर।

२५ भूमिस्पर्श—सिद्ध भक्ति के अनन्तर हाथ से भूमि का स्पर्श हो जाने पर।

२६ निष्ठीवन—आहार करते समय कफ, थूक आदि निकलने पर।

२७ वस्तुग्रहण—आहार करते समय हाथ से कुछ वस्तु उठा लेने पर।

२८ उदर क्रुमिनिर्गमन—आहार करते समय उदर से क्रुमि आदि निकलने पर।

२९ अदत्तग्रहण—नही दी हुई किंचित् वस्तु ग्रहण कर लेने पर।

३० प्रहार—अपने ऊपर या किसी के ऊपर शत्रु द्वारा शस्त्रादि का प्रहार होने पर।

३१ ग्रामदाह—ग्राम आदि मे उसी समय आग लग जाने पर।

३२ पादेन किंचिद्ग्रहण—पाद से किंचित् भी वस्तु ग्रहण कर लेने पर।

इन उपर्युक्त कारणो से आहार छोड देने का नाम ही अन्तराय है। इसी प्रकार से इन बत्तीस के अतिरिक्त चाडालादि स्पर्श, कलह, इष्ट-मरण, साधर्मिक-संन्यासपतन, राज्य मे किसी प्रधान का मरण आदि प्रसगो से भी अन्तराय होता है। अन्तराय के अनतर साधु आहार छोड-कर मुख शुद्धि कर आ जाते है। मन मे वे किंचित् भी खेद या विषाद को न करते हुए "लाभादलाभो वरं" लाभ की अपेक्षा अलाभ मे अधिक कर्मनिर्जरा होती है ऐसा चिंतन करते हुए, वैराग्य भावना को वृद्धिगत करते रहते है। ■

४. आवश्यक क्रिया

जो पापादि क्रियाओ के वश मे नही है वह अवश है अथवा जो इन्द्रिय कपाय नोकषाय और रागद्वेषादि के आधीन नही है वह साधु अवश है उस अवश का जो कार्य अनुष्ठान-आचरण है। वह आवश्यक कहलाता है।

सामायिक

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सयम और तपो से जो जीव का ऐक्य होना है वह समय है। उसी को सामायिक कहते हैं अर्थात् इन क्रियाओ से परिणत आत्मा ही सामायिक है। इसके नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा ६ भेद हो जाते हैं। वस्तु के शुभ अशुभ नाम सुन कर रागद्वेष नही करना नामसामायिक है। शुभाकार युक्त और अशुभाकार युक्त प्रतिमाओ मे रागद्वेप नही करना सामायिक है। सोना, चांदी या मिट्टी आदि मे रागद्वेष नही करना द्रव्यसामायिक है। रम्य सुन्दर क्षेत्रो मे और असुन्दर अप्रिय क्षेत्रो मे समताभाव रखना क्षेत्र सामायिक है। ग्रीष्म शीतादि ऋतुओ और भी अनुकूल प्रतिकूल समयो मे रागद्वेष नही करना काल सामायिक है तथा सम्पूर्ण इष्ट अनिष्ट विषयो मे रागद्वेष का त्याग करके समताभाव धारण करना ही भाव सामायिक है क्योकि 'सर्वस.वद्ययोग' से निवृत्त होकर कर्मास्रव के कारणभूत पापयोग से दूर होना ही सामायिक का लक्षण है। "अजितनाथ से पार्श्वनाथ तक बाईस तीर्थंकरो ने शिष्यो को सामायिक सयम का उपदेश दिया था। भगवान् वृषभदेव और महावीर प्रभु ने छेदोपस्थापना सयम का उपदेश दिया है। कथन करने मे, पृथक्-पृथक् भावित करने मे और समझने मे सुगमता हो इसलिए पाँच महाव्रतो का वर्णन किया है। आदिनाथ के तीर्थ मे शिष्यो को समझाना कठिन था क्योकि वे अधिक सरल स्वभावी—जड थे और महावीर जिनके तीर्थ मे शिष्यो को व्रत का पालन कराना कठिन रहा है क्योकि ये अधिक वक्र स्वभावी है। दोनो तीर्थो के शिष्य योग्य और अयोग्य को नही जानते थे यही कारण है कि उनको "सर्वसावद्ययोगाद्-विरतोस्मि" मै सभी सावद्ययोग से विरक्त हूँ इतने मात्र से सामायिक सयम को स्वीकार मोक्षमार्ग मे स्थित होना कठिन था इसी हेतु से वृषभ-देव और वीर प्रभु ने व्रतो के भेदरूप छेदोपस्थापना सयम का उपदेश

दिया है[1]।" यह समताभाव लक्षण सामायिक अनियत काल है अर्थात् जीवनपर्यंत के लिए है और "त्रिकालदेववदना[2] करने रूप सामायिक नियतकालरूप है।"

"अनाकुलचित्त हुए साधु हाथ मे पिच्छिका[3] लेकर अञ्जुलि जोड़कर एकाग्रमना होकर सामायिक करते है।"

चतुर्विंशतिस्तव

लोक मे उद्योत करने वाले अरिहृत जिनेश्वरदेव धर्मतीर्थ के कर्ता होने से धर्म तीर्थंकर है उनके गुणो का स्तवन करना स्तव आवश्यक है। तीर्थ के द्रव्यतीर्थ और भावतीर्थ ऐसे दो भेद है—द्रव्यतीर्थ गगादि नदी आदि मे स्नान करने से सताप (शरीरताप) का नाश, तृष्णा की उपशाति और किंचित् काल के लिए शरीर के मल का अभाव होता है। किंतु रत्नत्रय से परिपूर्ण हुए तीर्थकर भावतीर्थ है। अथवा उनका रत्नत्रय धर्म भी भावतीर्थ है, द्वादशाग श्रुतज्ञान भी भावतीर्थ है। इस तीर्थ मे अवगाहन करने से सम्पूर्ण कर्ममल का नाश होता है।

"भिन्न[4] भिन्न १००८ आदि नामो से स्तुति करना नामस्तव है कृत्रिम, अकृत्रिम प्रतिमाओ की स्तुति करना स्थापनास्तव है, जिनेन्द्र भगवान् के शरीर का वर्ण, ऊँचाई, आयु, उनके माता-पिता आदि के वर्णनपूर्वक स्तुति करना द्रव्यस्तव है। चम्पापुरी, पावापुरी, सम्मेदशिखर आदि क्षेत्रो की स्तुति करना क्षेत्रस्तव है। गर्भावतार जन्मदिवस आदि

---

१ बाबीस तित्थयरा सामायिय सजम उवदिसन्ति।
छेदुवठावणिय पुण भयव उसहोय वीरो य॥
आचक्खिदु विभजिदु विण्णादु चावि सुहदर होदि।
एदेण कारणेण दु महव्वदा पचपण्णत्ता॥
आदीए दुव्विसोधण णिहणे तह सुट्ठु दुरणुपाले य।
पुरिमा य पच्छिमा विहु कप्पाकप्प ण जाणति॥
—मूलाचार, पृ० २७८-२७९।

२ त्रिकालदेववन्दनाकरण च तत्सामायिक व्रत भवतीत्यर्थ।
—मूला० टीका, पृ० २९।

३. पडिलिहियअजलिकरो उवजुत्तो उट्ठिऊण एयमणो।
अव्वाखित्तो उत्तो करेदि सामायिय भिक्खू॥४५॥
—मूला०, पृ० २७९।

४ अनगार धर्मामृत, पृ० ५६७ से ।

के दिनो मे स्तुति करना काल स्तव है और जिनेन्द्रदेव के केवलज्ञान आदि गुणो का स्तवन करना भावस्तव है।"

"इन अर्हंत आदि के तरफ अभिमुख होने से भक्ति से सपूर्ण अभीप्सित सिद्ध हो जाते है इसलिये यह भक्तिरागपूर्वक होती है यह निदान नही है। दोनो पैरो मे चार अगुल का अतर रखकर प्रतिलेखन करके अजुली जोडकर अविक्षिप्त मन हुए साधु चतुर्विशतिस्तोत्र को करते है।[1]

वंदना—एक तीर्थंकर सिद्ध आचार्यादि की वदना करना विधिवत् भक्तिपाठ पूर्वक कृतिकर्म करना वदना आवश्यक है। एक तीर्थंकर या सिद्ध आदि का नाम लेना नाम वदना है।" तीर्थंकर, सिद्ध आचार्यादि के प्रतिबिंबो की स्तुति करना स्थापना वदना है[2]। एक तीर्थंकर सिद्ध या आचार्यादि के शरीर की स्तुति करना द्रव्य वदना है। एक तीर्थंकर, सिद्ध या आचार्यादि ने जिस स्थान मे निवास किया है उस क्षेत्र की स्तुति करना क्षेत्र वदना है। एक तीर्थंकर तथा सिद्ध आचार्यादि जिस काल मे हुए हैं उस काल की स्तुति करना काल वदना है। एक तीर्थंकर सिद्धाचार्यादि के गुणो की स्तुति करना भाव वदना है।

कृमिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म ये सब वदना के ही नामातर है।

"जिन अक्षर समूह से परिणामो से, या क्रियाओ से आठ प्रकार का कर्म काटा जाता है, छेदा जाता है वह कृतिकर्म है अर्थात् पापनाश के उपाय को कृतिकर्म कहते है। जिससे तीर्थंकरत्व आदि पुण्य कर्म का सचय होता है उसको चितिकर्म कहते है। जिसके द्वारा अर्हंत आदि पूजे जाते हैं, ऐसे बहुवचन से उच्चारण कर पुष्पमाला, चदन आदि जो अर्पण किये जाते है वह पूजाकर्म है जिससे कर्म दूर किया जाता है अर्थात् जिसके द्वारा कर्मो का सक्रमण, उदय, उदीरणा आदि रूप परिण-

---

१ तेसिं अहिमुहदाए अत्था सिज्झति तह य भत्तीए।
तो भत्तिरागपुव्व वुच्चइ एद ण हु णिदाण ॥८४॥
चउरगुलतरपादो पडिलेहिय अजलीकयपसत्थो।
अव्वाखित्तो उत्तो कुणदि य चउवीसत्थय भिक्खू ॥८५॥

—मूलाचार, पृ० २९४।

२ "सिद्धाचार्यादिप्रतिबिंबाना च स्तवन स्थापनावदनानिर्युक्ति।

—मूला० टीका, पृ० ४३९।

मल कर दिया जाता है ऐसे कार्य को विनयकर्म कहते हैं, उसका ही नाम शुश्रूषा है[1]।"

अहोरात्रि के कृतिकर्म

"चार प्रतिक्रमण के और तीन स्वाध्याय के ऐसे पूर्वाह्न के सात कृतिकर्म और अपराह्न के सात कृतिकर्म ऐसे चौदह कृतिकर्म होते हैं[2]।" अथवा पश्चिमरात्रि में[3] प्रतिक्रमण के चार, स्वाध्याय के तीन और वंदना के दो, सूर्य उदय होने पर स्वाध्याय के तीन और मध्याह्न वंदना के दो इस प्रकार पूर्वाह्न क्रियाकर्म के ये चौदह हुए, उसी प्रकार अपराह्न काल में स्वाध्याय के तीन, प्रतिक्रमण के चार, वंदना के दो, रात्रियोग ग्रहणविसर्जन में योगभक्ति के दो और पूर्व रात्रि में स्वाध्याय के तीन इस प्रकार अपराह्निक क्रिया में चौदह कृतिकर्म होते हैं। अहोरात्र के कुल मिलाकर अट्ठाईस कृतिकर्म होते हैं[4]।" यहाँ पर गाथा में प्रतिक्रमण और स्वाध्याय का ग्रहण उपलक्षणमात्र है इसलिये सभी क्रियायें इन्हीं में अन्तर्भूत हो जाती हैं[5]।"

अन्यत्र भी कहा है—"चार बार के स्वाध्याय के १२, त्रिकाल वंदना के ६, दो बार के प्रतिक्रमण के ८ और रात्रियोग ग्रहण-विसर्जन में योग

---

१ "कृत्यते छिद्यते अष्टविधं कर्म येन अक्षरकदम्बकेन, परिणामेन क्रियया वा तत् कृतिकर्म पापविनाशनोपायः। चीयते समेकीक्रियते संचीयते पुण्य कर्म तीर्थंकरत्वादि येन तच्चितिकर्मपुण्यसंचयकारणं। पूज्यते अर्हदादयो येन तत्पूजाकर्म बहुवचनोच्चारणस्रक् चंदनादिकं। विनीयते निराक्रियते संक्रमोद-योदीरणादिभावेन प्राप्यते येन कर्माणि तद्विनयकर्म शुश्रूषणं।"

—मूलाचार टीका, पृ० ४४०।

२ चत्तारि पडिक्कमणे किदियम्मा तिण्णि होंति सज्झाए।
पुव्वण्हे अवरण्हे किदियम्मा चोद्दसा होंति ॥१०३॥

—मूलाचार, पृ० ३१०।

३. "पश्चिमरात्रौ प्रतिक्रमणे"—मूला० टी०, पृ० ४५५।

४ मूलाचार टीका, पृ० ४५५।

५ प्रतिक्रमण स्वाध्याययोरुपलक्षणत्वादिति, अन्यान्यपि क्रियाकर्माण्यत्रैवान्त-र्भवति।

—मूला० टी०, पृ० ४५५।

भक्ति के २, ऐसे २८ कायोत्सर्ग साधु के अहोरात्र विषयक होते हैं[1]।" इनका स्पष्टीकरण यह है कि—

त्रिकाल देव वदना मे चैत्य भक्ति और पचगुरु भक्ति सम्बन्धी दो-दो २×३=६, दैवसिक-रात्रिक प्रतिक्रमण मे, सिद्ध, प्रतिक्रमण, निष्ठितकरणवीर और चतुर्विंशति-तीर्थंकर इन चार भक्ति सम्बन्धी चार-चार ४×२=८, पूर्वाह्ण, अपराह्ण, पूर्व-रात्रिक और अपर रात्रिक इन चार कालिक स्वाध्याय मे—स्वाध्याय के प्रारम्भ मे श्रुतभक्ति, आचार्य भक्ति एव समाप्ति मे श्रुत भक्ति ऐसे तीन-तीन भक्ति सम्बन्धी ४×३=१२, रात्रियोग प्रतिष्ठापन मे योग भक्ति सम्बन्धी एक और निष्ठापन मे एक ऐसे २, इस तरह सब मिलकर ६+८+१२+२=२८ कायोत्सर्ग किये जाते हैं।

कृतिकर्म का लक्षण

"सामायिक स्तवपूर्वक कायोत्सर्ग करके चतुर्विंशतिस्तव पर्यन्त जो विधि है उसे कृतिकर्म कहते हैं[2]।" "यथाजात-मुद्राधारी साधु मनवचन काय की शुद्धि करके दो प्रणाम, बारह आवर्त और चार शिरोनतिपूर्वक कृतिकर्म का प्रयोग करे[3]।" अर्थात किसी भी क्रिया के प्रयोग मे पहले प्रतिज्ञा करके भूमि स्पर्शरूप पचाङ्ग नमस्कार किया जाता है, जैसे—"अथ पौर्वाह्णिकस्वाध्यायप्रारभक्रियाया पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावदनास्तवसमेत श्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" ऐसी प्रतिज्ञा करके पचाग नमस्कार किया जाता है पुन णमो "अरिहताण से लेकर तावकाल पावकम्म दुच्चरिय वोस्सरामि" पाठ बोला जाता है इसे सामायिक स्तव कहते है। इसमे "णमो अरिहताण" पाठ प्रारभ करते समय तीन आवर्त करके एक शिरोनति की जाती है पुन पाठ पूरा करके

---

१ स्वाध्याये द्वादशेष्टा षड्वदनेष्टौ प्रतिक्रमे।
कायोत्सर्गा योगभक्तौ द्वौ चाहोरात्रगोचरा ॥७५॥
—अनगार धर्मामृत, पृ० ५९७।

२. सामायिकस्तवपूर्वककायोत्सर्गश्चतुर्विंशतिस्तवपर्यंत कृतिकर्मेत्युच्यते।
—मूला० टी०, पृ० ४५४।

३ दोणद तु जधाजाद वारसावत्तमेव य।
चदुस्सिर तिसुद्धि च किदियम्म पउजदे ॥१२८॥
—मूलाचार, पृ० ३११।

तीन आवर्त तक शिरोनति की जाती है। फिर कायोत्सर्ग करके पचाग प्रणाम किया जाता है पुन 'थोस्सामि' इत्यादि चतुर्विशति स्तव के प्रारम्भ मे तीन आवर्त एक शिरोनति करके पाठ पूरा होने पर तीन आवर्त और शिरोनति होती है। इस प्रकार प्रतिज्ञा के अनन्तर प्रणाम और कायोत्सर्ग के अनतर प्रणाम ऐसे दो प्रणाम हुए। सामायिक स्तव के आदि अन्त मे और थोस्सामि के आदि अन्त मे ऐसे तीन-तीन आवर्त चार बार करने से बारह आवर्त हुए तथा प्रत्येक मे एक-एक शिरोनति करने से चार शिरोनति हो गई।

इस कृतिकर्म—विधिवत् कायोत्सर्ग के बत्तीस दोष माने गये है। उनसे रहित होना चाहिए।

कृतिकर्म कब करे ?

आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर इनको कृतिकर्म पूर्वक नमस्कार करते है। अविरतो श्रावक, माता-पिता, असयत गुरु, राजा, पाखडो साधु, देवव्रती अथवा नाग, यक्ष आदि देवो की वदना महाव्रती साधु नही करते है। तथा पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकार के चारित्र शिथिल मुनि की भी वदना नही करते है। किंतु वे साधु रत्नत्रय से युक्त, अपने दीक्षा मे एकरात्रि भी बडे ऐसे मुनियो की भी वदना करते है। विक्षिप्त चित्त हुए अथवा पीठ करके बैठे हुए, आहार या नीहार करते हुए गुरुओ को मुनि वदना नही करते है। आसन मे स्थित, स्वस्थचित्त ऐसे गुरु की वदना करते हैं। आलोचना के समय, सामायिक आदि आवश्यक क्रियाओ के समय, प्रश्न करने के पूर्व मे, पूजनकाल मे, स्वाध्याय के समय, क्रोधादि अपराध काल मे, आचार्यादि की वदना के समय इतने स्थानो मे गुरु की वदना की जाती है। जब मुनि वदना करते है तब अन्य आचार्यादि साधु भी बडे प्रेम से उन्हे पिच्छिका लेकर प्रतिवदना करते है। वदना करते समय गुरु से अनुज्ञा लेकर—'हे भगवान्! मै वदना करता हूँ' ऐसी प्रार्थना करके पुन स्वीकृति प्राप्त कर विधिवत् वदना करते है[1]।' 'सभी क्रियाओ के आरभ मे, मार्गादि मे देखने पर, सर्वत्र साधु-साधुओ मे वंदना प्रतिवदना करते है[2]।'

---

१ भगवन्! वदेह इति विज्ञापनया वन्दस्वेति अनुज्ञा कारयित्वा।
—अनगार ध०, पृ० ५७६।

२ सर्वत्रापि क्रियारम्भे वन्दना-प्रतिवदने।
गुरुशिष्यस्य साधूना तथा मार्गादिदर्शने ॥५५॥ —अनगार ध०, पृ० ५७७।

'देव वदना मे भी पूर्वोक्त विधि से कृतिकर्म करके "जयतु भगवान्" इत्यादि चैत्य भक्ति का पाठ करते हुए साधु देववदना विधि करते है[1]।'

देववंदना मे योग्य काल, योग्य आसन आदि को भी समझना चाहिए।

"साधु समाधि के लिए सहकारी कारणभूत ऐसे योग्य काल, योग्य आसन, योग्य मुद्रा, आवर्त और शिरोनतिरूप निर्दोष बत्तीस दोष रहित कृतिकर्म को विनय पूर्वक करते हैं[2]।" देववदना के लिए इन सभी को कहते है—

योग्यकाल—पिछली रात्रि की तीन घडी और दिन के आदि की तीन घडी ऐसे छह घड़ी (२ घटे २४ मिनट) काल पूर्वाह्णवदना का है। मध्याह्न से पहले की तीन घडी और पीछे की तीन घडी ऐसा छह घड़ी काल मध्याह्न वदना का है। दिन के अन्त की तीन घडी और रात्रि के आदि की तीन घडी ऐसा छह घड़ी काल अपराह्ण वदना का है। यह उत्कृष्ट काल है। ऐसे ही चार-चार घड़ी का काल मध्यम काल है तथा दो-दो घडी का काल जघन्य काल है। इस प्रकार तीनो सध्याओ मे देव-वदना के लिए योग्यकाल है।

योग्य आसन—वदना करने के लिए साधु जहाँ बैठते है, वह प्रदेश, पाटा-सिंहासन या पद्मासन आदि योग्य आसन है। शुद्ध, एकात, प्रासुक, अप्रशस्त लोक और समूर्च्छन आदि जन्तुओ से रहित, क्लेश के कारणभूत परिषह-उपसर्ग आदि से रहित होवे तथा तीर्थंकर आदि के निर्वाण कल्याण आदि कल्याणको से पवित्र प्रदेश ही उत्तम प्रदेश माना गया है। जिस पाटा, चटाई या तृण आदि पर बैठ कर वदना करनी है वह आसन छिद्र रहित, घुण, खटमल आदि से रहित, कालादि से रहित, निश्चल, और सुखकर स्पर्श वाला होवे। उसपर साधु पद्मासन, पर्यंकासन या वीरासन से बैठकर सामायिक करते है। दोनो पैर जघाओ से मिल जाय उसको पद्मासन कहते है। एक जघा के ऊपर दूसरी जघा के रखने से जो

---

१ सामायिक णमो अरहताणमिति प्रभृत्यथ स्तवन।
थोसामीत्यादि जयति भगवानित्यादिवदना युञ्ज्यात् ॥५६॥
—अनगार ध०, पृ० ५७७।

२. योग्यकालासनस्थानमुद्रावर्तशिरोनति।
विनयेन यथाजात कृतिकर्मामल भजेत् ॥७८॥—अनगार ध०, पृ० ५९९।

आकार होता है वह पर्यंकासन है। तथा दोनो जघाओ के ऊपर दोनो पैरो के रखने को वीरासन कहते है।

वदना करने वाला मुनि खडे होकर या बैठकर वदना करता है अत यह स्थान दो भेदरूप है।

योग्य मुद्रा—मुद्रा के चार भेद है—जिनमुद्रा, योगमुद्रा, वदना मुद्रा और मुक्ताशुक्ति मुद्रा।

दोनो भुजाओ को लटकाकर दोनो पैरो मे चार अगुल का अन्तर रखकर कायोत्सर्ग से खडे हो जाना जिनमुद्रा है। पद्मासन आदि दोनो हथेली को चित्त रखकर बैठने पर योगमुद्रा होती है।

खडे होकर दोनो कुहनियो को पेट के ऊपर रखने पर और दोनो करो को मुकुलित कमल के आकार बनाने पर वदना मुद्रा होती है। इसी तरह खडे होकर कुहनियो को पेट के ऊपर रखकर दोनो हाथो की अगुलियो को आपस मे सलग्न कर लेने पर मुक्ताशुक्ति मुद्रा होती है।

किस क्रिया मे किस मुद्रा का प्रयोग करना चाहिए ?

"जयतु भगवान् हेमाम्भोज " इत्यादि वदना के समय वदना होती है। 'णमो अरिहताण' आदि सामायिक दडक और 'थोस्सामि' इत्यादि चतुर्विशतिस्तव के समय मुक्ताशुक्तिमुद्रा होती है। बैठकर कायोत्सर्ग करते समय योग मुद्रा और खडे होकर कायोत्सर्ग करते समय जिनमुद्रा मानी गई है।

आवर्त—"सामायिकस्तव उच्चारण के पहले मुक्ताशुक्तिमुद्रा से हाथो को मुकुलित बनाकर घुमाने से तीन आवर्त हुए, ऐसे ही दडक के बाद तीन आवर्त पुन थोस्सामिस्तव के आदि और अन्त मे तीन-तीन आवर्त इस प्रकार एक कायोत्सर्ग मे बारह आवर्त होते है[1]।"

शिरोनति—तीन-तीन आवर्तो के अनतर मुकुलित हाथो से सयुक्त मस्तक का झुकाना शिरोनति है। यह सामायिक दडक के आदि-अत और थोस्सामि आदि अन्त ऐसे चार बार होने से चार शिरोनति हो जाती है।

देववदना मे चैत्य भक्ति बोलते हुए जिनेन्द्र देव की प्रदक्षिणा भी की जाती है। उसमे प्रत्येक प्रदक्षिणा मे पूर्वादि चारो दिशाओ की तरफ

---

१ त्रि-सपुटीकृतौ हस्तौ भ्रमयित्वा पठेत् पुन ।
साम्य पठित्वा भ्रमयेत्तौ स्तवेऽप्येतत्तदाचरेत् ॥८९॥
—अन०, धर्मा० पृ० ६०६।

प्रत्येक दिशा मे तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति की जाती है। इस प्रकार एक प्रदक्षिणा मे बारह आवर्त, चार शिरोनति तथा तीन प्रदक्षिणा मे छत्तीस आवर्न और बारह शिरोनति हो जाती है सो अधिक आवर्त और शिरोनति मे कोई दोष नही होता है।

चैत्य भक्ति, निर्वाण भक्ति और नन्दीश्वरभक्ति करते समय चैत्यालय की प्रदक्षिणा भी की जाती है। तथा योगियो की वदना मे योग-भक्ति पढते समय प्रदक्षिणा दी जाती है।

इस प्रकार से सक्षेप मे वदना आवश्यक का कथन हुआ है।

वन्दना के ३२ भेद

१. **अनाहृत**—वदना मे आदर भाव नही रखना।

२ **स्तब्ध**—आठ प्रकार के मद मे से किसी के वश हो जाना।

३ **प्रविष्ट**—अर्हंतादि के अत्यत निकट[1] होकर वदना करना।

४ **परिपीडित**—अपने दोनो हाथो से दोनो जघाओ या घुटनो का स्पर्श करना।

५ **दोलायित**—झूला पर बैठे हुए के समान अर्थात् हिलते हुए वदना करना।

६ **अंकुशित**—अपने ललाट पर अपने हाथ के अगुष्ठ को अकुश की तरह रखना।

७ **कच्छपरिंगित**—बैठकर वदना करते हुए कछुये के समान रेंगने की क्रिया करना।

८ **मत्स्योद्वर्त**—जिस प्रकार मछली एक भाग को ऊपर करके उछला करती है उसी प्रकार कटिभाग को ऊपर निकाल कर वदना करना।

९ **मनोदुष्ट**—मन मे गुरु आदि के प्रति द्वेष धारण कर वन्दना करना अथवा सक्लेशयुक्त मन सहित वन्दना करना।

---

१ जिन प्रतिमा आदि से कम-से-कम एक हाथ दूर से हटकर वदना की जाती है उससे अधिक निकट होने में यह दोष आयेगा चूंकि उठने बैठने आदि क्रियाओ मे अपने हाथ-पैर आदि का धक्का उनको लगने से आसादना दोप हो सकता है।

१० वेदिकाबद्ध—अपने स्तन भागो का मर्दन करते हुए वन्दना करना या दोनो भुजाओ द्वारा अपने दोनो घुटनो को बाँध लेना।

११ भयदोष—सात प्रकार के भय से डरकर वन्दना करना।

१२ विभ्यद्दोष—गुरु आदि से डरते हुए वन्दना करना।

१३. ऋद्धिगौरव—चातुर्वर्ण्य सघ मे भक्त हो जावेगा इस अभिप्राय से वन्दना करना।

१४. गौरव—अपना माहात्म्य आसन आदि द्वारा प्रगट करके अथवा सरस भोजन आदि की स्पृहा रखकर वन्दना करना।

१५ स्तेनित—आचार्य आदि से छिपाकर वदना करना। या कोठरी आदि के भीतर छिपकर वदना करना।

१६. प्रतिनीत—देव, गुरु आदि के प्रतिकूल होकर वन्दना करना।

१७ प्रदुष्ट—अन्य के साथ द्वेष, वैर कलह आदि करके पुन क्षमा न कराकर वदनादि क्रिया करना।

१८ तर्जित—अन्यो को तर्जित कर, डर दिखाकर वन्दना करना अथवा आचार्यादि के द्वारा अगुली आदि से तर्जित—अनुशासित किये जाने पर "यदि वन्दनादि नही करोगे तो सघ से निकाल दूँगा" ऐसी फटकार सुन कर वदना करना।

१९ शब्ददोष—शब्द बोलते हुए वन्दना करना। अथवा "वन्दना[1] करते समय बीच मे बातचीत करते जाना।"

२० हीलित—वचनो द्वारा आचार्यादि का पराभव करके वन्दना करना।

२१ —त्रिवलित—वन्दना करते समय कमर, गरदन और हृदय इन अगो मे भग-बलि पड जाना या ललाट मे तीन सल डाल कर वन्दना करना।

२२ कुचित—सकुचित हाथो से सिर का स्पर्श करना या घुटनो के बीच शिर रख कर सकुचित होकर वदना करना।

२३ दृष्ट—आचार्यादि यदि देख रहे हो तो ठीक से वदनादि करना अन्यथा स्वेच्छा से दिशावलोकन करते हुए वदना करना।

---

१. "या जल्पक्रिया वार्तादिकथन।" अन०, पृ० ६१४।

२४ अदृष्ट—आचार्यादि न देख सकें। ऐसे स्थान पर जाकर अथवा भूमि, शरीरादि का पिच्छी से परिमार्जन न कर वदना मे एकाग्रता न रखते हुए वंदना करना या आचार्यादि के पीछे जाकर वन्दना करना।

२५ संघकरमोचन—यदि मै सघ को वदनारूपी कर भाग नही दूँगा तो सघ मेरे ऊपर रुष्ट होगा ऐसे भाव से वदना करना।

२६ आलब्ध—उपकरण आदि प्राप्त करके वंदना करना।

२७ अनालब्ध—उपकरण आदि की आशा से वदना करना।

२८ हीन—ग्रन्थ, अर्थ और काल के प्रमाण से रहित वंदना करना।

२९ उत्तर चूलिका—वदना को थोड़े काल मे पूर्ण कर उसकी चूलिका रूप आलोचनादि पाठ को अधिक समय तक करना।

३० मूकदोष—गूगे के समान वदना के पाठ को मुख के भीतर ही बोलना अथवा वदना करते समय हुंकार अगुली आदि से इशारा करना।

३१ दर्दुर—वदना के पाठ को इतनी जोर से बोलते हुए महाकल-कल ध्वनि करना कि जिससे दूसरो की ध्वनि दब जाय।

३२ चुरुलित—एक ही स्थान मे खडे होकर हस्ताजलि को घुमाकर सबकी वदना करना अथवा पचम आदि स्वर से गा-गा कर वदना करना।

इस प्रकार वदना के ३२ दोष है। इन दोषो से रहित वदना ही शुद्ध वदना है जो कि विपुल निर्जरा का कारण है। इन ३२ दोषो मे से किसी एक दोष को करता हुआ भी साधु कृतिकर्म करते हुए भी कृति कर्म से निर्जरा को करने वाला नही होता है। एक हाथ के अन्तराल से, अपने शरीरादि के स्पर्श से देव का स्पर्श या गुरु को बाधा न करते हुए अपने अगादि का पिच्छिका के प्रमार्जन करके साधु वंदना की प्रार्थना करके वदना करता है अर्थात् मै वंदना करता हूँ ऐसी विज्ञापना करके यदि गुरु की वदना करना है तो उनकी स्वीकृति लेकर वदना करता है।[1]"

---

१ किदियम्म पि करतो ण होदि किदियम्म णिज्जराभागी।
बत्तीसाणण्णदर साहू ठाण विराधन्तो ॥१३५॥
हत्थतरेण बाधे सफासपमज्जण पउज्जन्तो।
जाएतो वदणय इच्छाकार कुणदि भिक्खू ॥१३६॥

—मूलाचार, पृ० ३१५।

प्रतिक्रमण

प्रमाद आदि से उत्पन्न होने वाले दोषो का विशोधन करना प्रतिक्रमण है। इसके नाम आदि की अपेक्षा छह भेद है। पाप हेतुक नाम से दूर होना अथवा प्रतिक्रमण दण्डक के शब्दो का उच्चारण करना नाम प्रतिक्रमण है। सरागस्थापना से अपने परिणाम हटाना स्थापना प्रतिक्रमण है। सावद्य द्रव्य के सेवन से परिणाम हटाना द्रव्य प्रतिक्रमण है। क्षेत्र के आश्रय से होने वाले अतिचार से निवृत्त होना क्षेत्र- प्रतिक्रमण है। काल के आश्रय से होने वाले अतिचार हटाना काल प्रतिक्रमण है। राग-द्वेषादि दोषो से होने वाले अतिचारो से अपने को हटाना भाव प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण के सात भेद है—दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और औत्तमार्थ।

दिवससबधी दोषो के विशोधन हेतु सायकाल मे जो प्रतिक्रमण किया जाता है वह दैवसिक प्रतिक्रमण है। जो कि "जीवे प्रमादजनिता." आदि पाठ रूप से पढा जाता है।

रात्रिसबधी दोषो के निराकरण हेतु जो पश्चिम रात्रि मे प्रतिक्रमण किया जाता है वह रात्रिक प्रतिक्रमण है।

आहार के लिए जाते समय, गुरुवदना और देववदना के लिए जाते समय, शौचादि के लिए जाते समय जो जीवो की विराधना हुई हो, उसके दोषो को दूर करने के लिए "पडिक्कमामि भत्ते! इरियावहियाए" इत्यादि पाठ बोलकर महामत्र का नव बार जाप्य किया जाता है वह ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण है।

प्रत्येक मास मे पन्द्रह दिन वा चतुर्दशी या अमावस्या अथवा पूर्णिमा को जो बृहत्प्रतिक्रमण किया जाता है वह पाक्षिक प्रतिक्रमण है।

"कार्तिक मास के अन्त मे और फाल्गुन मास के अन्त मे चतुर्दशी अथवा पूर्णिमा को चातुर्मासिक प्रतिक्रमण किया जाता है[1]।"

"आषाढ मास के अन्त मे चतुर्दशी या पूर्णिमा के दिन वार्षिक प्रतिक्रमण किया जाता है[2]।"

---

१. "कार्तिकातचातुर्मासी फाल्गुनातचातुर्मासी" —अनगार०, पृ० ५७९।

२ आषाढान्तसावत्सरी। —अनगार०, पृ० ५७९।

मरण काल मे सपूर्ण दोषो की आलोचना करके जो यावज्जीवन चतुराहार का त्याग कर दिया जाता है वह उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है।

इनसे लोच प्रतिक्रमण, गोचरी प्रतिक्रमण, अतिचार प्रतिक्रमण आदि लघु प्रतिक्रमण होते है जो कि ईर्यापथ आदि मे सम्मिलित हो जाते हैं।

पांच वर्ष के अंत मे जो गुरु के सानिध्य मे बडा प्रतिक्रमण होता है वह यौगिक या योगातिक कहलाता है। तथाहि—

"प्रतिक्रमण के भेदो मे वृहत्प्रतिक्रमण सात माने है—व्रतारोपण, पाक्षिक कार्तिकातचातुर्मासिक, फाल्गुनांतचातुर्मासिक, आपाढातसावत्सरिक, सार्वातिचारिक और औत्तमार्थिक[1]"। दीक्षाग्रहण काल से लेकर सन्यासग्रहण काल तक जितने भी दोष होते है वे सार्वातिचार कहलाते है उनका प्रतिक्रमण सार्वातिचारी प्रतिक्रमण है। व्रतो के आरोपण के समय जो आचार्य द्वारा प्रतिक्रमण सुनाया जाता है वह व्रतारोपणी प्रतिक्रमण है। इनमे से व्रतारोपणी और सार्वातिचारी प्रतिक्रमण ये दोनो उत्तमार्थ प्रतिक्रमण मे गर्भित हो जाते है।

इनसे अतिरिक्त भी जो आतिचारी प्रतिक्रमण है वह सार्वातिचारी मे और जो त्रिविधाहारव्युत्सर्जन प्रतिक्रमण उत्तमार्थ मे शामिल हो जाते हैं। पाच वर्ष के अंत मे किया जाने वाला प्रतिक्रमण यौगातिक प्रतिक्रमण है वह सवत्सर प्रतिक्रमण मे गर्भित हो जाता है।

"ऐसे ही लुचन, रात्रिक, देवसिक, गोचार, निषिद्धिका गमन, ईर्यापथ, और अतिचार ये सात लघु प्रतिक्रमण माने गये है[2]।"

केशलोचसबधी लोचप्रतिक्रमण है, निषिद्धिका (जहा गुरुओ की समाधि हुई है या तीर्थंकरो की कल्याणभूमि) के लिए गमन सबधी प्रतिक्रमण निषिद्धिका गमन प्रतिक्रमण है। आहारसबंधी प्रतिक्रमण गोचार प्रतिक्रमण है और दु स्वप्न आदि अतिचार सबधी प्रतिक्रमण अतिचार प्रतिक्रमण है, मार्ग मे गमन सबधी प्रतिक्रमण ईर्या-पथिक है, दिवस सबंधी प्रतिक्रमण देवसिक और रात्रि सबधी रात्रिक है। इनमे से निषि-

---

१ "एतेन वृहत्प्रतिक्रमणा सप्त भवतीत्युक्त भवति। ताश्च यथा—व्रतारोपणी पाक्षिकी कार्तिकातचातुर्मासी फाल्गुनातचातुर्मासी आपाढातसावत्सरी सार्वातिचारी उत्तमार्थी चेति'। —अनगार, पृ० ५७९।

२ लुञ्चे रात्रौ दिने भुक्ते निषेधिकागमने पथि।
स्यात् प्रतिक्रमणा लघ्वी तथा दोषे तु सप्तमी॥ —अन०, पृ० ५८०।

द्धिका गमन प्रतिक्रमण ऐर्यापथिक मे, अतिचार प्रतिक्रमण रात्रिक प्रतिक्रमण मे और लोचप्रतिक्रमण तथा गोचार प्रतिक्रमण दैवसिक प्रतिक्रमण मे अतर्भूत हो जाते है।

भगवान् आदिनाथ और महावीर प्रभु ने 'अपराध हो चाहे न हो' शिष्यो को यथासमय प्रतिक्रमण करने का उपदेश दिया है। किन्तु अजितनाथ आदि बाईस तीर्थंकरो ने अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण करने को कहा है। प्रथम और अतिम जिनेश्वर ने एक दोष होने पर भी सभी प्रतिक्रमण दडको का उच्चारण करना कहा है। क्योकि इनके समय के शिष्यो का चित्त चचल होने से अन्धकघोटक न्याय से उन्हे सभी प्रतिक्रमण यथासमय करना ही होता है।

जैसे एक घोडे की आख की ज्योति नष्ट हो गई। एक वैद्य के यहा आँख ठीक करने की दवाई तो थी किन्तु उसे पता नही था कि कौन सी दवा है उसने कहा कि आप इस घोडे की आँख मे सभी दवाई प्रयोग करते चलिये जो आँख खुलने की होगी उससे आँख खुल जायेगी। घोडे के स्वामी ने ऐसा ही किया तब जब आँख की औषधि का क्रम आ गया तब एकदम औषधि लगते ही आँख खुल गई इसे अन्धघोटक न्याय कहते है। इसी प्रकार साधु सभी दण्डको का उच्चारण करते है जिस किसी एक पर भी मन स्थिर हो जाने से दोषो का विनाश हो जाता है।

मध्यम तीर्थकरो के शासन के शिष्य दृढबुद्धि वाले स्मरण शक्ति से सहित, एकाग्रचित्त वाले होते है, किन्तु आदि और अन्तिम तीर्थंकर के शासन के शिष्य चचल मन वाले, मोह से सहित ऋजुजडमति वाले और वक्रजडमति वाले होते है। यही कारण है कि आज सभी प्रतिक्रमण करना जरूरी है।[1]"

---

१ सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
अवराहे पडिकमण मज्झिमयाण जिणवराण ॥१५४॥

जावेदु अप्पणो वा अण्णदरे वा भवे अदीचारो।
तावेदु पडिक्कमण मज्झिमयाण जिणवराण ॥१५५॥

इरियागोयरसुमिणादि सव्वमाचरदु मा व आचरदु।
पुरिमचरिमा दु सव्वे सव्व णियमा पडिकमति ॥१५६॥

मज्झिमया दिढबुद्धी एयग्गमणा अमोहलक्खा य।
तम्हा दु जमाचरति त गरहता वि सुज्झति ॥१५७॥

साधु दोष लगने पर विनयपूर्वक पिच्छिका सहित अजलि जोडकर गारव मान आदि दोषो को छोड कर कृतिकर्म करके गुरु के पास आलोचना करते है। और "मिच्छा मे दुक्कड" आदि दण्डको का उच्चारण कर प्रतिक्रमण करते हैं।

प्रत्याख्यान

भविष्यत् और वर्तमान के दोषो का निराकरण करना प्रत्याख्यान है। इसके भी छह भेद हैं—पाप के उत्पन्न करने वाले अयोग्य नाम नही रखना, नही रखवाना और न अनुमोदना करना नाम प्रत्याख्यान है। मिथ्या देवता आदि के प्रतिबिंब की स्थापना नही करना स्थापना प्रत्याख्यान है। सावद्य अथवा निरवद्यद्रव्य का त्याग करना द्रव्य प्रत्याख्यान है। जहाँ रहने से असयमादि उत्पन्न हो ऐसे क्षेत्र का त्याग करना क्षेत्र प्रत्याख्यान है। असयमोत्पादक काल का त्याग करना काल प्रत्याख्यान है। मिथ्यात्व, असयम, कषायादि भावो का त्याग करना भाव प्रत्याख्यान है।

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान मे क्या अन्तर है ?

भूतकाल के अतिचारो का शोधन करना प्रतिक्रमण है और वर्तमान तथा भविष्य के दोषो का त्यागना प्रत्याख्यान है। अथवा व्रतादि के अतिचारो का त्यागना प्रतिक्रमण है और अतिचार के कारण जो सचित्त, अचित्त और मिश्रपदार्थ इनका तप के लिए त्यागना अथवा प्रासुक द्रव्यो का भी त्याग करना प्रत्याख्यान है।

प्रत्याख्यान के दश भेद

अनागत—भविष्यत् काल मे किये जाने वाले उपवास आदि अनागत हैं, जैसे चतुर्दशी के दिन किया जाने वाला उपवास त्रयोदशी को कर लेना यह अनागत प्रत्याख्यान है।

अतिक्रात—चतुर्दशी आदि मे किये जाने वाले उपवासादि को प्रतिपदा आदि मे करना यह अतिक्रात प्रत्याख्यान है।

कोटिसहित—कल दिन मे स्वाध्याय के अनन्तर यदि शक्ति होगी तो उपवास करूँगा अन्यथा नही करूँगा ऐसा सकल्प करके जो प्रत्याख्यान होता है वह कोटिसहित प्रत्याख्यान है।

पुरिमचरिमा दु जम्हा चलचित्ता चेव मोहलक्खा य।
तो सव्व पडिक्कमण अधलयघोडयदिट्ठता ॥१५८॥

मूलाचार, पृ० ३२४, ३२५।

निखंडित—पाक्षिक आदि मे अवश्य करने योग्य उपवासादि करना निखंडित प्रत्याख्यान है।

साकार—सर्वतोभद्र, कनकावली, आदि उपवासो को करना यह भेद सहित होने से साकार प्रत्याख्यान है।

अनाकार—स्वेच्छा से–नक्षत्रादि कारणो के बिना उपवासादि करना अनाकार प्रत्याख्यान है।

परिमाणगत—कालप्रमाण सहित उपवास करना—जैसे षष्ठ-वेला, अष्टम-वेला आदि उपवास करना परिमाणगत प्रत्याख्यान है।

अपरिशेष—यावज्जीवन चार प्रकार के आहार का त्याग करना अपरिशेष प्रत्याख्यान है।

अध्वानगत—मार्गविषयक त्याग—जैसे इस जगल मे निकलने तक या यह नदी पार करने तक आहार का त्याग करना अध्वानगत प्रत्याख्यान है।

सहेतुक—उपसर्ग आदि के निमित्त से उपवास आदि करना यह सहेतुकप्रत्याख्यान है।

अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य के भेद से आहार चार प्रकार का है। प्रतिदिन आहार के अनंतर जो अगले दिन आहार ग्रहण करने तक चतुराहार का त्याग किया जाता है। वह भी प्रत्याख्यान कहलाता है।

कायोत्सर्ग

काय से ममत्त्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है। इसके भी नामादि की अपेक्षा छह भेद हैं—तीक्ष्ण, कठोर आदि पापयुक्त नाम से आये हुए दोषो का परिहार करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह नाम कायोत्सर्ग है। पाप स्थापना के द्वारा आये हुए अतिचार को दूर करने के लिए किया गया कायोत्सर्ग स्थापना कायोत्सर्ग है। सावद्य द्रव्य के सेवन से उत्पन्न हुए दोष के नाशार्थ किया गया कायोत्सर्ग द्रव्य कायोत्सर्ग है। पापयुक्त क्षेत्र के सेवन से हुए दोष के नाशार्थ जो कायोत्सर्ग है वह क्षेत्र कायोत्सर्ग है। सावद्य काल के आचरण से प्राप्त हुए दोष परिहरार्थ कायोत्सर्ग करना काल कायोत्सर्ग है और मिथ्यात्व आदि दोषो के दूर करने के लिए जो कायोत्सर्ग होता है वह भाव कायोत्सर्ग है।

दोनो हाथ लटकाकर जिनमुद्रा से निश्चल होकर शुभध्यान मे स्थिर होना कायोत्सर्ग है।

"कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट प्रमाण एक वर्ष है और जघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है। मध्यम कायोत्सर्ग के एक अन्तर्मुहूर्त से लेकर एक वर्ष के मध्यगत अनेको भेद हो जाते हैं[1]।" एक बार णमोकार मंत्र के उच्चारण मे तीन श्वासोच्छ्वास होते हैं। यथा—'णमो अरिहंताणं' पद बोलकर श्वास ऊपर खीचना और 'णमो सिद्धाण' पद बोलकर श्वास नीचे छोडना ऐसा एक श्वासोच्छ्वास हुआ। ऐसे ही 'णमो आइरियाण' और 'णमो उवज्झायाण' मे एक श्वासोच्छ्वास तथा 'णमो लोए' और 'सव्वसाहूणं' इस पद में एक श्वासोच्छ्वास ये तीन उच्छ्वास हो जाते है। आगे कायोत्सर्गों का प्रमाण बतलाने मे आचार्य उच्छ्वासो से गणना बताते हैं।

दैवसिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग मे १०८ उच्छ्वास होते है। अर्थात् वीर भक्ति के प्रारम्भ मे ३६ बार णमोकार मन्त्र जपने मे १०८ उच्छ्वास हो जाते है। रात्रिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग मे ५४ उच्छ्वास (१८ बार णमोकार जाप्य), पाक्षिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग मे ३०० उच्छ्वास, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण मे ४०० उच्छ्वास तथा सावत्सरिक प्रतिक्रमण मे ५०० श्वासोच्छ्वासो मे महामंत्र का ध्यान होता है।

पॉच महाव्रतो मे से किसी भी महाव्रत मे अतिचार लगने पर १०८ उच्छ्वास किये जाते है।

आहार के अनन्तर गोचर प्रतिक्रमण मे, ग्राम से ग्रामातर गमन मे, जिनेन्द्रदेव के पचकल्याण स्थानो की वदना मे, साधु की निषद्या वदना मे, तथा मल-मूत्र विसर्जन के अनन्तर मुनिराज २५ उच्छ्वास पूर्वक नौ बार णमोकार मत्र पढकर कायोत्सर्ग करते है। अर्थात् उपर्युक्त स्थान के कायोत्सर्ग मे २५ उच्छ्वास ही किये जाते है।

ग्रथ स्वाध्याय के प्रारम्भ और समापन मे तथा देव वदना मे जो कायोत्सर्ग होता है उसमे २७ उच्छ्वास किये जाते है। कायोत्सर्ग के अनन्तर साधु धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान मे स्थिर होते है। स्थिर मुद्रा के करने से जैसे अङ्गोपागो की सधियाँ भिद जाती है, वैसे ही कायोत्सर्ग के करने से कर्मधूलि झड जाती है।

---

१ सवच्छरमुक्कस्स भिण्णमुहुत्त जहण्णय होदि।
सेसा काओसग्गा होंति अणेगेसु ठाणेसु ॥१८४॥

—मूलाचार, पृ० ३३७।

कायोत्सर्ग के चार भेद

उत्थित-उत्थित, उत्थितनिविष्ट, उपविष्ट उत्थित और उपविष्ट-निविष्ट।

जो साधु खडे होकर जिनमुद्रा से कायोत्सर्ग कर रहे हैं और उनके परिणाम भी धर्मध्यान या शुक्लध्यान रूप है उनका वह कायोत्सर्ग उत्थित-उत्थित है।

जो कायोत्सर्ग मुद्रा मे तो खडे है किन्तु परिणाम मे आर्तध्यान अथवा रौद्रध्यान चल रहा है। उनका वह कायोत्सर्ग उत्थितनिविष्ट है।

जो बैठकर योगमुद्रा से कायोत्सर्ग कर रहे है किन्तु अन्तरग मे धर्मध्यान या शुक्लध्यान रूप उपयोग चल रहा है। उनका वह कायोत्सर्ग उपविष्ट उत्थित है।

जो बैठकर आर्तध्यान या रौद्रध्यान रूप परिणाम कर रहे है। उनका वह कायोत्सर्ग उपविष्टनिविष्ट कहलाता है।

इनमे से प्रथम और तृतीय अर्थात् उत्थित-उत्थित और उपविष्टोत्थित ये दो कायोत्सर्ग इष्टफलदायी है और शेष दो अनिष्ट फलदायी हैं।

जो प्राणायामविधि से मानसिक जाप्य करने मे असमर्थ है वे उपाशु रूप वचनोच्चारण पूर्वक वाचनिक जाप्य करते है किन्तु उसके फल मे अन्तर पड जाता है। यथा—

"कायोत्सर्ग मे वचन द्वारा ऐसा उच्चारण करें कि जिससे अपने पास बैठा हुआ भी कोई न सुन सके उसे उपाशु जाप्य कहते है। यह वाचनिक जाप्य भी किया जाता है। किन्तु इसका पुण्य सौ गुणा है तो मानसिक जाप्य का पुण्य हजारगुणा अधिक होता है[1]।"

श्री उमास्वामी आचार्य ने इस महामंत्र को हमेशा जपते रहने को कहा है—

उठते, बैठते, चलते, फिरते समय, घर से निकलते समय, मार्ग मे चलते समय, घर मे कुछ काम करते समय पद पद पर णमोकार को जो जपते रहते है उनके कौन से मनोरथ सफल नही हो जाते है ? अर्थात्

---

१. वाचाप्युपाशु व्युत्सर्गे कार्यो जप्य स वाचिक।
पुण्य शतगुण, चेत्त सहस्रगुणमाहवेत्॥ —अनगार, पृ० ६४३।

सम्पूर्ण वाछित सिद्ध हो जाते है ।"[1]

अन्यत्र भी कहा है—

"छीक आने पर, जँभाई लेने पर, खाँसी आदि आने पर या अकस्मात् कही वेदना के उठ जाने पर या चिन्ता हो जाने पर इत्यादि प्रसगो पर महामत्र का जाप करना चाहिए। सोते ममय और सोकर उठते ही णमोकार मत्र का स्मरण करना चाहिए[2] ।" कहने का तात्पर्य यही है कि हमेशा महामत्र का ध्यान व चितवन या उच्चारण करते रहना चाहिए। इससे विघ्नो का नाश होता है, शाति मिलती है तथा क्रम से ध्यान की सिद्धि होती है।

कायोत्सर्ग के ३२ दोष

अब कायोत्सर्ग के ३२ दोप वतलाते है—

१ **घोटक दोष**—घोड़े के समान एक पैर उठाकर अर्थात् एक पैर से भूमि को स्पर्श न करते हुए खडे होना।

२ **लता दोष**—वायु से हिलती लता के समान हिलते हुए कायोत्सर्ग करना।

३ **स्तभ दोष**—स्तभ का सहारा लेकर अथवा स्तभ के समान शून्य हृदय होकर कायोत्सर्ग करना।

४ **कुड्य दोष**—दीवाल आदि का आश्रय लेकर कायोत्सर्ग करना।

५ **माला दोष**—पीठादि-पाटा आदि के ऊपर आरोहरण कर अथवा मस्तक के ऊपर कोई रज्जु वगैरह वस्तु का आश्रय लेकर खडे होना।

६ **शबरी दोष**—भिल्लनी के समान गुह्य अग को हाथो से ढक कर या जघा से जघन को पीडित करके खडे होना।

---

१ उत्तिष्ठन् निपतन् पतन्नपि धरापीठे लुठन् वा स्मरेत् ।
जाग्रद्वा प्रहसन स्वपन्नपि वने बिभ्यन्निषीदन्नपि ।।
गच्छत् वर्त्मनि वेश्मनि प्रतिपद कर्म प्रकुर्वन्नपि ।
य पचप्रभुमत्रमेकमनिश किं तस्य नो वाछित ।।

—णमोकारमत्रमाहात्म्य

२ क्षुतार्ती भयजृ भेष्टार्थारम्भस्खलने वुधै ।
शयने विस्मयादौ च स्मर्तव्यो व्रजिनो जिन ।।५९।।—आचारसार

७ **निगड दोष**—अपने दोनो पैरो को बेडी से जकडे हुए की तरह पैरो मे बहुत अतराल करके खड़े होना।

८ **लंबोत्तर दोष**—नाभि से ऊर्ध्व भाग को लंबा करके अथवा कायोत्सर्ग मे स्थित हुए अधिक ऊँचे होना या झुकना।

९ **स्तनदृष्टि दोष**—अपने स्तन भाग पर दृष्टि रखना।

१० **वायस दोष**—कौवे के समान इधर-उधर देखना।

११ **खलीन दोष**—जैसे घोड़ा लगाम लग जाने से दाँतो को घिसता-कटकट करता हुआ सिर को ऊपर नीचे करता है वैसे ही दाँतो को कट-कटाते हुए सिर को ऊपर नीचे करना।

१२ **युग दोष**—जैसे कंधे के जुये से पीड़ित बैल गरदन फैला देता है वैसे ही ग्रीवा को लम्बी करके कायोत्सर्ग करना।

१३ **कपित्थ दोष**—कैथ की तरह मुट्ठी बाँध कर कायोत्सर्ग करना।

१४. **शिरःप्रकंपित दोष**—कायोत्सर्ग करते समय सिर हिलाना।

१५ **मूक दोष**—मूक मनुष्य के समान मुख विकार करना, नाक सिकोडना।

१६ **अगुलि दोष**—कायोत्सर्ग करते समय अगुलियो से गणना करना।

१७ **भ्रूविकार दोष**—कायोत्सर्ग करते समय भृकुटियो को चढाना या विकार युक्त करना।

१८ **वारुणीपायी दोष**—मदिरापायी के समान झूमते हुए कायोत्सर्ग करना।

१९ से २८ **दिशावलोकन दोष**—कायोत्सर्ग करते समय पूर्वादि दिशाओ का अवलोकन करना। इसमे दश दिशा सम्बन्धी दश दोष हो जाते है।

२९ **ग्रीवोन्नमन दोष**—कायोत्सर्ग करते समय गर्दन को ऊँची उठाना।

३० **प्रणमन दोष**—कायोत्सर्ग मे गर्दन अधिक नीचे झुकाना।

३१ **निष्ठीवन दोष**—थूकना, श्लेष्मा आदि निकालना।

३२ **अगामर्श दोष**—कायोत्सर्ग करने मे शरीर का स्पर्श करना।

इन बत्तीस दोषो को छोडकर धीर साधु दु खो का नाश करने के लिए माया से रहित, विशेषतासहित, अपनी शक्ति और अवस्था—उम्र के अनुरूप कायोत्सर्ग करते है। ■

५. नित्य नैमित्तिक क्रियायें

दैनिक चर्या

साधुओं के लिए अहोरात्र संबंधी जो अट्ठाईस कृतिकर्म या कायोत्सर्ग बतलाये गये हैं। साधु किस-किस कृतिकर्म का प्रयोग किस-किस काल में करते हैं सो देखिये—

निज आत्मस्वरूप में चित्त का स्थिर हो जाना इसका नाम योग अथवा समाधि है। इस योग की सिद्धि के लिए पहले उसकी योग्यता उत्पन्न करने हेतु जो क्रियायें पाली जाती हैं उन्हें परिकर्म कहते हैं। ये साधु इन परिकर्म के स्वाध्याय आदि भेदों का प्रतिदिन पालन करते ही रहते हैं। क्योंकि परिकर्म के बिना योग की सिद्धि असंभव है और योग के बिना आत्मस्वरूप की प्राप्ति भी असंभव ही है।

स्वाध्याय विधि आदि

परिकर्म का प्रथम भेद जो स्वाध्याय है उसका काल और उसकी विधि बताते हैं। स्वाध्याय के काल चार हैं—गोसर्गिक, आपराह्णिक, प्रादोषिक और वैरात्रिक अथवा इन्हें पौर्वाह्णिक, अपराह्णिक, पूर्वरात्रिक और अपररात्रिक नामों से भी जाना जाता है। सूर्योदय से दो घड़ी (४८ मिनट) बाद से लेकर मध्याह्न के दो घड़ी पहले तक पौर्वाह्णिक स्वाध्याय का काल है। मध्याह्न के दो घड़ी बाद से लेकर सूर्यास्त के दो घड़ी पहले तक अपराह्णिक स्वाध्याय का काल है। सूर्यास्त के दो घड़ी बाद से अर्द्धरात्रि के दो घड़ी पहले तक पूर्वरात्रिक स्वाध्याय का काल है और अर्धरात्रि से दो घड़ी बाद से लेकर सूर्योदय के दो घड़ी पहले तक अपररात्रिक स्वाध्याय का काल है।

निद्रा समाप्त कर उठने के बाद सबसे प्रथम अपररात्रिक स्वाध्याय का विधान है। "साधु लघु श्रुतभक्ति और लघु आचार्य भक्ति करके स्वाध्याय की प्रतिष्ठापना करते हैं पुनः स्वाध्याय करके लघु श्रुत भक्ति के द्वारा निष्ठापन कर देते हैं।[1]"

---

1 "अथ अपररात्रिकस्वाध्यायप्रारंभक्रियायां श्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।" पुनः सामायिकदंडक कायोत्सर्ग और थोस्सामिपूर्वक कृतिकर्म करके "अर्हद्वक्त्रप्रसूत" इत्यादि लघुश्रुत भक्ति पढ़ें। अनंतर "अपररात्रिकस्वाध्यायप्रारंभक्रियायां आचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" ऐसी प्रतिज्ञा करके

भावशुद्धि—यश, पूजा, पुरस्कार वा पारितोषिक की इच्छा न रखते हुए अहंकार रहित और श्रुतज्ञान रूपी अमृत के आनद मे मग्न बुद्धि का होना भाव शुद्धि है।

इस तरह चारो प्रकार की शुद्धियो को करके तथा अपने हाथ-पैरो को शुद्धकर शुद्धदेश मे स्थित होकर भक्तिपूर्वक विधि के अनुसार क्रिया करके साधु पर्यंकासन से बैठ जाते हैं और आचार्य के पादकमलो को नमस्कार करके अपने कक्ष आदि अगो को स्पर्श न करते हुए अजुलि जोडकर सूत्रो का अध्ययन करते है। काल के अनुसार ही वाचना स्वाध्याय करके विसर्जन कर देते है। वाचना नाम के स्वाध्याय मे ही यह विधि है, किंतु पुराण, आराधना, पचसंग्रह आदि शास्त्रो के स्वाध्याय मे इस विधि की आवश्यकता नही है। गणधरदेव अभिन्नदशपूर्वी, प्रत्येक बुद्ध और श्रुतकेवलियो द्वारा कथित ग्रन्थ सूत्र कहलाते हैं। ऐसे सूत्र के अध्ययन मे ही द्रव्यादिशुद्धि की आवश्यकता मानी है।

"इस विधि का उल्लघन करके जो सूत्रो का स्वाध्याय करते हैं वे अनेक प्रकार के रोग, असमाधि, स्वाध्याय भंग आदि अनेक दु खो को प्राप्त करते हैं[1]।"

संशय को दूर करने के लिए प्रहास, उद्धत्ता को छोड़कर तथा बडप्पन न दिखलाते हुए बडी नम्रता के साथ जो पूछना है वह पृच्छना स्वाध्याय है।

जाने हुए तत्वो का वार-बार चितवन करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है।

शब्दो के उच्चारण के दोषो से रहित बार-बार पढना, पाठ करना वा घोकना (रटना) आम्नाय नाम का स्वाध्याय है।

द्वादशाग श्रुतज्ञान का अथवा उसके एकदेश का उपदेश देना धर्मोपदेश नाम का स्वाध्याय है।

स्वाध्याय से मुनियो की बुद्धि तीक्ष्ण होती है, अन्तरग प्रसन्न होता है। और असख्यात-गुणश्रेणी रूप से कर्मों की निर्जरा होती है। महान् सिद्धात ग्रन्थ धवला मे भी कहा है—

"व्याख्यान करने वालो और सुनने वालो को भी द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धि से व्याख्यान करने या सुनने मे प्रवृत्ति

---

१ विधिमेनमतिक्रम्य सूत्र . शुश्रूषुराप्नुयात् ।
रुजासमाधिस्वाध्यायभगार्तिन्निष्फलस्य च ॥ —आचारसार, पृ० ९७।

करनी चाहिये। उनमे ज्वर कुक्षि रोग, शिरोरोग, कुत्सित स्वप्न, रुधिर, विष्ठामूत्रलेप, अतिसार और पीव का वहना, इत्यादिको का शरीर मे न रहना द्रव्यशुद्धि है। व्याख्याता से अधिष्ठित प्रदेश से चारो ही दिशाओं मे अट्ठाईस हजार (धनुष) प्रमाण क्षेत्र मे विष्ठा मूत्र, हड्डी, केश, नख और चमडे आदि के अभाव को तथा छह अतीत वाचनाओ से (?) समीप मे [या दूरी तक] पचेंद्रिय जीव के शरीर सबधी हड्डी, चमडा, मास और रुधिर के सवध के अभाव को क्षेत्रशुद्धि कहते है। बिजली, इन्द्रधनुष, सूर्य-चन्द्र का ग्रहण, अकालवृष्टि, मेघगर्जन, मेघो के समूह से आच्छादित दिशा मे, दिशादाह, धूमिकापात (कुहरा), सन्यास, महोपवास, नदीश्वरमहिमा और निजमहिमा इत्यादि के अभाव को कालशुद्धि कहते हैं[1]।"

यहाँ कालशुद्धि करने के विधान को कहते हैं। वह इस प्रकार है—"पश्चिम-रात्रि के स्वाध्याय को समाप्त करके बाहर निकल कर प्रासुक भूमिप्रदेश मे कायोत्सर्ग से पूर्वाभिमुख स्थित होकर नौ गाथाओ के उच्चारण काल से पूर्व दिशा को शुद्ध करके फिर प्रदक्षिण रूप से पलट कर इतने ही काल से दक्षिण, पश्चिम व उत्तर दिशाओ को शुद्ध कर लेने पर ३६ गाथाओ के उच्चारण काल से अथवा १०८ उच्छ्वास काल से कालशुद्धि समाप्त होती है। अपराह्न काल मे भी इसी प्रकार से काल शुद्धि करना चाहिये। विशेष इतना है कि इस समय की कालशुद्धि प्रत्येक दिशा मे ७-७ गाथाओ द्वारा ८४ उच्छ्वासो मे समाप्त होती है। पश्चात् सूर्यास्त होने से पहले क्षेत्रशुद्धि करके सूर्यास्त हो जाने पर काल-शुद्धि पूर्ववत् करना चाहिये। इसमे प्रत्येक दिशा मे ५-५ गाथा के उच्चारण से २० गाथाओ द्वारा ६० उच्छ्वास मे यह काल शुद्धि होती है। अपररात्रि—रात्रि के पिछले भाग मे वाचना नही है। क्योकि उस समय क्षेत्रशुद्धि करने का कोई उपाय नही है[2]।" अवधिज्ञानी, मन.पर्ययज्ञानी, समस्त अङ्गश्रुत के धारक, आकाश स्थित चारण तथा मेरु कुलाचलो मे स्थित चारण ऋषियो के अपर रात्रिक वाचना भी है क्योकि वे क्षेत्र

---

१. एत्थ वक्खाणतेहिं सुणतेहिं वि दव्वखेत्तकालभावसुद्धीहिं वक्खाणपढणवावारो कायव्वो। तत्र ज्वरकुक्षिशिरोरोग । —धवला, पृ० ९।

२ पच्छिमरत्तियसज्झाय खमाविय बहिं णिक्कलिय पासुगे भूमिपदेसे काओसग्गेण पुव्वाहिमुहो ॰। —धवला, पु० ९, पृ० २५३ से ।

शुद्धि से रहित है अर्थात् भूमि पर न रहने से उन्हे क्षेत्र शुद्धि की आवश्यकता नही होती।

राग, द्वेष, अहकार, आर्त व रौद्र ध्यान से रहित, पाच महाव्रतो से युक्त, तीन गुप्तियो से रक्षित, तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि आचार से वृद्धि को प्राप्त साधु के भावशुद्धि होती है।

यहाँ उपयोगी श्लोक इस प्रकार है—

यम पटह का शब्द सुनने पर, अङ्ग से रक्त स्राव बहने पर, अतिचार के होने पर तथा दाताओ के अशुद्ध काय होते हुए भोजन कर लेने पर स्वाध्याय नही करना चाहिये।

तिल मोदक, चिउडा, लाई और पुआ आदि चिक्कण एव सुगधित भोजनो के खाने पर तथा दावानल का धुआ होने पर अध्ययन नही करना चाहिये।

एक योजन के अन्दर सन्यास विधि के होने पर महोपवास विधि आवश्यक क्रिया एव केशो का लोच होने पर अध्ययन नही करना चाहिये।

आचार्य का स्वर्गवास होने पर सात दिन तक, योजन मात्र मे तीन दिन तक और अति दूर मे होने पर एक दिन तक अध्ययन का निषेध है।

प्राणी के तीव्र दु ख से मरणासन्न होने पर या अत्यन्त वेदना से तड़फडाने पर तथा एक निवर्तन (एक बीघा या गुंठा) मात्र मे तिर्यञ्चो का सचार होने पर अध्ययन नही करना चाहिए।

उतने मात्र मे स्थावरकाय जीवो के घातरूप कार्य मे प्रवृत्त होने पर, क्षेत्र की अशुद्धि होने पर, दूर से दुर्गन्ध आने पर अथवा अत्यत सडी गध के आने पर ठीक अर्थ समझ मे न आने पर (?) अथवा अपने शरीर के शुद्धि से रहित होने पर मोक्षसुख के चाहनेवाले व्रती पुरुष को सिद्धान्त का अध्ययन नही करना चाहिए।

मल छोडने की भूमि से सौ अरत्नि प्रमाण दूर तनुसलिल अर्थात् मूत्र के छोडने मे भी इस भूमि से पचास अरत्नि दूर, मनुष्य शरीर के लेशमात्र अवयव के स्थान से पचास धनुष, तथा तिर्यंचो के शरीर सबधी अवयव के स्थान से उससे आधी मात्र अर्थात् पच्चीस धनुष प्रमाण भूमि को शुद्ध करना चाहिए।

व्यतरो के द्वारा भेरीताड़न करने पर, उनकी पूजा का सकट होनेपर, कर्षण के होनेपर, चाण्डाल बालको के समीप मे झाडा-बुहारी करने पर अग्नि जल व रुधिर की तीव्रता होनेपर, तथा जीवो के मास व हड्डियो के निकाले जाने पर क्षेत्र की विशुद्धि नही होती जैसा कि सर्वज्ञो ने कहा है।

/ क्षेत्र की शुद्धि करने के पश्चात् अपने हाथ और पैरो को शुद्ध करके तदनन्तर विशुद्ध मन युक्त होता हुआ प्राशुक देश मे स्थित होकर वाचना को ग्रहण करें।

वह साधु बाजू और काख आदि अपने अग का स्पर्श न करता हुआ उचित रीति से अध्ययन करे और यत्नपूर्वक अध्ययन करके पश्चात् शास्त्रविधि से वाचना को छोड दें।

"साधु पुरुषो ने बारह प्रकार के तप मे स्वाध्याय को श्रेष्ठ कहा है। इसीलिए विद्वानो को स्वाध्याय न करने के दिनो को जानना चाहिए।

पर्वदिनो (अष्टमी व चतुर्दशी आदि) नदीश्वर के श्रेष्ठ महिमदिवसो अर्थात् अष्टाह्निक दिनो मे और सूर्य चन्द्र का ग्रहण होनेपर विद्वान् व्रती को अध्ययन नही करना चाहिये।

अष्टमी मे अध्ययन गुरु और शिष्य दोनो के वियोग को करता है। पूर्णमासो के दिन किया गया अध्ययन कलह और चतुर्दशी के दिन किया गया अध्ययन विघ्न को करता है।

यदि साधु जन कृष्ण चतुर्दशी और अमावस्या के दिन अध्ययन करते है तो विद्या और उपवासविधि सब विनाशवृत्ति को प्राप्त होते है।

मध्याह्न काल मे किया गया अध्ययन जिनरूप को नष्ट करता है। दोनो सध्याकालो मे किया गया अध्ययन व्याधि को करता है तथा मध्यम रात्रि को किये गये अध्ययन से अनुरक्त जन भी द्वेष को प्राप्त होते है।

अतिशय तीव्र दु ख से युक्त और रोते हुए प्राणियो को देखने या समीप मे होने पर, मेघो की गर्जना व बिजली के चमकने पर और अति-वृष्टि के साथ उल्कापात होने पर (अध्ययन नही करना चाहिये)।

सूत्र और अर्थ की दिशा के लोभ से किया गया द्रव्यादि शुद्धि

का अतिक्रमण असमाधि[1] अर्थात् सम्यक्त्वादि की विराधना, अस्वाध्याय अर्थात् शास्त्रादिकों का अलाभ, कलह, व्याधि और वियोग को करता है।

"विनय से पढ़ा गया श्रुत यदि किसी प्रकार भी प्रमाद से विस्मृत भी हो जाता है तो पर भव मे वह उपस्थित हो जाता है। और केवलज्ञान को भी प्राप्त कराता है।"

भगवान् कुंदकुंद देव भी कालशुद्धि मे पढ़ने योग्य ग्रंथ और अकाल मे भी पढने योग्य ग्रन्थो का विभाजन कर रहे हैं—

"गणधर देव द्वारा कथित प्रत्येक बुद्ध, अभिन्नदश पूर्वी और श्रुतकेवली ऐसे महर्षियो द्वारा प्रणीत ग्रंथ सूत्र कहे जाते हैं। विरत-मुनिवर्ग और स्त्रीवर्ग-आर्यिकाओ को इन सूत्रग्रंथो का पठन अस्वाध्याय काल मे नही करना चाहिये इनसे अतिरिक्त जो ग्रन्थ हैं उनको अस्वाध्यायकाल कालशुद्धि बिना अकाल मे भी पढ सकते हैं। वे ग्रन्थ कौन हैं ? आराधना शास्त्र मरण को कहने वाले शास्त्र भगवती आराधना आदि), पंच

---

१. तपसि द्वादशसंख्ये स्वाध्याय श्रेष्ठ उच्यते सद्भि ।
अस्वाध्यायदिनानि ज्ञेयानि ततोऽत्र विद्वद्भि ॥१०५॥
पर्वसु नदीश्वरवरमहिमादिवसेषु चोपरागेषु ।
सूर्याचन्द्रमसोरपि नाध्येय जानता व्रतिना ॥१०६॥
अष्टम्यामध्ययन गुरुशिष्यद्वयवियोगमावहति ।
कलह तु पौर्णमास्या करोति विघ्न चतुर्दश्या ॥१०७॥
कृष्णचतुर्दश्या यद्यधीयते साधवो ह्यमावस्याम् ।
विद्योपवासविधयो विनाशवृत्ति प्रयान्त्यशेष सर्वे ॥१०८॥
मध्याह्ने जिनरूप नाशयति करोति सध्ययोर्व्याधि ।
तुष्यतोऽप्यप्रियता मध्यमरात्रौ समुपयाति ॥१०९॥
अतितीव्रदु खिताना रुदता सदर्शने समीपे च ।
स्तनयित्नुविद्युदभ्रेष्वतिवृष्ट्या उल्कनिर्घाते ॥११०॥
.. ..

दव्वादिवदिक्कमण करोदि सुत्तत्थसुत्तलोहेण ।
असमाहिमसज्झाय कलह वाहि वियोग च ॥११५॥
विणयेण सुदमधीत किह वि पमादेण होदि विस्सरिद ।
तमुवट्ठादि परभवे केवलणाण च आवहदि ॥११६॥
—धवला पु०, ९, पृ० २५३ से २५९ ।

संग्रह आदि शास्त्र, स्तुति आदि के प्रतिपादक शास्त्र, प्रथमानुयोग शास्त्र द्वादशानुप्रेक्षा आदि के वर्णन करने वाले शास्त्र इनको अकाल मे भी पढ सकते है[1]।"

स्वाध्याय के समय विनय शुद्धि कैसी होनी चाहिये ?

"पर्यंकासन से बैठकर पिच्छिका के द्वारा ग्रन्थ, भूमि आदि का प्रतिलेखन करके पिच्छिका-सहित अजलि जोडकर प्रणाम करके सूत्र और अर्थ मे उपयोग स्थिर करते हुए अपनी शक्ति के अनुसार पढना चाहिये[2]।"

वर्तमान काल मे जो भी ग्रन्थ है उनमे उपर्युक्त सूत्रका लक्षण घटित न होने से वे सूत्र नही हैं ऐसा नही समझना। धवला और जयधवला सिद्धात ग्रन्थो मे इन षट्खडागम सूत्रो को और कसायपाहुड सूत्रो को स्वय श्रीवीरसेनाचार्य ने सूत्ररूप प्रामाणिक सिद्ध किया है। यथा—"जो गणधरदेव या प्रत्येकबुद्ध आदि के द्वारा कहा गया है" वह सूत्र है इस वचन के अनुसार ये एक सौ अस्सी गाथायें (कसाय पाहुड) सूत्र नही हो सकती हैं क्योकि गुणधर भट्टारक न गणधर हैं, न प्रत्येकबुद्ध है, न श्रुत-केवली है और न अभिन्नदशपूर्वी ही है। इसपर समाधान करते हुए

---

१ सुत्त गणधरकधिद तहेव पत्तेयबुद्धिकथिद च।
सुदकेवलिणा कथिद अभिन्नदसपुव्वकधिद च ॥८०॥
त पढिदुमसज्झाये णो कप्पदि विरदइत्थिवग्गस्स।
एत्तो अण्णो गथो कप्पदि पढिदुमसज्झाए ॥८१॥

टीका—तत्सूत्र पठितुमस्वाध्याये न कल्प्यते न युज्यते विरतवर्गस्य सयतसमूहस्य स्त्रीवर्गस्य चार्यिकावर्गस्य च। इतोऽस्मादन्यो ग्रन्थ कल्प्यते पठितुम-स्वाध्यायेऽन्यत्पुन सूत्र कालशुद्धयादि अभावेऽपि युक्त पठितुमिति ॥८१॥
किं तदन्यत्सूत्रमित्यत आह—
आराहणणिज्जुत्ती मरणविभत्ती य सगहत्थुदिओ।
पच्चक्खाणावासयधम्मकहाओ य एरिसओ ॥८२॥
—मूलाचार मू० पृ० २३२, २३३

२ पलियकणिसेज्जगदो पडिलेहिय अजलीकदपणामो।
सुत्तत्थजोगजुत्तो पढिदव्वो आदसत्तीए ॥८४॥
—मूलाचार पृ० २३५

आचार्य वीरसेन कहते है कि—नही, क्योकि निर्दोषत्व, अल्पाक्षरत्व और सहेतुकत्वरूप प्रमाणो द्वारा गुणधर भट्टारक की गाथाओ की सूत्र के साथ समानता है, अर्थात् गुणधर भट्टारक आचार्य की गाथाओ मे भी सूत्रत्व पाया जाता है[1] ।"

अन्यत्र भी षट्खडागम और कषायप्राभृत की सूत्र सज्ञा है। यथा—

शका—तो फिर इस युग के आचार्यों द्वारा कहे गये सत्कर्म प्राभृत (षड्खडागम) और कषायप्राभृत को सूत्रत्व कैसे प्राप्त हो सकेगा ?

समाधान—नही, क्योकि जिनका अर्थरूप से तीर्थंकरो ने प्रतिपादन किया है और गणधर देव ने जिनकी ग्रन्थ रचना की है ऐसे बारह अंग आचार्य परपरा से निरतर चले आ रहे है। परतु काल के प्रभाव से उत्तरोत्तर बुद्धि के क्षीण होने पर और उन अगो को धारण करने वाले योग्य पात्र के अभाव मे उत्तरोत्तर क्षीण होते हुए आ रहे है। इसलिये जिन आचार्यो ने आगे श्रेष्ठ बुद्धिवाले पुरुषो का अभाव देखा और जो अत्यन्त पापभीरु थे और जिन्होने गुरु परपरा से श्रुतार्थ ग्रहण किया था उन आचार्यो ने तीर्थ विच्छेद के भय से उस समय अवशिष्ट रहे हुए अग सबधी अर्थ को पोथियो मे लिपिबद्ध किया, अतएव उनमे असूत्रत्व नही आ सकता है। अर्थात् वे षट्खडागम और कसायपाहुड ग्रन्थ सूत्र ही है[2] ।"

इन सूत्रग्रन्थो के स्वाध्याय का अधिकार मुनि और आर्यिकाओ को ही है। जैसा कि ऊपर मूलाचार का प्रमाण उद्धृत किया गया है तथा

---

१ "सुत्तगणहरकहिय" इत्यादि—इदि वयणादो णेदाओ गाहाओ सुत्त गणहर-पत्तेयबुद्धसुदकेवलि-अभिण्णदसपुव्वीसु गुणहरभडारयस्स अभावादो, ण, णिद्दोसप्पक्खरसहेउपमाणेहिं सुत्तेण सरिसत्थमत्थि त्ति गुणहराइरियगाहाण पि सुत्तत्तुवलभादो ।" —जयधवला प्र० पु० पृ० १५४

२ आइल्लाइरिय कहियाण सतकम्मकसायपाहुडाण कथ सुत्तत्तणमिति चे ? ण, तित्थयरकहियत्थाण गणहरदेवकयगथरयणाण गथरयणाण बारहणाण आइरियपरपराए णिरतरमागयाण जुगसहावेण बुद्धीसु ओहट्टतीसु भायणा-भावेण पुणो ओहट्टिय आगयाण पुणो सुट्ठुबुद्धीण खय दट्ठूण तित्थवोच्छेद-भयेण वज्जभीरुहि गिहिदत्थेहि आइरिएहि पोत्थएसु चडावियाण असुत्तत्तण-विरोहादो ।" —धवला पुस्तक १, पृ० २२२ ।

सुलोचना आर्यिका का उदाहरण भी है—"वह सुलोचना आर्यिका भी ग्यारह अंग के ज्ञान को धारण करने वाली हो गई थी[1]।"

क्षुल्लक, ऐलक, श्रावक, आदि को सिद्धात ग्रन्थ पढने का अधिकार नही है। यथा—

"दिन मे प्रतिमायोग धारण करना—दिन मे नग्न होकर कायोत्सर्ग करना, वीरचर्या—मुनि के समान गोचरी करना, त्रिकालयोग—गर्मी मे पर्वत के शिखर पर, बरसात मे वृक्ष के नीचे, और सर्दी मे नदी के किनारे ध्यान करना, सिद्धात ग्रन्थो का अध्ययन और रहस्य—प्रायश्चित्त ग्रन्थो का अध्ययन, इतने कार्यो मे देशविरती, (क्षुल्लक-ऐलक पर्यंत) श्रावको को अधिकार नही है[2]।"

"कुछ क्षण अर्थात् अधिक-से-अधिक चार घडी प्रमाण जो मध्यरात्रि का काल स्वाध्याय के लिए अयोग्य है उतने कालमात्र (डेढ घटे मात्र) योगनिद्रा से श्रम दूर करके—शरीर को विश्राति देकर साधु जागृत हो जाते हैं। और अपररात्रिक स्वाध्याय प्रारभ कर देते हैं। विधिवत् स्वाध्याय करके सूर्योदय होने के दो घडी पहले विसर्जित कर देते है[3]।" पुन बाहर निकलकर प्रासुक प्रदेश मे खडे होकर दिग्दाह, उल्कापात, मेघ गर्जनादि अकाल से रहित देखकर पूर्वाह्न स्वाध्याय हेतु दिक् शुद्धि करते हैं। अर्थात् पूर्व दिशा मे मुख करके कायोत्सर्ग मुद्रा से २७ उच्छ्वासो मे ९ बार जाप्य करते है पुन इसी प्रकार दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा की शुद्धि करते हैं।

---

१ एकादशागभृज्जाता सार्यिकापि सुलोचना ॥

—हरिवश पु० पृ० २१३

२ दिणपडिमवीरचरियातियोलजोगेसु णत्थि अहियारो।
सिद्धत रहस्साण वि अज्झयण देसविरदाण ॥

—वसुनन्दिश्रावकाचार पृ० ११२

"वीरचर्या दिनच्छाया सिद्धाते निह्रासश्रुतौ"।
त्रैकाले, योऽत्रयोगेऽस्य विद्यते नाधिकारिता ॥१८८॥

—गुण० श्राव०

३ क्लम नियम्य क्षणयोगनिद्रया लात निशीथे घटिकाद्वयाधिके।
स्वाध्यायमत्यस्य निशाद्विनाडिकाशेषे प्रतिक्रम्य च योगमुत्सृजेत् ॥

—अनगार ध० पृ० ६३२

प्रतिक्रमण क्रिया

अनतर वे साधु पश्चिम रात्रि मे[1] रात्रिक प्रतिक्रमण करते हैं। उस समय आचार्य के पास सभी साधु विनय से बैठकर "जीवे प्रमादजनिता" इत्यादि पाठ बोलते हुए करते है। इसमे सिद्ध भक्ति, प्रतिक्रमण भक्ति, वीर भक्ति और चतुर्विशति भक्ति ऐसे चार भक्तिया होती है। वीर भक्ति के प्रारभ मे ५४ उच्छ्वास मे १८ वार णमोकार मत्र का जाप किया जाता है।

रात्रि योग निष्ठापना—पुन रात्रि योग निष्ठापना करते है अर्थात् सायकाल प्रतिक्रमण के बाद जो रात्रि योग ग्रहण किया था (मै आज रात्रि मे इसी वसतिका मे निवास करूँगा) इस रात्रि योग का योग भक्ति द्वारा विसर्जन कर देते है[2]।" उसकी विधि यह है कि विधिवत्[3] कायोत्सर्ग करके योग भक्ति पढते हैं। पुन सभी साधु लघु आचार्य भक्ति के द्वारा आचार्य भक्ति पढकर आचार्य वदना करते है। यदि आचार्य प्रत्यक्ष मे नही है तो परोक्ष मे ही वदना करते है।

इतने मे रात्रि की शेष रही दो घडी (४८ मिनट) का काल व्यतीत हो जाता है। पुन सूर्योदय के समय साधु देववदना अर्थात् सामायिक क्रिया को विधिवत् करते है।

देववंदना प्रयोग विधि

त्रिकाल देववंदना—सामायिक करने मे चैत्यभक्ति और पचगुरु भक्ति इन दो भक्तियो का विधिवत् प्रयोग किया जाता है। पुन सर्व-दोष विशुद्धि के लिए प्रिय भक्ति—समाधि भक्ति पढी जाती है।

इस देववदना मे कृतिकर्म के छ भेद होते है—

स्वाधीनता, त्रि परीति, त्रयीनिपद्या, त्रिवार कायोत्सर्ग, द्वादश

---

१ पश्चिमरात्रौ प्रतिक्रमणे क्रियाकर्माणि चत्वारि"।

—मूला० टीका० पृ०४५५

२ "योगम्–अद्य रात्रावत्र वसत्या स्थातव्यमिति नियमविशेष योगिभक्त्या त्यजेच्च निष्ठापयेत्।" —अनगार ध० पृ० ६३५

३ "अथ रात्रियोगनिष्ठापनक्रियाया पूर्वा योगभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" ऐसी विज्ञापना करके "सामायिक दण्डक, कायोत्सर्ग और थोस्सामि" "प्रावृट्काले सविद्युत्" इत्यादि लघु योग भक्ति पढते है।

आवर्त और चार शिरोनति इस प्रकार कृतिकर्मरूप वदना के छह कृति अथवा अंग हैं[1]।"

सिद्धात ग्रन्थ मे भी कहा है—

आदाहीण पदाहीण तिक्खुत्त तिऊणद चदुस्सिरं वारसावत्त चेदि[2]।"

१ वदना करने वाले की स्वाधीनता, २. तीन प्रदक्षिणा, ३ तीन भक्ति सवधी तीन कायोत्सर्ग, ४ तीन निषद्या—ईर्यापथ कायोत्सर्ग के अनंतर बैठकर आलोचना करना और चैत्यभक्ति सवधी विज्ञापन करना, चैत्यभक्ति के अन्त मे बैठकर आलोचना करना और पचमहागुरु-भक्ति सम्बन्धी क्रिया विज्ञापन करना, पचमहागुरुभक्ति के अन्त मे बैठ कर आलोचना करना, ५ चार शिरोनति, और ६ वारह आवर्त। यही सब आगे किया जाता है।

"जिणसिद्धाइरियवहुसुदेसु वदिज्जमाणेसु ज कीरइ कम्म त किदि-यम्म णाम। तस्स आदाहीण-तिक्खुत्त-पदाहिण-तिओणद-चदुसिर-वार-सावत्तादिलक्खण विहाण फल च किदियम्म वण्णदि[3]।"

जिन, सिद्ध, आचार्य और बहुश्रुत की वदना करने मे जो क्रिया की जाती है उसे कृतिकर्म कहते है। उस कृतिकर्म के आत्माधीनता, तीन वार प्रदक्षिणा, तीन अवनति, चार नमस्कार और बारह आवर्त आदि रूप लक्षण, भेद तथा फल का वर्णन कृतिकर्म प्रकीर्णक करता है।

---

१ त्रिसध्य वदने युञ्ज्याच्चैत्यपचगुरुस्तुती।
प्रियभक्ति बृहद्भक्तिष्वते दोपविशुद्धये॥
स्वाधीनता परीतिस्त्रयी निषद्या त्रिवारमावर्ता।
द्वादश चत्वारि शिरास्येव कृतिकर्म पोढेष्टम्॥

—अनगार धर्मामृत पृ० ६३७

२ धवला

३ ज त किरियकम्म णाम ॥२६॥ तस्य अत्यविवरण कस्सामो। तमादाहीण पदाहीण तिक्खुत्त तिओणद चदुस्सिर वारसावत्त त सव्व किरियाकम्म णाम ॥२७॥ त किरियाकम्म छव्विह आदाहोणादि भेएण। तत्थ किरिया-कम्मे कीरमाणे अप्पायत्तत्त अपरवसत्त आदाहीण णाम। वदणकाणे गुरु-जिण जिणहराण पदक्खोण काऊण णमसण पदाहीण णाम पदाहीणणम-सणादिकिरियाण तिण्णि वारकरण तिक्खुत्त णाम। अथवा एक्कम्मि चेव दिवसे जिणगुरुरिसिवदणाओ तिण्ण वार किज्जतित्ति तिक्खुत्त णाम—ओणद

पराधीन जीव हमेशा ही दीन बना रहता है अत चैत्यवदना आदि कार्यो मे स्वाधीनता अवश्य चाहिए। "श्रुतज्ञानरूपी[1] चक्षु से अपनी

अवनमन भूमावासनमित्यर्थ , त च तिण्णि वार कीरदित्ति तिओणदमिदि भणिद। त जहा, सुद्धमणो धोदपादो जिणिददसणजणिदहरिसेण पुलइदगो सतो ज जिणस्स वइसदि तमेगमोणद, जमुट्ठिऊण जिणिदादीण विणत्ति काऊण वइसण त विदियमोणद पुणो उट्ठिय सामाइयदडएण अप्पसुद्धि-काऊण सकसायदेहुस्सग करिय जिणाणतगुणे झाइय चउवीसतित्थयराण वदण काऊण पुणो जिणजिणालयगुरवाण सथव काऊण ज भूमिए वइसण त तदियमोणद। एक्केक्कम्मि किरियाकम्मे कीरमाणे तिण्णि चेव ओण-मणाणि होति। सव्वकिरियाकम्म चदुसिर होदि। त जहा, सामाइयस्स आदीए जिणिद पडिसीसणमण तमेग सिर, तस्सेव अवसाणे ज सीसणमण त विदिय सीस। थोस्सामि दडयस्स आदीए ज सीसणमण त तदिय सिर। तस्सेव अवसाणे ज णमण त चउत्थ सिर। एवमेग किरियाकम्म चदुसिर होदि। अथवा पुव्वपि किरियाकम्म चदुसिर चदुप्पहाण होदि। अरहत-सिद्धसाहुधम्मे चेव पहाणभूदे काऊण सव्वकिरिया कम्माण पउत्तिदसणादो। सामाइयथोस्सामि दडयाणमादीए अवसाणे च मणवयणकायाण विसुद्धि-परावत्तण वारा वारस हवति तेणेग किरियाकम्म वारसावत्तमिदि भणिद।"

—कर्म० अनु० ध० आ० प० ८४१

—जयधवला प्र० पु० टिप्पणी पृ० ११८

"अर्हत्सिद्धाचार्यबहुश्रुतसाध्वादिनवदेवतावदनानिमित्त आत्माधीनता प्रादिक्षण्यत्रिवार - त्रिनवतिचतु शिरे द्वादशावर्तादिलक्षणनित्यनैमित्तिकक्रिया-विधान च वर्णयति।"

—गो० जीव० जी० गा० ३६८

—जयधवला० प्र० पु० टिप्पणी पृ० ११९

१ श्रुतदृष्ट्यात्मनि स्तुत्य पश्यन् गत्वा जिनालयम्।
कृतद्रव्यादिशुद्धिस्त प्रविश्य निसहीगिरा ॥
चैत्यालोकोद्यदानदगलद्वापस्त्रिरानत ।
परीत्य दर्शनस्तोत्र वदनामुद्रया पठन् ॥
कृत्वेर्यापथसशुद्धिमालोच्य नम्रकाघ्रिदो ।
नत्वाश्रित्य गुरो कृत्य पर्यंकस्थोऽग्रमगलम् ॥
उक्तात्तसाम्यो विज्ञाप्य क्रियामुत्थाप्य विग्रहम्।
प्रह्वीकृत्य त्रिभ्रमैकशिरोऽवनतिपूर्वकम् ॥

आत्मा मे चिच्चैतन्यस्वरूप भगवान् आत्मा को देखते हुए जिनालय मे जा कर द्रव्यादि को शुद्धि से शुद्ध हुए साधु "निसही निसही निसही" इस प्रकार उच्चारण करते हुए मदिर के भीतर प्रवेश करके जिन-प्रतिमा के मुख चन्द्र का अवलोकन कर अत्यन्त प्रसन्न होते हुए भगवान् को तीन वार नमस्कार करते है। पुन. चैत्यालय की तीन प्रदक्षिणा देते हैं। इसके बाद "अद्याभवत्सफलता नयनद्वयस्य" अथवा "दृष्ट जिनेन्द्रभवन भवतापहारि" स्तोत्र को पढकर वदना मुद्रा के द्वारा "पडि-क्कमामि भते ! इरियावहियाए" इत्यादि ईर्यापथशुद्धि पाठ बोलते हैं पुन कायोत्सर्ग करके पचाग नमस्कार करके "ईर्यापथे प्रचलिताद्य मया प्रमादा"—इत्यादि आलोचना करके यदि धर्माचार्य हैं तो उनके निकट अन्यथा भगवान् के समक्ष पचाग नमस्कार करके कर्तव्य कर्म को स्वी-कार करते हैं अर्थात् 'नमोस्तु भगवन् ! देववदना करिष्यामि'—जय हे भगवन् ! नमस्कार हो अव मै देववदना करूँगा। इस प्रकार कर्तव्य की प्रतिज्ञा करके पर्यंकासन से वैठकर "सिद्ध सम्पूर्णभव्यार्थं" इत्यादि से प्रारम्भ कर "खम्मामि सव्वजीवाण" इत्यादि सूत्रपाठो द्वारा साम्यभाव

मुक्ताशुक्त्यकितकर पठित्वा साम्यदडकम् ।
कृत्वावर्तत्रयशिरोनतीभूयस्तनु त्यजेत् ॥
प्रोच्य प्राग्वत्तत साम्यस्वामिना स्तोत्रदडकम् ।
वन्दनामुद्रया स्तुत्वा चैत्यानि त्रिप्रदक्षिण ॥
आलोच्य पूर्ववत्पचगुरून्नुत्वा स्थितस्तथा ।
समाधिभक्त्यास्तमल स्वस्य ध्यायेद्‌यथाबल ॥

—अनगारधर्मामृत अध्याय ९

"परायत्तस्य सत क्रिया कुर्वाणस्य कर्मक्षयो न घटते तस्मादात्माधीन सन् चैत्यादीन् प्रतिवन्दनार्थं गत्वा धौतपादस्त्रिप्रदक्षिणीकृत्य ईर्यापथकायोत्सर्गं कृत्वा प्रथममुपविश्यालोच्य चैत्यभक्ति कायोत्सर्गं करोमि इति विज्ञाप्य उत्थाय जिनचन्द्रदर्शनमात्रान्निजनयनचन्द्रकान्तोपलविगलदानन्दाश्रुजलधारा-पूरपरिप्लावितपक्ष्मपुटोऽनादिभवदुर्लभभगवदर्हत्परमेश्वरपरमभट्टारकप्रतिबिंव-दर्शनजनितहर्षोत्कर्षपुलकिततनुरतिभक्तिभरावनतमस्तकन्यस्तहस्तकुशेशयकुड्मलो दडकद्वयस्यादावन्ते च प्राक्तनक्रमेण प्रवृत्य चैत्यस्तवनेन त्रि परीत्य द्वितीयवारेऽप्युपविश्य आलोच्य पचगुरुभक्तिकायोत्सर्गं करोमीति विज्ञाप्य उत्थाय पचपरमेष्ठिन स्तुत्वा तृतीयवारेऽप्युपविश्यालोचनीय । एवमात्मा-धीनता प्रदक्षिणीकरण त्रिवार निष्पन्नत्रय चतु शिरोद्वादशावर्तकमिति क्रियाकर्म षड्विध भवति ।"

—चारित्रसार

को प्राप्त हो जाते है पुन वन्दना क्रिया का विज्ञापन करते है अर्थात् "पौर्वाह्णिकदेववदनाया पूर्वा "चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यह" ऐसा बोलकर विज्ञापना करके खडे होकर भूमिस्पर्शनात्मक पचागनमस्कार करते है। पश्चात् चार अगुल प्रमाण पैरो मे अन्तर रखकर खडे होकर मुक्ताशुक्तिमुद्रा बनाकर तीन आवर्त और शिरोनति करके "णमो अरिहताण" इत्यादि सामायिकदडक का पाठ करके तीन आवर्त और एक शिरोनति करके जिनमुद्रा से कायोत्सर्ग (९ बार णमोकार मत्र का जाप २७ उच्छ्वास मे) करते है। पुन पचाग नमस्कार करके खडे होकर पूर्ववत् मुक्ताशुक्ति मुद्रा से तीन आवर्त एक शिरोनति करके "थोस्सामि ह जिणवरे" इत्यादि चतुर्विंशतिस्तव पढकर तीन आवर्त एक शिरोनति करते है। पश्चात् वन्दना मुद्रा बनाकर "जयतु भगवान् हेमाभोज" इत्यादि चैत्यभक्ति बोलते हुए जिनेन्द्र भगवान् की तीन प्रदक्षिणा दे लेते है। पुन बैठकर "इच्छामि भत्ते ! चेइयभत्ति " आदि चैत्यभक्ति की आलोचना करते है। अनन्तर "पौर्वाह्णिक देववन्दनाया पचमहागुरुभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यह" ऐसी विज्ञापना करके उठकर पचाग नमस्कार करके पूर्ववत् सामायिक दडक कायोत्सर्ग, थोस्सामि स्तव पढकर वन्दना मुद्रा से "प्रथम करण चरण द्रव्य नम । "शास्त्राभ्यासो" इत्यादि लघुसमाधिभक्ति पढकर बैठकर "इच्छामि भत्ते ! समाहिभत्ति' इत्यादि आलोचना करते है।[1] अनन्तर यथावकाश आत्मध्यान करते है।

पुन सभी साधु मिलकर लघुसिद्धभक्ति और आचार्यभक्ति द्वारा आचार्य की वन्दना करते है। कहा भी है—"प्रात काल देववन्दना रूप प्राभातिक अनुष्ठान के अनन्तर साधुजन विधिवत् आचार्य आदि की वन्दना करते है। मध्याह्न काल मे देववन्दना के बाद करते है और सायकाल मे प्रतिक्रमण के बाद करते है। यह त्रिकाल गुरुवन्दना है।[2]

---

१ यह देववन्दना इसी विधि से क्रिया कलाप में मुद्रित है। उसके आधार से या "वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला" से प्रकाशित 'सामायिक' नामक पुस्तक के आधार से सामायिक करना चाहिए।

२ वद्या दिनादौ गुर्वाद्या विधिवत्विहितक्रियै ।
मध्याह्ने स्तुतदेवैश्च साय कृतप्रतिक्रमै ॥५४॥

—अन० पृ० ५७६

गुरुवन्दना की विधि यह है—"मुनि जब गवासन से बैठकर लघु सिद्धभक्ति और लघु आचार्य भक्ति पूर्वक आचार्य की वन्दना करते है। यदि आचार्य सिद्धान्त पारगत है। तो लघुसिद्ध, श्रुत, आचार्य इन तीन भक्ति को बोलकर वन्दना करते है। अपने से दीक्षा मे बडे सामान्य साधु की लघु सिद्ध भक्ति बोलकर और सिद्धान्तविद् साधु को लघु सिद्ध लघु-श्रुत भक्ति पूर्वक वन्दना करते हैं[1]।"

प्रयोग विधि

"अथ आचार्यवन्दनाया पूर्वा सिद्धिभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यह"। ऐसी प्रतिज्ञा करके विधिवत् कायोत्सर्ग करके "तवसिद्धे णयसिद्धे" इत्यादि लघु सिद्धभक्ति पढते है पुन "अथ आचार्यवदनाया पूर्वा आचार्य-भक्तिकायोत्सर्गं करोम्यह" ऐसी प्रतिज्ञा करके कायोत्सर्ग करके "श्रुतजलधिपारगेभ्य" इत्यादि लघु आचार्य भक्ति पढते है।

देववन्दना मे कम से कम दो घडी काल का विधान है। इसलिए सूर्योदय से दो घडी काल समाप्त हो जाता है।

पूर्वाह्ण स्वाध्याय

सूर्योदय के दो घडी बाद पौर्वाह्णिक स्वाध्याय हेतु विधिवत् श्रुतभक्ति और आचार्य भक्ति करके स्वाध्याय प्रारभ करते है और मध्याह्न के दो घडी पहले-पहले लघु श्रुत भक्ति पूर्वक स्वाध्याय विसर्जित कर देते हैं।

पुन अपराह्णिक स्वाध्याय हेतु दिक्शुद्धि करते है अर्थात् चारो दिशाओ मे ७-७ बार णमोकार मत्र उच्छ्वास पूर्वक जपते हैं।

मध्याह्नदेव वंदना—पुन प्रात कालीन देववदना के समान विधिवत् माध्याह्निक देववदना करके लघु सिद्धिभक्ति-लघु आचार्यभक्ति पूर्वक गुरु-आचार्य की वदना करते है।

अनतर यदि उस दिन उपवास है तो मुनि उस दो घडी के अस्वाध्याय काल मे जाप्य व ध्यानादि करते है और यदि उपवास नही है तो वे गुरु-

---

१ लघ्व्या सिद्धगणिस्तुत्या गणी वद्यो गवासनात्।
सैद्धातोऽत्र श्रुतस्तुत्या तथान्यस्तन्नुतिं विना ॥३१॥

—अनगार पृ० ३४७

वदना के अनतर ही आचार्यश्री के पीछे आहार के लिए निकलते है ।[1]

आहारचर्या

उस समय साधु बायें हाथ मे पिच्छी और कमण्डलु को लेकर दाहिने हाथ की मुद्रा को कधे पर रखकर आहारमुद्रा मे निकलते है । तब श्रावक उन्हे विधिवत् पडगाहन कर घर मे ले जाकर नवधाभक्तिपूर्वक आहार देते है ।

पडगाहन करना, उच्चस्थान देना, पाद प्रक्षालन करना, अष्टद्रव्य से पूजन करना, नमस्कार करना, मन शुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि तथा भोजनशुद्धि करना ये नवधाभक्ति कहलाती है । दान देने वाले दातार श्रद्धा, भक्ति, सतोष, विवेक, निर्लोभता, क्षमा और सत्त्व इन सात गुणो से सहित होते है ।

नवधाभक्ति पूर्ण हो जाने पर जब श्रावक मुनि से आहार ग्रहण करने के लिए प्रार्थना करते है तब वे मुनि अपने खडे होने की जगह और दातार के खडे होने की जगह को ठीक से देख लेते है कि कोई विकलत्रय आदि जीव जतु तो नही हैं । पुन शुद्ध गरम प्रासुक जल से श्रावक द्वारा हाथ धुलाये जाने पर वे "पूर्व दिन के ग्रहण किये गये प्रत्याख्यान या उपवास की सिद्ध भक्तिपूर्वक निष्ठापना करके आहार शुरू करते है ।[2]" अन्यत्र भी कहा है—"जिस घर के योग्यदाता ने प्रतिग्रह और प्रणाम करके ठहराया है उसके घर मे ··· दाता के द्वारा दिये गये अपने योग्य उचित आसन पर बैठ जाते है । दातार के द्वारा पादप्रक्षालन आदि क्रियाओ के होने के बाद, उनके द्वारा प्रार्थना की जाने पर साधु सिद्ध-

---

१ सर्वत्र शास्त्रो में मध्याह्न सामायिक के बाद आहार को जाने का विधान है किंतु आजकल साधु ९ बजे से लेकर ११ बजे तक के समय में आहारार्थ निकलते हैं । सो शायद श्रावको के भोजन की व्यवस्था से सबधित है चूँकि, आजकल श्रावको के भोजन का यही काल है ।

२ "हेय—त्याज्य साधुना । निष्ठाप्यमित्यर्थं । किं तत् ? प्रत्याख्यानादि-प्रत्याख्यानमुपोपित वा । क्व ? अशनादौ—भोजनारभे । कया ? सिद्धभक्त्या । किं विशिष्टया ? लघ्व्या ।" अनगार पृ ६४९

कोई साधु मदिर में या गुरु के पास ही सिद्धभक्तिपूर्वक प्रत्याख्यान की निष्ठापना करके आहार को जाते है सो ठीक नही है क्योकि आचारसार मे स्पष्ट कहा है ।

भक्ति करके प्रत्याख्यान का निष्ठापन करते है और समचतुरगुल पाद से (पैरो मे चार अगुल का अन्तर रखकर) खडे होकर नाभि से ऊपर हाथ रखते हुए करपात्र मे दातार द्वारा प्रदत्त आहार ग्रहण करते हैं। आहार करते समय उनके दोनो हाथ के पुट (अंजुलि)[1] बधे—मिले रहते है—अलग नही होते है। वे विकार—मुख विगाडना, अरुचि या ग्लानि आदि न करते हुए, अति शीघ्रता न करते हुए और हुँकार आदि शब्द न करते हुए आहार लेते है। खडे होकर आहार ग्रहण करने मे हेतु यही है कि "जब तक मुझ मे खडे होने की शक्ति है और जब तक मेरे दोनो हाथ मिल सकते है तभी तक मै भोजन करूँगा, अन्यथा आहार का त्याग कर दूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा होती है।"

प्रत्याख्यान ग्रहण विधि

पुन भोजन के अनन्तर शीघ्र ही लघुसिद्धभक्तिपूर्वक प्रत्याख्यान अथवा उपवास ग्रहण कर लेते है। यथा—"भोजन के अनतर तत्क्षण ही साधु लघुसिद्ध भक्तिपूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण कर लेवे। यह विधि वही चौके मे आचार्य के असानिध्य मे ही होती है। अनतर आचार्य के पास आकर लघुयोगि भक्ति और लघुसिद्ध भक्ति बोलकर पुन गुरु के पास

---

१ प्रतिग्रहप्रणामाभ्या स्थापितो योग्यदातृभि ।
तर्णकैलकबालादीननुलङ्घ्य विशेदगृहम् ॥११६॥
आत्मोचितासनासीनो दातृप्रक्षालितक्रम ।
ऊर्ध्वाध पार्श्वदिक्कोणनिक्षेपाद्यनिरीक्षण ॥११८॥
वर्णी पूर्णप्रतिज्ञोऽथ सिद्धभक्ति विधाय तत् ।
प्रत्याख्यान विनिष्ठाप्य प्रेरितो भक्तदातृभि ॥११९॥
समागुलचतुष्कान्तराघ्रि स्थित्वा समुद्धृते ।
पात्रार्पिडे करद्वद्वमानाभेर्धौतमुत्क्षिपेत् ॥१२०॥
पुट पाण्योरभित्वा न्याक्षिप्त भुजीत त मत ।
विना विकारवेगार्तिमाद्यासक्तिस्वनादिभि ॥१२१॥
यावदस्ति बल स्थातु मिलत्येतत्करद्वयम् ।
तावद्भुजे त्यजाम्यन्यथेति सधा यतेर्मत ॥१२२॥

—आचारसार पृ १३४, १३·

प्रत्याख्यान या उपवास ग्रहण करके लघु आचार्यभक्ति द्वारा आचार्य को वदना करते है[1] ।"

शंका—शीघ्र ही वही पर साधु प्रत्याख्यान क्यो ग्रहण कर लेते है ?

समाधान—यदि कदाचित् गुरु के पास आते हुए मार्ग मे मरण भी हो जाये तो वह प्रत्याख्यानपूर्वक होगा, यह हेतु है।

प्रत्याख्यान करने के बाद साधु आहार सबधी दोषो का विशोधन करते है उसे गोचर प्रतिक्रमण कहते है।

"आहार के लिए साधु यदि निकल चुके है और कारणवश किसी ने पडगाहन नही किया, या और कुछ कारण से वे वापस अपनी वसतिका मे आते है तो पुन उस दिन वे आहार के लिए नही जाते हैं—उपवास ही करते है[2] ।"

तात्पर्य यह है कि साधु देववदना (सामायिक) और गुरुवदना करके आहारार्थ जाकर नवधाभक्ति के बाद प्रत्याख्यान की निष्ठापना करते है। उसकी विधि—

"अथ प्रत्याख्याननिष्ठापनक्रियाया पूर्वा सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं[3]" पुन नौ बार णमोकार मत्र जपकर लघुसिद्धभक्ति पढकर आहार शुरू करते है। आहार पूण हो जाने पर मुख शुद्धि करके शीघ्र ही—

"अथ प्रत्याख्यानप्रतिष्ठापनक्रियाया सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" ऐसा बोलकर ९ बार जाप्य करके लघुसिद्धभक्ति पढते है। पुन. श्रावक

---

१ आदेय च—लघ्व्या सिद्धभक्त्या प्रतिष्ठाप्य साधुना । किं तत् ? प्रत्याख्यानादि। क्व ? अते प्रक्रमाद् भोजनस्यैव प्राते । कथ ? आशु—शीघ्र भोजनानतरमेव। आचार्यसन्निधावेतद्विधेय ।"

सूरौ—आचार्यसमीपे पुनर्ग्राह्य प्रतिष्ठाप्य साधुना । किं तत् ? प्रत्याख्यानादि । कया ? लघ्व्या सिद्धभक्त्या लघुयोगिभक्त्यधिकया । तथा वद्य साधुना ? कोऽसौ ? स सूरि । कया ? सूरिभक्त्या । किंविशिष्टया ? लघ्व्या । —अनगार पृ ६४९

२ अस्थापितो निवर्तेत प्रविष्ट मदिरादिकम् ।
पुनर्न प्रविशेदन्यग्रामादीश्चाशनागया ॥११२॥ —अनगार पृ १३२

३ अभिप्राय यह है कि कल मैंने जो चतुराहारत्यागरूप प्रत्याख्यान ग्रहण किया था उसका त्याग करता हूँ ।

उन्हे पिच्छी समर्पित कर देते है। वे वहाँ से आकर आचार्यदेव के सानिध्य मे गवासन से बैठकर पुन विधिवत् प्रत्याख्यान ग्रहण करते है—

"अथ प्रत्याख्यानप्रतिष्ठापनक्रियाया सिद्धभक्तिकायोत्सर्ग करोम्यह" (९ बार जाप्य) लघु सिद्धभक्ति करके—

"अथ प्रत्याख्यानप्रतिष्ठापनक्रियाया योगभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यह" (९ जाप्य) लघुयोग भक्ति पढकर—

अथ आचार्यवदनाया आचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यह" (९ बार जाप्य) लघु आचार्य भक्ति पढकर आचार्य की वदना करके आहार के लिए जाकर वापस आने तक या आहार मे जो कोई बात हुई हो उसको गुरु के सामने निवेदन कर देते हे।

अपराह्णिक स्वाध्याय

अनतर अपराह्णिक स्वाध्याय हेतु विधिवत् श्रुतभक्ति-आचार्य भक्ति करके स्वाध्याय प्रारम्भ कर देते है—पढना, पढाना, प्रश्न करना—चर्चा करना, पढे हुए का चिंतन करना, घोकना—पाठ याद करना या धर्मोपदेश देना आदि सभी स्वाध्याय के अन्तर्गत है। पुन सूर्यास्त से दो घडी पहले ही लघुश्रुतभक्तिपूर्वक स्वाध्याय विसर्जित करके पूर्वरात्रिक स्वाध्याय हेतु दिक्शुद्धि करने के लिए चारो दिशाओ मे ५-५ बार णमोकार मत्र उच्छ्वास सहित जपते है।

दैवसिक प्रतिक्रमण—अनतर सब साधु गुरु के पास बैठकर—"जीवे प्रमादजनिता" इत्यादि रूप दैवसिक प्रतिक्रमण करते है। पुनरपि योग-भक्तिपूर्वक 'रात्रियोग' ग्रहण करके गवासन से बैठकर लघुसिद्ध भक्ति, लघुआचार्य भक्ति बोलकर आचार्य की वदना करते है।

रात्रियोग प्रतिष्ठापना की प्रयोग विधि—"अथ रात्रियोगप्रतिष्ठापनाया योगिभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यह[1]" विधिवत् सामायिकदडक, ९ जाप्य और थोस्सामि करके "जातिजरोरुरोग" इत्यादि अथवा "प्रावृट्काले" इत्यादि योगभक्ति का पाठ करते है।

---

१ "आज रात्रि मे मै इसी वसतिका में रहूँगा" इसे रात्रियोग कहते है। साधु मल-मूत्र विसर्जन के लिए पहले से ही स्थान निश्चय और निरीक्षण कर लिया करते है, वही पर जाते है।

आपराह्निक वंदना—ये क्रियायें सूर्यास्त तक दो घडी मे समाप्त हो जाती है। तब साधु सूर्यास्त के समय विधिवत् "आपराह्निक देववदना" करते है।

पूर्वरात्रिक स्वाध्याय—अनतर दो घडी बाद स्वाध्याय काल मे विधिवत् "पूर्वरात्रिक" स्वाध्याय प्रारभ कर देते है जो कि (अधिक से अधिक) मध्यरात्रि के दो घडी पहले तक करते है। पुन स्वाध्याय विसर्जन करके मध्यरात्रि के पहले की दो घडी और पश्चात् की दो घडी ऐसे चार घड़ी (डेढ घटे) तक अस्वाध्याय[1] काल मे शरीर के श्रम को दूर करने के लिए निद्रा लेते है। इस प्रकार से साधुओ की यह अहोरात्रिक चर्या आगम के आधार से कही गई है।

स्वाध्याय करने का आसन

पर्यङ्कासन, पद्मासन अथवा वीरासन से बैठकर पिच्छिका सहित अजुलि जोडकर अपने वक्षस्थल के समीप रखकर नमस्कार करके विनय पूर्वक एकाग्रमना होकर साधु स्वाध्याय करते है। और यदि खडे होकर (पूर्वोक्त विधि से) वदना[2] करने मे शक्तिहीन होते है तो वे इसी तरह बैठकर अञ्जुली जोडकर वदना करते है। अर्थात् पूर्व मे जो देव वदना मे खडे होकर ही चैत्य भक्ति और पचगुरु भक्ति पढते हुए वदना करने का विधान बताया है तो यदि खडे होकर वदना करने की शक्ति नही है तो साधु पर्यंकासन आदि आसन से बैठकर ही वदना करते है।

नैमित्तिक क्रियायें

चतुर्दशी क्रिया—चतुर्दशी के दिन त्रिकाल देववदना मे चैत्यभक्ति करके श्रुतभक्ति की जाती है पुन पचगुरु भक्ति होती है। अथवा चैत्यभक्ति के पहले सिद्ध भक्ति पुन चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति, पचगुरुभक्ति

---

१ यह अल्पनिद्रा लेने का सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। प्राय शरीर की विश्राति और स्वस्थता के लिए चार, पाच या छह घटे तक भी सोना पडता है। फिर भी जितनी निद्रा कम की जा सके उतनी कम करना चाहिए।

२ "साधु पुनर्वंदना यथोक्तविशेषणविशिष्ट –सपर्यंक सप्रतिलेखनमुकुलितवत्सोत्सगितकर कुर्यात्। कया ? अशक्त्या। उद्भो यदि वदितु न शक्नुयादित्यर्थः।"

—अनगार ध० पृष्ठ ६५२

और शांति भक्ति ऐसे वन्दना मे पांच भक्तियाँ भी की जाती है। यदि कदाचित् किसी धर्म व्यासग—किसी की सल्लेखना आदि के प्रसग मे वैयावृत्ति आदि की बहुलता से धर्म प्रभावना आदि विशेष कार्यों के निमित्त मे चतुर्दशी की क्रिया न हो सके तो अमावस्या या पूर्णिमा को पाक्षिक क्रिया की जाती है। सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति को 'पाक्षिकी क्रिया' कहते है।

अष्टमी क्रिया—सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति और शांति-भक्ति इन चार भक्तियो द्वारा अष्टमी क्रिया होती है। इसमे चारित्र भक्ति को सालोचना करना होता है तब 'पाक्षिक-प्रतिक्रमण' मे "इच्छामि भत्ते ! अट्ठमियम्मि आलोचेऊ" इत्यादि पाठ प्रारम्भ करके जिनगुणसम्पत्ति होउ मज्झ' तक बोला जाता है। अथवा त्रिलोकदेव-वन्दना मे यह क्रिया करने पर चैत्यभक्ति, पचगुरुभक्ति ये दो भक्तियाँ करनी होती है। अथवा चतुर्दशी और अष्टमी दोनो दिन की क्रियायें सामायिक मे करने की भी परम्परा देखी जाती है।

सिद्ध वंदना क्रिया—सिद्ध प्रतिमा की वन्दना करते समय साधु एक सिद्धभक्ति ही करते है।

जिनवंदना क्रिया—जिन प्रतिमा की वन्दना मे सिद्ध, चारित्र और शांति भक्ति करते है।

अपूर्व चैत्यवंदनादि क्रिया—अष्टमी आदि क्रियाओ के समय मे ही अपूर्व चैत्यवन्दना और त्रैकालिक नित्यवन्दना का सयोग आकर उप-स्थित हो जाता है तो साधु सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, चैत्यभक्ति, पच-गुरुभक्ति और शांतिभक्ति करते है।

पाक्षिक प्रतिक्रमण क्रिया—पाक्षिक प्रतिक्रमण प्रत्येक मास की चतु-र्दशी, पूर्णिमा या अमावस्या को करते है। इसमे पहले विधिवत्-लघु-सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति पूर्वक आचार्य की वन्दना करके सभी साधु-गण आचार्य के साथ सिद्धभक्ति और चारित्रभक्ति पढकर "इच्छामि भत्ते ! पक्खियम्मि" इत्यादि आलोचना पढते है। पुन. भगवान् के सामने अकेले आचार्य लघुसिद्धभक्ति, आलोचना सहित लघु योगभक्ति करके

---

१ जिस प्रतिमा का दर्शन छह महीने के बाद हो तो वह प्रतिमा 'अपूर्व' कही जाती है। यथा—"षष्ठेऽनुश्रूयते मास्यपूर्वता"—व्यवहारी जनो द्वारा छह महीने मे प्रतिमाओ को 'अपूर्व' कहा जाता है। —अनगार पृ० ६५५

अपने दोषो की आलोचना करके प्रायश्चित्त लेते है। अनन्तर सभी शिष्य-साधुगण पूर्वोक्त लघु सिद्ध भक्ति, सालोचना योगभक्ति करके आचार्य भक्ति पढकर आचार्य वन्दना करके, आचार्य से पन्द्रह दिन के अतिचारो का प्रायश्चित्त माँगते हैं। आचार्यवर्य शिष्यो को यथोचित प्रायश्चित्त (रस परित्याग-जाप्य-उपवासादि) देते है।

अनन्तर आचार्य सभी शिष्यो के साथ प्रतिक्रमण भक्ति का कायोत्सर्ग तक क्रिया करते है। पुन केवल आचार्य 'थोस्सामि' से लेकर वीरभक्ति की प्रतिज्ञा तक प्रतिक्रमणो दडकों का उच्चारण करते हैं—पढते है और सभी शिष्य बैठे हुए एकाग्रमना सुनते रहते हैं। अनन्तर सभी साधु 'थोस्सामि' इत्यादि दडक पढकर आचार्य के साथ आगे की भक्तियाँ बोलते है। जिसमे वीरभक्ति, चतुर्विंशतितीर्थकरभक्ति, चारित्रालोचनाचार्यभक्ति, बृहदालोचनाचार्यभक्ति और लघीयस्याचार्यभक्ति की जाती है। पाक्षिक प्रतिक्रमण मे वीरभक्ति के समय ३०० उच्छ्वासो मे कायोत्सर्ग किया जाता है। सम्पूर्ण विधि पूर्ण हो जाने पर सभी साधु विधिवत् तीन भक्ति पूर्वक आचार्य की वन्दना करते है।

चातुर्मासिक प्रतिक्रमण—इसमे यही पाक्षिक प्रतिक्रमण करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि "सर्वातिचारविशुद्धयर्थं" चातुर्मासिकप्रतिक्रमणक्रियाया, पाठ सर्वत्र बोला जाता है और वीरभक्ति मे ४०० उच्छ्वासो मे कायोत्सर्ग किया जाता है।

वार्षिक प्रतिक्रमण—इसी प्रतिक्रमण मे 'सावत्सरिकप्रतिक्रमणक्रियाया' पाठ सर्वत्र बोला जाता है और वीरभक्ति मे ५०० उच्छ्वासो द्वारा कायोत्सर्ग किया जाता है।

पुन व्रतारोपण आदि विषयक चार प्रतिक्रमणो मे बृहदाचार्य भक्ति और मध्याचार्य भक्ति के अतिरिक्त पाक्षिक प्रतिक्रमण की ही सारी विधि की जाती है[1]।"

श्रुतपचमी क्रिया—श्रुतपचमी[2] के दिन साधुगण विधिवत् बृहत्सिद्ध भक्ति और बृहत् श्रुतभक्ति करके श्रुतस्कध की प्रतिष्ठापना करके श्रुतावतार के उपदेश को स्वीकार करके बृहत्श्रुतभक्ति और बृहत् आचार्य भक्ति पढकर स्वाध्याय प्रारम्भ करते है पुन. बृहत्श्रुत भक्ति पूर्वक स्वाध्याय की समाप्ति करके शातिभक्ति का पाठ करते है। पुन

१ "परे पुनर्व्रतारोपणादिविषयाश्चत्वार प्रतिक्रमा स्यु ।"—अनगार पृ० ६६०
२ ज्येष्ठशुक्ला पचमी श्रुतपचमी है।

श्रावक स्वाध्याय को ग्रहण नही करते है तो सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और शातिभक्ति करते है।

सिद्धातवाचना और आचारवाचना मे यही विधि होती है। अर्थात् बृहत्सिद्धभक्ति और बृहत्श्रुतभक्ति पढकर सिद्धान्त-वाचना की प्रतिष्ठापना करके बृहत्श्रुत और बृहदाचार्यभक्तिपूर्वक स्वाध्याय स्वीकार कर उपदेश देते है। पुनः श्रुतभक्ति के द्वारा स्वाध्याय समाप्त कर अन्त मे शान्तिभक्ति बोलकर क्रिया समाप्त करते है। वृद्ध व्यवहार के अनुसार आचारवाचना मे भी यही विधि की जाती है।

साधुगण सिद्धान्त के प्रत्येक अर्थाधिकार के अन्त मे कायोत्सर्ग करते हैं। तथा प्रत्येक अर्थाधिकार के अन्त मे और आदि मे सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति करते हैं। वाचना के दिन मे भी यही क्रिया करते है। जहां वाचना की गई है उस स्थान पर दूसरे तीसरे आदि दिन अति भक्ति प्रगट करने के लिए छह-छह कायोत्सर्ग करते हैं। यह क्रिया सिद्धान्त और उसके अर्थाधिकार के प्रति उत्तम, बहुमान प्रदर्शित करने के लिए कही गई है, अतएव यह क्रिया अपनी शक्ति के अनुसार करनी चाहिए।

संन्यास प्रारम्भ की क्रिया—बृहत्सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति बोलकर सन्यास की प्रतिष्ठापना (ग्रहण) करते है। तथा सन्यास के आदि और अन्त के दिनों को छोडकर मध्य के दिनो मे बृहत्सिद्धभक्ति, बृहदाचार्यभक्ति के द्वारा स्वाध्याय करके बृहत् श्रुतभक्ति के द्वारा उसका निष्ठापन करते है। अन्त मे क्षपक-साधु के सन्यास के अन्त मे-क्षपक का अन्त हो जाने पर सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति करके शातिभक्तिपूर्वक संन्यास की निष्ठापना कर देते हैं[1]।"

---

१ जब कोई साधु सल्लेखना ग्रहण करते हैं तब यह विधि की जाती है।
"सन्यासारभकाले भक्ती सिद्धश्रुतसज्ञिके।
कृत्वा गृहीतसन्याससवेगाकितमानम ॥
श्रुताचार्याभिधे भक्ती दत्वा स्वाध्यायमुत्तम।
गृहीत्वा श्रुतभक्त्यते युक्त्या निष्ठापयेन्मुदा ॥
स्वाध्यायग्रहणे ज्ञेया सन्यासस्थमहामुनेः।
महाश्रुतमहाचार्यभक्त्या श्रुताल्पभक्तय ॥

—मूलाचार प्रदीप, पृ० १२२।

तथा रात्रियोग या वर्षायोग आदि अन्यत्र ग्रहण कर चुके हैं तो भी परिचारक साधु पहले दिन स्वाध्याय की प्रतिष्ठापना करके उस सन्यास वसति मे ही सोवें ऐसा कथन है।

जो स्वाध्याय को ग्रहण नही करने वाले श्रावक है वे सन्यास ग्रहण के प्रथम दिन और अन्तिम दिन सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और शातिभक्ति करते है।

नंदीश्वर क्रिया—"आषाढ, कार्तिक और फाल्गुन महीने मे अष्टमी से लेकर पूर्णमासी पर्यन्त प्रतिदिन साधुगण आचार्य के साथ मध्याह्न मे पौर्वाह्णिक स्वाध्याय को समाप्त करके सिद्धभक्ति, नन्दीश्वरभक्ति, पचगुरुभक्ति और शातिभक्ति के द्वारा आष्टाह्निक क्रिया करते हैं[1]।" नदीश्वरभक्ति करते हुए तीन प्रदक्षिणा भी करने का विधान है[2]।"

अभिषेक वदना क्रिया—जिनेन्द्र देव के महाभिषेक दिवस सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पचगुरुभक्ति और शातिभक्ति करके वदना करते हैं।

मंगलगोचर मध्याह्न वदना—"वर्षायोग ग्रहण और विसर्जन के प्रसग मे मगलगोचर मध्याह्न वदना होती है अर्थात् आषाढ सुदी तेरस के दिन साधु मगलार्थ गोचरी करने के पहले मध्याह्न मे सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पचगुरुभक्ति और शातिभक्ति करके मध्याह्न वदना करते है। इसे ही मगलगोचर मध्याह्न वदना कहते हैं[3]।"

मंगलगोचर प्रत्याख्यान—पुन: आहार ग्रहण करके आकर आचार्य आदि सभी साधु मिलकर बृहत्सिद्धभक्ति, बृहत्योगभक्ति करके गुरु से भक्त प्रत्याख्यान—उपवास ग्रहण करके बृहत् आचार्यभक्ति द्वारा आचार्य की वदना करके शातिभक्ति करते है। यही विधि कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी को भी करते है। चूँकि वर्षायोग ग्रहण करने के लिए आषाढ सुदी

---

१ मिलित्वाचार्यादयो विदधतु मध्याह्ने—पौर्वाह्णिकस्वाध्यायग्रहणानतरम्।
—अनगार०, पृ० ६६३।

२ दीयते चैत्यनिर्वाणयोगिनदीश्वरेषु हि।
वद्यमानेष्वधीयानस्तत्तद्भक्ति प्रदक्षिणा ॥ —अनगार०, पृ० ६०७।

३ वर्षायोगग्रहणविसर्जनयो। मगलगोचरे—मगलार्थगोचारे मध्याह्नवदना
मगलगोचरमध्याह्नवदना। —अनगार०, पृ० ६६३।
भवेन्मगलगोचारमध्याह्ने स्नपनस्तव।
सवर्षायोगस्यादाननिष्ठापनेऽपि तु ।।७५।। —आचारसार, पृ० २४५।

चौदश का उपवास करते हैं और वर्षायोग निष्ठापना करने के लिए कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी का उपवास करते हैं।

वर्षायोग प्रतिष्ठापन क्रिया—"प्रत्याख्यान प्रयोगविधि के अनतर—त्रयोदशी के मगलगोचार प्रत्याख्यान ग्रहण करने के बाद आपाढ शुक्ला चतुर्दशी की पूर्वरात्रि मे साधु वर्षायोग प्रतिष्ठापन करते हैं[1]।" आचार्य आदि सभी साधु मिलकर सिद्धभक्ति और योगभक्ति करके "यावति जिनचैत्यानि' इत्यादि श्लोक बोलकर वृषभजिन और अजितजिन की स्तुति (स्वयभुवा भूतहितेन इत्यादि स्वयभू स्तोत्र की) बोलकर अचलिका सहित "वर्षेषु वर्षान्तरपर्वतेषु" इत्यादि चैत्यभक्ति करके पूर्वदिक् चैत्यालय की वदना करते है। ऐसे ही "यावति जिनचैत्यानि" पुन बोलकर संभवजिन और अभिनंदनजिन की "त्व सभव" इत्यादि स्तुति पढकर अचलिका सहित 'वर्षेषु' इत्यादि चैत्यभक्ति पढ के दक्षिणदिक् चैत्यालय की वदना करते हैं। इसी तरह 'सुमति पद्मप्रभजिन' की स्तुति पूर्वक पूर्वोक्त चैत्यभक्ति करके पश्चिमदिक् और सुपार्श्व चन्द्रप्रभ जिन स्तुति पूर्वक चैत्यभक्ति करके उत्तर चैत्यालय की वंदना करते हैं। साधु भाव से ही चारो दिशाओ की प्रदक्षिणा करते हैं और "वहाँ पर बैठे हुए लोग ही चारो दिशाओ मे योग तदुल—पीताक्षत प्रक्षेपण करते है। ऐसी परपरा है[2]।" पुन. साधु पचगुरुभक्ति और शातिभक्ति करते हैं। इस विधि से वर्षायोग ग्रहण करके (उस ग्राम के चारो तरफ कुछ मीलो की सीमा निश्चित करके) विधि समाप्त करते हैं।

वर्षायोग समापन विधि—'कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पिछली रात्रि मे सभी साधु पूर्वोक्त विधि से वर्षायोग निष्ठापन कर देते है[3]।" अन्तर

केवल इतना ही है कि—वर्षायोग ग्रहण विधि मे—

"अथ वर्षायोगप्रतिष्ठापनक्रियाया सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।" बोलते है और वर्षायोगसमापन मे—

"अथ वर्षायोगनिष्ठापनक्रियाया .... सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।" बोलते है। बाकी सारी विधि वही की जाती है।

वर्षायोग काल की व्यवस्था

"वर्षायोग के सिवाय दूसरे समय—हेमत ऋतु आदि मे भी श्रमणसघ को किसी भी एक स्थान या नगर म एक महीने तक निवास करना चाहिए तथा वर्षायोग के लिए जहाँ जाना है वहाँ आषाढ मे पहुँच जाना चाहिए और मगसिर महीना पूर्ण होने पर उस क्षेत्र को छोड देना चाहिए। यदि कोई विशेष प्रसग आ जावे तो श्रावणकृष्ण चतुर्थी तक वर्षायोग स्थान पर पहुँच जाना चाहिए—परतु इस स्थिति का उल्लघन नही करना चाहिए। इसी प्रकार वर्षायोगनिष्ठापना यद्यपि कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पिछली रात्रि मे हो जाती है फिर कार्तिक शुक्ला पचमी के पहले विहार नही करना चाहिए। श्रावण कृष्णा चतुर्थी के बाद और कार्तिक शुक्ला पचमी के पहले वर्षायोग के काल मे यदि कदाचित् दुर्निवार उपसर्ग आदि प्रसगो से स्थान छोड़ना पड़े तो प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए।[1]"

वीरनिर्वाण क्रिया—"साधुगण कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की पिछली रात्रि मे वर्षायोग निष्ठापन करके सूर्योदय के समय सिद्धभक्ति, निर्वाणभक्ति, पचगुरुभक्ति और शातिभक्ति पूर्वक वीरनिर्वाण क्रिया करते है।[2]"

---

१ मास वासोऽन्यदैकत्र योगक्षेत्र शुचौ व्रजेत्।
मार्गेतीते त्यजेच्चार्थवशादपि न लघयेत् ॥६८॥
नभश्चतुर्थी तद्याने कृष्ण शुक्लोर्जपचमीम्।
यावन्न गच्छेत्तच्छेदे कथचिच्छेदमाचरेत् ॥६९॥
—अनगार०, पृ० ६६५।

२ "वर्षायोगनिष्ठापने कृते सति 'वीरनिर्वाणक्रिया कर्तव्येत्यर्थ। अत एतत्क्रियानतर कृत्या कर्तव्या। कासौ ? नित्यवन्दना श्रमणै श्रावकैश्च।"
—अन०, पृ० ६६५।

इसकी प्रयोग विधि

"अथ वीरनिर्वाणक्रियाया ......सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" इत्यादि प्रकार से निर्वाण क्रिया करके साधु और श्रावक नित्यवंदना (सामायिक) करते है।

पंचकल्याणक क्रिया

तीर्थंकर भगवान् का गर्भ कल्याणक और जन्म-कल्याणक जब हो तब साधु और श्रावक सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति पढकर क्रिया करते है। निष्काम कल्याणक मे सिद्ध, चारित्र, योग[1] और शांति-भक्ति करते है। केवलज्ञान कल्याणक मे सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योग और शांतिभक्ति तथा निर्वाणकल्याण मे सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योग, निर्वाण और शांतिभक्ति करते है।

"निर्वाण कल्याण क्रिया मे निर्वाण भक्ति पढते समय तीन प्रदक्षिणा भी दी जाती है[2]।

प्रयोग विधि

"अथ वृषभदेवजिनगर्भकल्याणकक्रियाया सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।"

ऐसे ही सर्वत्र समझना।

तीर्थंकरो के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण कल्याण से पवित्र क्षेत्रो की वदना मे भी उपर्युक्त भक्तिपाठ बोलकर वदना करते है। यथा—

"अथ पार्श्वनाथजिननिर्वाणकल्याणकनिषद्यावदनाया सिद्धभक्ति-कायोत्सर्गं करोम्यहं।" इत्यादि।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर मे गर्भ, जन्म आदि कल्याणको के अवसर मे भी उपर्युक्त विधि से भक्तिपाठ करते हुए वदना करते है।

ऋषि के शरीर की और निषद्या की क्रिया—मुनि मरण को प्राप्त हो जाय तो उनके शरीर की वदना करने मे अथवा जहाँ पर उनका सस्कार किया जाता है उसे निषेधिका या निषद्या कहते है उसकी वदना करने मे भक्ति का विधान बताते है—

---

१ योगभक्त्या परीतिश्च परिनिष्क्रमणक्रिया। —आचारसार, पृ २४०।

२ 'परिनिर्वाणभक्त्या तु त्रि परीत्य क्रिया भवेत्।"—आचारसार, पृ. २४१।
दीयते चैत्यनिर्वाणयोगिनदीश्वरेषु हि।
वद्यमानेष्वधीयानैस्तत्तद्भक्ति प्रदक्षिणा। —अन, पृ ६०७।

सामान्य साधु के शरीर की या निषद्या की वंदना मे साधु सिद्ध-भक्ति, योगिभक्ति और शातिभक्ति पढते है। सिद्धान्तवेत्ता साधु के शरीर या निषद्या की वदना मे सिद्ध, श्रुत, योग और शाति ये चार भक्ति करते है। उत्तरगुणधारी साधु के शरीरादि की वदना मे सिद्ध, चारित्र, योग और शातिभक्ति पढते है। यदि ये सिद्धातवेत्ता भी है तो सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योग और शातिभक्ति करते है। आचार्य के शरीर या निषद्या वदना मे सिद्ध, योग, आचार्य और शाति भक्ति पढते है। यदि आचार्य सिद्धातवेत्ता है तो सिद्ध, श्रुत, योग, आचार्य और शातिभक्ति से वंदना करते है और यदि आचार्य सिद्धातवेत्ता और उत्तर गुणधारी भी हैं तो उनके शरीर या निषद्या की वदना मे सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योगि, आचार्य और शाति भक्ति पढकर वदना करते है।

प्रयोग विधि

"अथ आचार्यशातिसागरशरीरवदनाया सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यह।" इत्यादि। यह शरीर की वदना तो साधु का समाधिमरण होने के बाद तत्क्षण ही की जाती है। अथवा उनकी निषद्या वदना मे—

"अथ आचार्यशातिसागरनिषद्यावदनाया सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यह।" इत्यादि।

जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा मे वंदना क्रिया—स्थिर जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा अथवा चल जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा के समय सिद्धभक्ति और शातिभक्ति बोलकर वदना की जाती है।

जिन भगवान् की चल प्रतिमा की प्रतिष्ठा के चतुर्थ-दिन के अभिषेक के समय सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पचगुरुभक्ति और शातिभक्ति पढकर वदना की जाती है। तथा स्थिरप्रतिमा की प्रतिष्ठा के चतुर्थ-दिन के अभिषेक के समय सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, बृहदालोचना और शातिभक्ति बोलकर वदना की जाती है। यह क्रिया साधुओ के लिए है। पुन जो स्वाध्याय को ग्रहण नही करने वाले श्रावक होते है, वे चल-स्थिर जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा मे उपर्युक्त ही भक्तियाँ पढें। किन्तु अभिषेक क्रिया मे आलोचनारहित वे ही भक्तियाँ पढें अर्थात् सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शातिभक्ति करें किंतु चारित्रभक्ति मे जो आलोचना है उसको नही पढें।

केशलोच क्रिया—साधु अपने शिर और दाढी-मूँछ के केशो को हाथ से उखाड़ते है इसी का नाम केशलोच है। यह उत्तम, मध्यम और जघन्य ऐसे तीन भेद रूप हैं।

दो महीने से किया गया लोच उत्कृष्ट है, तीन महीने से किया गया मध्यम और चार मास से किया गया जघन्य है। लोच के दिन उपवास करके साधु लघु सिद्धभक्ति और लघु योगिभक्ति करके मौनपूर्वक लोच करते हैं और अन्त मे लघुसिद्धभक्ति पूर्वक समाप्त कर देते है।

प्रयोग

"अथ केशलोचप्रतिष्ठापनक्रियाया सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।" इत्यादि समाप्ति मे 'प्रतिष्ठापन' के स्थान पर 'निष्ठापन' शब्द वोलते हैं।

विशेष—सभी क्रियाओ के अन्त मे हीनाधिक दोष की विशुद्धि के लिए समाधिभक्ति अवश्य की जाती है। कहा भी है—

हीनाधिक दोष की विशुद्धि के लिए सर्वत्र-सभी क्रियाओ की समाप्ति मे प्रियभक्ति—समाधिभक्ति पढी जाती है[1]।"

योगी की वंदना क्रिया— 'प्रतिमायोगधारी सूर्य की तरफ मुख करके ध्यान करनेवाले ऐसे साधु योगी कहलाते है। भले ही वे दीक्षा मे अपने से लघु हो फिर भी अन्य साधु उनकी वदना करते है। उसमे सिद्धभक्ति, योगभक्ति और शातिभक्ति द्वारा वदना करते है[2]।" योगभक्ति पढते-पढते उन योगी की तीन प्रदक्षिणा भी देते हैं[3]।



---

१ ऊनाधिकविशुद्धयर्थं सर्वत्र प्रियभक्तिका ॥ —अनगार, पृ ६६०।

२ लघीयसो प्रतिमायोगिनो योगिन क्रियाम्।
कुर्यु. सर्वेऽपि सिद्धर्षिशातिभक्तिभिरादरात् ।८॥ —अनगार, पृ ६७६।

२ दीयते चैत्यनिर्वाणयोगिनदीश्वरेषु हि।
वद्यमानेष्वधीयानैस्तत्तद्भक्ति प्रदक्षिणा ॥

—अनगार०, पृ० ६०७।

द्वितीय खण्ड

दिगम्बर मुनियों के भेद-प्रभेद

१. आचार्य उपाध्याय साधु

दिगंबर मुनियो मे मुख्यरूप से आचार्य उपाध्याय और साधु ये तीन भेद होते है। इन तीनो का सक्षिप्त लक्षण देखिये।

आचार्य—"जो पांच प्रकार के आचारो का स्वय आचरण करते हैं और दूसरे साधुओ से आचरण कराते है वे 'आचार्य' कहलाते है। जो चौदह विद्याओ के पारगत, ग्यारह अङ्ग के धारी अथवा आचारागमात्र के धारी है अथवा तत्कालीन स्वसमय और परसमय मे पारगत है। मेरु के समान निश्चल, पृथ्वी के समान सहनशील, समुद्र के समान दोषो को बाहर फेंक देने वाले और सात प्रकार के भय से रहित है। देश, कुल और जाति से शुद्ध है, जो शिष्यो के सग्रह और उनपर अनुग्रह करने मे कुशल है, सूत्र के अर्थ मे विशारद हैं, यशस्वी है, तथा साधारण—आचरण, वारण-निषेध और शोधन—व्रतो की शुद्धि करने वाली क्रियाओ मे उद्युक्त (उद्यमशील) हैं वे ही आचार्य परमेष्ठी कहलाते है[1]।"

सघ के आचार्य आप जब सल्लेखना ग्रहण के सम्मुख होते है तब वे अपने योग्य शिष्य को विधिवत् चतुर्विधसघ के समक्ष आचार्यपद[2] देकर नूतन पिच्छिका समर्पित कर देते है और ऐसा कहते हैं कि "आज से प्रायश्चित्त शास्त्र का अध्ययन करके शिष्यो को दीक्षा, प्रायश्चित्त आदि आचार्य का कार्य तुम्हे करना है[3]।" उस समय गुरु उस आचार्य को छत्तीस गुणो के पालन का उपदेश देते है।

---

१ पञ्चविधमाचार चरति चारयतीत्याचार्य चतुर्दशविद्यास्थानपारग एकादशागधर आचारागधरो वा तात्कालिकस्वसमयपरसमयपारगो वा मेरुरिव निश्चल क्षितिरिव सहिष्णु सागर इव बहिक्षिप्तमल सप्तभयविप्रमुक्तः आचार्यः।

"देसकुलजाइसुद्धो
सग्गहणुग्गहकुसलो सुत्तत्थविसारओ पहियकित्ती।
सारणवारणसोहण-किरियुवज्जुत्तो हु आइरियो॥

—धवला पुस्तक प्र, पृ ४९।

२ आचार्यपद देने की विधि 'क्रियाकलाप' मे प्रकाशित हो चुकी है। उसी के आधार से देते है।

३ "आचार्यपद अद्य प्रभृति भवता रहस्यशास्त्राध्ययनदीक्षादानादिकमाचार्यकार्यमाचर्यमिति गणसमक्ष भाषमाणेन गुरुणा समर्प्यमाणपिच्छग्रहणलक्षणम्।"

—अनगार, पृ० ६६९।

आचार्य के छत्तीस गुण—आचारवत्त्व आदि ८, १२ तप, १० स्थिति-कल्प और ६ आवश्यक ये छत्तीस गुण होते है।

आचारवत्त्व आदि ८ गुण—आचारवत्त्व, आधारवत्त्व, व्यवहारपटुता, प्रकारकत्व, आयापायदर्शिता, उत्पीलन, अपरिस्रवण और सुखावहन।

आचारवत्त्व—आचार के पाच भेद है—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप आचार और वीर्याचार।

दर्शनाचार—जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना। अथवा सम्यक्त्व को पचीस मल दोष रहित—निर्दोष करना यह दर्शनाचार है। दर्शन शुद्धि के आठ भेद है—

नि शकित—तत्त्वो मे शका नही करना।

नि काक्षित—उभयलोक संबधी भोगो की आकाक्षा नही करना।

निर्विचिकित्सा—अस्नानव्रत, नग्नता आदि मे अरुचि नही करना।

अमूढदृष्टि—मूढता या मिथ्या परिणामो से रहित होना।

उपगूहन—चतुर्विध सघ के दोषो का आच्छादन करना।

स्थितिकरण—रत्नत्रय से च्युत होने वाले को उपदेशादि द्वारा स्थिर करना।

वात्सल्य—साधर्मियो मे अकृत्रिम स्नेह रखना।

प्रभावना—"दान, पूजन, व्याख्यान, वाद, मत्र, तन्त्र आदि से मिथ्या-मतो का निरसन कर अर्हंत के शासन को प्रकाशित करना[1]।"

"ये निःशकित आदि आठ गुण है इन्हे दर्शनशुद्धि कहते है। इनके विपरीत इतने ही अतिचार हो जाते है[2]।

ज्ञानाचार—जिससे आत्मा का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है, जिससे मनोव्यापार रोका जाता है और जिससे आत्मा कर्ममल से रहित होती है वही सम्यग्ज्ञान है। उसको आठ भेद सहित पालन करना ज्ञानाचार है। ये भेद ज्ञान की आठ शुद्धिरूप है।

काल शुद्धि—स्वाध्याय की बेला मे पठन, सच्चे शास्त्रो का परि-वर्तन, व्याख्यान आदि करना कालशुद्धि है।

---

१ "प्रभावना वादपूजादानव्याख्यानमत्रतत्रादिभिः मम्यगुपदेशैर्मिथ्यादृष्टिरोध-कृत्वा अर्हत्प्रणीतशासनोद्योतन।" —मूला टीका, पृ. १७४।

२ ते एते नि शकितादयो गुणा। अट्ठ—अष्टौ वेदितव्याः। एतेषा वैपरीत्येन तावन्तोऽतीचारा व्यतिरेकद्वारेण कथिता। मूला टी, पृ. १७४।

विनय शुद्धि—मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक शास्त्र में विनय से श्रुत का पठन पाठन करना।

उपधान शुद्धि—कुछ नियम लेकर अर्थात् 'जब तक यह ग्रन्थ पूरा न हो तब तक मेरा इस वस्तु का त्याग है' इत्यादि नियम लेकर पढ़ना।

बहुमान शुद्धि—पूजा, सत्कार पूर्वक पठन आदि करना।

अनिह्नव शुद्धि—जिस गुरु से शास्त्र पढ़ा है उनका नाम प्रकाशित करना अथवा जिस ग्रन्थ से ज्ञान हुआ है उसको नहीं छिपाना।

व्यंजन शुद्धि—वर्ण, पद, वाक्यों को शुद्ध पढ़ना।

अर्थशुद्धि—अर्थ का [illegible] रूप अर्थ करना।

तदुभय शुद्धि—शब्द और अर्थ को शुद्धिपूर्वक पढ़ना।

इस प्रकार कालादि शुद्धि के भेद से ज्ञानाचार के भी आठ भेद होते हैं।

चारित्राचार—पाप क्रिया से निवृत्ति चारित्र है। उसके पांच भेद हैं—प्राणिवध, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पांच पापों का सर्वथा त्याग कर देना ये पांच चारित्राचार है।

"पांच महाव्रतों की रक्षा के लिये रात्रिभोजन का भी त्याग किया जाता है। इसे छठा अणुव्रत भी कहते हैं"।[1] अथवा साधुओं के प्रतिक्रमण में भी कहा है—'रात्रिभोजन से विरक्त होना छठा अणुव्रत है'।[2]

अथवा पांच समिति और तीन गुप्ति रूप आठ प्रकार का चारित्राचार है।

"चंपापुरी, पावापुरी, गिरनार आदि तीर्थयात्रा हेतु, साधुओं के सन्यास निमित्त, देव, धर्म आदि के हेतु अथवा शास्त्रों को सुनने सुनाने के लिये अथवा प्रतिक्रमण आदि सुनने-सुनाने के लिये सूर्योदय हो जाने पर अपररात्रिक स्वाध्याय, प्रतिक्रमण और देववंदना करके प्रासुकमार्ग में चार हाथ आगे जमीन देखते हुए गमन करना ईर्यासमिति है[3]।" क्योंकि साधु किसी भी लौकिक कार्य के लिए या व्यर्थ गमन नहीं करते

१. तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ती। —मूला., पृ. १६०।

२ 'छट्ठं अणुव्वदं राइभोयणादो वेरमणं' —क्रियाकलाप।

३ "कैलाशोर्जयंतचंपापावादितीर्थयात्रासन्यासदेवधर्मादिकारणेन शास्त्रश्रावणादिकेन वा सप्रतिक्रमणश्रवणादिप्रयोजनेन चोदिते सवितरि गंतव्य। मूला. टी., पृ. २५०।

है ऐसे ही शास्त्रानुकूल बोलना, आहार करना, कुछ वस्तु रखना, उठाना और प्रासुक स्थान मे मलमूत्रादि विसर्जन करना ये पाच समितिया है।

अशुभ मन, वचन और काय का गोपन करना अर्थात्—मन, वचन, काय की अशुभ प्रवृत्ति का त्याग करना गुप्ति है। अथवा स्वाध्याय और ध्यान मे तत्पर हुए मुनि के जो मन, वचन, काय का सवरण होता है उसी का नाम गुप्ति है। इसके मन, वचन, काय की अपेक्षा तीन भेद हो जाते है।

इन्हे "अष्टप्रवचनमातृका' भी कहते है। क्योकि ये मुनियो के रत्नत्रय की रक्षा करती है जैसे कि माता अपने पुत्र की रक्षा करती है[1]।"

पाच महाव्रत, पाच समिति और तीन गुप्ति रूप तेरह प्रकार का चारित्र भी माना है इनका पालन करना-कराना ही चारित्राचार है।

"पाच महाव्रतो की रक्षा के लिए रात्रिभोजननिवृत्ति रूप छठा अणुव्रत, आठ प्रवचन मातृकाए और पचीस भावनाए मानी गयी है[2]।"

उसमे से सभी का लक्षण स्पष्ट है। अब पाच व्रतो की पच्चीस भावनाओ को कहते है—

भावना—व्रतो की पूर्णता हेतु या स्थिरता हेतु जो पुन-पुन भावित की जाती है, पाली जाती है वे भावनाएँ है। पाच व्रतो मे प्रत्येक की पाच-पाच भावनाएँ होने से पच्चीस भावनाए हो जाती है।

अहिंसा व्रत की ५ भावना—एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति ईर्यासमिति, मनोगुप्ति और आलोकितपानभोजन मे पाच भावनाए है। इनको भाने वाला साधु जीवदया का प्रतिपालन करता है अर्थात् प्रथम महाव्रत परिपूर्ण होता है। इसलिए अहिंसा महाव्रत की साधन रूप ये भावनाए है ऐसा समझो। इसमे से चार का लक्षण आ चुका है। आलोकितपानभोजन मे सूर्य के प्रकाश मे चक्षु इद्रिय से देखकर आगम के ज्ञानपूर्वक भोजनपान करना चाहिए।

---

१ एताओ अट्ठपवयणमादाओ णाणदसणचरित्त।
रक्खति सदा मुणिणो मादा पुत्त व पयदाओ॥ —मूलाचार, पृ० २७३।

२ तेसिं चेव वदाण रक्खट्ठ रादिभोयणणियत्ती।
अट्ठय पवयणमादाय भावणाओ य सव्वाओ॥ ९८॥
—मूलाचार मू०, पृ० २४५।

सत्यव्रत की ५ भावना—क्रोध, लोभ, भय और हास्य का त्याग करना तथा अनुवीचि-सूत्र के अनुकूल वचन बोलना[1] ये पाच भावनायें सत्यव्रत की पूर्णता हेतु है।

अचौर्यव्रत की ५ भावना—किसी की वस्तु पुस्तक आदि को उनसे माग कर लेना 'याचना' है, किसी की वस्तु उनकी अनुमति से ग्रहण करना और परोक्ष मे लेने पर उन्हे कह देना, समनुज्ञापना है, ग्रहण की हुई परवस्तु मे आत्मभाव नही करना अनन्यभाव है, त्यक्त प्रतिसेवा और सहधर्मी साधुओ के उपकरण–पुस्तक, पिच्छी आदि सूत्रानुकूल सेवन करना इस प्रकार याचा, समनुज्ञापना, अनन्यभाव, त्यक्त प्रतिसेवी और साधर्मी के उपकरण का अनुवीचि सेवन ये पाच भावनायें अचौर्यव्रत को पूर्ण करने वाली हैं।

ब्रह्मचर्यव्रत की ५ भावना—महिलाओ को कामविकार से देखना, पूर्व मे भोगे हुए भोगो का स्मरण करना, रागभाव के कारण भूत पदार्थों से ससक्त वसतिका मे रहना अथवा असयमी लोगो के साथ रहना, शृगारिक कथा—विकथा आदि करना, बल और दर्प उत्पन्न करने वाले रसो का सेवन करना। ये पाच भावनायें ब्रह्मचर्य व्रत को पूर्ण करने वाली है।

परिग्रहत्याग की ५ भावना—पच इन्द्रियो के प्रिय और अप्रिय विषय जो कि शब्द, रस, स्पर्श, रूप, और गध मे परिग्रह रहित मुनि रागद्वेष नही करते है। इसलिये इन पाच भावनाओ से परिग्रहमहाव्रत पूर्ण होता है।

'इन पचीस भावनाओ की भावना करने वाला साधु सोता हुआ भी अथवा मूर्छा को प्राप्त हुआ भी अपने सभी व्रतो मे किंचित् मात्र भी पीडा—विराधना को नही करता है पुन सावधान रहते हुए—जाग्रत रहते हुए की बात ही क्या है ? वह साधु स्वप्न मे भी इन भावनाओ को ही देखता है किंतु व्रतो की विराधना को नही देखता है[2]।'

तप आचार—"जो शरीर और इन्द्रियो को तपाता है—दहन करता है, वह तप है[3]।" यह कर्मो को दहन करने मे समर्थ है। इसके दो भेद

---

१ अनुवीचिभाषण चैव सूत्रानुसारेण भाषण। —मूला० टी०, पृ० २७४।

२ ण करेदि भावणाभाविदो हु पील वदाण सव्वेसि।
साधू पासुत्तो स मणागवि किं दाणि वेदतो ॥१४५॥

३, "तपति दहति शरीरेंद्रियाणि तप बाह्याभ्यतरलक्षण कर्मदहनसमर्थ।"
—मूला. टी, पृ १७२।

है—बाह्य और अभ्यतर। इन दोनो के भी छह-छह भेद होने से बारह भेद हो जाते है। इन बारह प्रकार के तपो का अनुष्ठान करना तप आचार है। इसका विस्तृत वर्णन आगे मुनियो के उत्तरगुणों मे किया जावेगा।

वीर्याचार—अपने बल और वीर्य को न छिपा कर जो साधु यथोक्त आचरण मे अर्थात् प्राणिमयम–इन्द्रियसयम के पालन और तपश्चरण मे अपने आपको लगाते है। कायरता प्रगट न करके हमेशा चारित्र के आचरण मे और तप मे उत्साहित रहते है। यही वीर्याचार है।

इन पाच आचारों का पालन करना-कराना ही आचारवत्त्व है।

२ **आधारवत्त्व**—जिस श्रुतज्ञानरूपी सपत्ति की कोई तुलना नही कर सकता उसको, अथवा नौ पूर्व, दशपूर्व या चौदह पूर्व तक के श्रुत-ज्ञान को अथवा कल्पव्यवहार के धारण करने को आधारवत्त्व कहते है।

३ **व्यवहारपटुता**—व्यवहार नाम प्रायश्चित्त का है, वह पाच प्रकार का है। इसकी कुशलता ही व्यवहारपटुता है। जिन्होने अनेक बार प्राय-श्चित्त देते हुए देखा है, स्वय ग्रहण किया है, दूसरो को दिलवाया है वे ही व्यवहारपटु है।

व्यवहार—प्रायश्चित्त के ५ भेद—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत।

ग्यारह अङ्गशास्त्रो मे प्रायश्चित्त वर्णित है अथवा उनके आधार से जो प्रायश्चित्त दिया जाता है उसको आगम कहते है।

चौदहपूर्व मे बताये हुए या तदनुसार दिये हुए को श्रुत कहते है। कोई आचार्य समाधिमरण के लिये उद्युक्त है, उनकी जघा का बल घट गया—वे दूर तक विहार नही कर सकते, वे आचार्य किसी योग्य आचार्य के पास अपने योग्य ज्येष्ठ शिष्य को भेज कर उसके द्वारा ही अपने दोषो की आलोचना कराकर प्रायश्चित्त मगा कर ग्रहण करते है उसको आज्ञा कहते है।

कोई आचार्य उपर्युक्त स्थिति मे है और उनके पास शिष्यादि भी नही हैं तो वे स्वय अपने दोषो की आलोचना कर पहले के अवधारित (जाने हुए) प्रायश्चित्त को ग्रहण करते है वह धारणा प्रायश्चित्त है।

बहत्तर पुरुषो की अपेक्षा जो प्रायश्चित्त बताया जाता है उसको जीत कहते है।

इनमे निष्णात आचार्य व्यवहारपटु कहलाते है।

४ प्रकारकत्व—जो समाधिमरण कराने मे या उसकी वैयावृत्य करने मे कुशल हैं उन्हे परिचारी अथवा प्रकारी कहते है यह गुण प्रकारकत्व कहलाता है।

५ आयापायदर्शिता—आलोचना करने के लिये उद्यत हुए क्षपक (समाधिमरण करने वाले साधु) के गुण और दोषो के प्रकाशित करने को आयापायदर्शिता अथवा गुणदोषप्रवक्तृता कहते है।

६ उत्पीलन—कोई साधु या क्षपक यदि दोषो को पूर्णतया नही निकलता है तो उसके दोषो को युक्ति और बल से बाहर निकाल लेना उत्पीलन गुण है।

७ अपरिस्रवण—शिष्य के गोप्य दोष को सुनकर जो प्रकट नही करते हैं उनके अपरिस्रवण गुण होता है।

८ सुखावहन—क्षुधादि से पीड़ित साधु को उत्तम कथा आदि के द्वारा शात करके सुखी करते है वे सुखावह गुण के धारी हैं।

इस प्रकार इन आठ गुण के धारी आचार्य आचारी, आधारी, व्यवहारी, प्रकारक, आयापायदिक्, उत्पीडक, अपरिस्रावी और सुखावह होते हैं।

स्थितिकल्प के दश भेद

आचेलक्य, औद्देशिकपिंडत्याग, शय्याधरपिंडत्याग, राजकीयपिंडत्याग, कृतिकर्म, व्रतारोपण योग्यता, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मासैकवासिता और योग, इस प्रकार स्थितिकल्पगुण दश हैं।

१ आचेलक्य—वस्त्रादि सपूर्ण परिग्रह के अभाव को अथवा नग्नता को आचेलक्य कहते हैं। नग्न दिगवर साधु लगोटीमात्र को भी नही रखते हैं चूकि उसे धोना, सुखाना, सभालना, फटने पर याचना करना आदि अनेक आकुलताएँ होती है जिससे ध्यान-अध्ययन की पूर्णतया सिद्धि असभव है। तथा तीर्थंकरो के आचरण का अनुसरण भी नग्नता से ही होता है।

२ औद्देशिकपिंड त्याग—जो मुनियो के उद्देश्य से तैयार किया गया है ऐसे भोजन पान आदि द्रव्य को ग्रहण नही करना औद्देशिक पिंड—आहार का त्याग गुण होता है।

३ शय्याधरपिंड त्याग—वसतिका बनवाने वाला, उसका सस्कार करने वाला और वहा पर व्यवस्था आदि करने वाला ये तीनो ही शय्याधर शब्द से कहे जाते है। इनके आहार उपकरण आदि न लेने को शय्याधरपिड त्याग कहते है। अभिप्राय यह है कि किसी ने वसतिका दान किया, साधु वहा ठहरे पुन "यदि मै आहार नही दूँगा तो लोग क्या कहेगे कि इसने साधु को ठहरा तो लिया किंतु उन्हे आहार नही दिया" इत्यादि भावना से सक्लिष्ट परिणाम करके आहार देने से दोषास्पद है। यदि कोई गृहस्थ मान कपाय या भय, सकोच आदि रहित होकर मात्र पात्रदान की भावना से वसतिका दान देकर आहारदान भी देता है तो उसमे कोई दोष नही है।

कोई आचार्य इसको शय्यागृहपिड त्याग कहकर इसका ऐसा अर्थ करते है कि विहार करते हुए माग मे रात्रि को जिस गृह या वसति मे ठहरें या शयन आदि करें वहा दूसरे दिन आहार नही लेना। अथवा वसतिका सबधी द्रव्य के निमित्त से जो भोजन तैयार किया गया हो उसको नही लेना यह शय्यागृहपिडोज्झा गुण है।

४ राजकीय पिंड त्याग—इच्छ्वाकु कुल आदि मे जन्मे अथवा अन्य राजाओ के यहाँ आहार नही लेना राजकीयपिडत्याग गुण है। अभिप्राय यह है कि ऐसे घरो मे भयकर कुत्ते आदि जन्तु अपघात कर सकते है या पशु—गाय, भैस आदि या गर्विष्ठ नौकर चाकर आदि अपमान कर सकते है इत्यादि बाधक कारणो के प्रसग से राजाओ के यहाँ का आहार नही लेना चाहिये। उपर्युक्त दोषो से रहित यदि होवे तो लेने मे कोई दोष नही है। भरतसम्राट् आदि महाराजाओ के यहा तो आहार होते ही थे।

५ कृतिकर्म—विधिवत् आवश्यको का पालन करना, अथवा गुरुजनो का विनयकर्म करना कृतिकर्म है।

६ व्रतारोपणयोग्यता—शिष्यो मे व्रतो के आरोपण करने की योग्यता होना यह छठा गुण है।

७ ज्येष्ठता—जो जाति, कुल, वैभव, प्रताप और कीर्ति की अपेक्षा गृहस्थो मे महान् रहे है, जो ज्ञान और चर्या आदि मे उपाध्याय और आर्यिका आदि से भी महान् है, क्रियाकर्म के अनुष्ठान मे भी श्रेष्ठ हैं उनके यह सातवा गुण होता है।

८ प्रतिक्रमण—प्रतिक्रमण के नाना भेदो को समझने वाले और विधिवत् करने कराने वाले आचार्य इस गुण के धारी होते है।

९ मासैकवासिता—जिनके तीन दिन रात्रि तक एक ही स्थान मे या ग्राम मे रहने का व्रत हो उनके यह मासैकवासिता गुण होता है। चूकि अधिक दिन एक जगह रहने से उद्गम आदि, क्षेत्र मे ममता, गौरव मे कमी, आलस, शरीर मे सुकुमारता, भावना का अभाव, ज्ञातभिक्षा का ग्रहण आदि दोष होने लगते है।

मूलाराधना मे इसका ऐसा अर्थ किया है कि "चातुर्मास के एक महीने पहले और पीछे उसी ग्राम मे रहना[1]।"

१० योग—वर्षा काल मे चार महीने एक जगह रहना। चूकि वृष्टि के निमित्त से त्रस-स्थावर जीवो की बहुलता हो जाती है, इससे विहार मे असयम होगा, वृष्टि से ठडी हवा चलने आत्मविराधना—शरीर मे कष्ट, व्याधि, मरण आदि आ जावेगे। जल, कीचड आदि के निमित्त गिर जाना आदि सभव है। इत्यादि कारणो से चातुर्मास मे एक सौ बीस दिन तक एक ग्राम मे रहना यह उत्सर्ग (उत्कृष्ट) मार्ग है। अपवाद मार्ग की अपेक्षा विशेष कारण उपस्थित होने पर अधिक अथवा कम दिन भी निवास किया जा सकता है। अधिक मे आषाढ शुक्ला दशमी से कार्तिक-शुक्ला पूर्णिमा के ऊपर तीस दिन तक निवास किया जा सकता है। अत्यधिक जलवृष्टि, श्रुत का विशेष लाभ, शक्ति का अभाव और किसी की वैयावृत्ति आदि के विशेष प्रसग आ जाने पर, इन प्रयोजनो के उद्देश्य से एक स्थान मे अधिक दिन निवास किया जा सकता है। यह उत्कृष्ट काल का प्रमाण है।

इस प्रकार से आचार्य के ये स्थितिकल्प नाम के दश गुण बताये हैं।

छह आवश्यको का वर्णन हो चुका है। इस प्रकार आचारवत्त्वादि ८ + तपश्चरण १२ +, स्थितिकल्प १० + और आवश्यक ६ = ३६ गुणो को पालन करने वाले आचार्य परमेष्ठी होते है।

अन्यत्र अन्य प्रकार से भी बताये है। यथा—"१२ तप, १० धर्म, ५ आचार, ६ आवश्यक और तीन गुप्ति ये आचार्य के ३६ गुण होते है[2]।"

---

१ मासैकवासिता त्रिंशदहोरात्रमेकत्र ग्रामादौ वसति तद्व्रत तद्भाव ।"

—अन, पृ ६७४।

२ द्वादशतप दशधर्मजुत, पाले पचाचार।
षट् आवश त्रयगुप्ति गुण, आचारज पदसार ॥१९॥

—इष्टछत्तीसी, बुधजनकविकृत।

१२ तप आदि का वर्णन किया जा चुका है।

दशधर्म का वर्णन

उत्तमक्षमा—आहार के लिये अथवा विहार के लिये साधु भ्रमण करते है, उस समय कोई दुष्टजन अपशब्द, उपहास अथवा तिरस्कार, कर देते हैं या मारपीट देते है तो भी मन मे कलुषता का न होना उत्तम-क्षमा है।

उत्तममार्दव—जाति, कुल, विद्या आदि का घमड नही करना उत्तम-मार्दव है।

उत्तमआर्जव—मन, वचन और काय को सरल रखना आर्जव है।

उत्तम शौच—प्रकर्षप्राप्त लोभ का त्याग करना उत्तम शौच है।

उत्तम सत्य—अच्छे पुरुषो के साथ साधु वचन बोलना।

उत्तम संयम—प्राणियो की हिंसा और इन्द्रियो के विषयो का परिहार करना।

उत्तम तप—कर्मक्षय हेतु बारह प्रकार का तपश्चरण करना।

उत्तम त्याग—सयत के योग्य ज्ञान आदि का दान करना।

उत्तम आकिंचन्य—जो शरीर आदि हैं उनमे भी संस्कार को दूर करने के लिये 'यह मेरा है' इस प्रकार के अभिप्राय का त्याग करना।

उत्तम ब्रह्मचर्य—स्त्रीमात्र का त्याग करना "अथवा स्वतंत्रवृत्ति का त्याग करने के लिये गुरुकुल मे निवास करना ब्रह्मचर्य है[1]।"

ख्याति, पूजा आदि की अपेक्षा बिना आत्मविशुद्धि हेतु इन धर्मो को पालने के लिये ही इनमे उत्तम विशेषण लगाया गया है। यहा तक आचार्य के ३६ गुणो का वर्णन दो प्रकार से हो चुका है।

उपाध्याय परमेष्ठी

"चौदह विद्यास्थान—चौदह पूर्व के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते है, अथवा तत्कालीन परमागम के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते है। वे सग्रह और अनुग्रह आदि गुणो को छोडकर मेरु के समान निश्चितता आदि रूप आचार्य के गुणो से समन्वित होते हैं[2]।"

---

१ स्वतन्त्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थो वा गुरुकुलवासी ब्रह्मचर्यम्। —सर्वार्थसिद्धि पृ., ४१३।

२ चतुर्दशविद्यास्थानव्याख्यातारः उपाध्याय तात्कालिकप्रवचनव्याख्यातारो वा आचार्यस्योक्ताशेषलक्षणसमन्विता. सग्रहानुग्रहादिगुणहीना।"
—धवला प्र, पु. पृ. ५१।

अर्थात् उपाध्याय परमेष्ठी केवल पठन-पाठन मे ही लगे रहते हैं। वाकी शिष्यो का संग्रह करना, उन्हे दीक्षा देना, प्रायश्चित्त देना, उनका सरक्षण करना, सघ की व्यवस्था सभालना आदि कार्य आचार्य के हैं सो ये नही करते है।

अन्यत्र उपाध्याय के मुख्य पचीस गुण माने हैं—

"ग्यारह अङ्ग और चौदह पूर्व को आप पढते हैं और अन्य को पढाते हैं। ये पचीस गुण उपाध्याय परमेष्ठी के होते हैं।[1]"

ग्यारह अग—१ आचाराग, २ सूत्रकृताग, ३ स्थानाग, ४ समवायांग, ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६ ज्ञातृकथाग, ७ उपासकाध्ययनाग, ८ अत:-कृद्दशाग, ९ अनुत्तरोत्पाददशाग, १० प्रश्नव्याकरणाग ११ विपाक-सूत्राग।

चौदह पूर्व—१ उत्पादपूर्व, २ अग्रायणीयपूर्व, ३ वीर्यानुवादपूर्व, ४ अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व, ५ ज्ञानप्रवादपूर्व, ६ कर्मप्रवादपूर्व, ७ सत्य-प्रवादपूर्व, ८ आत्मप्रवादपूर्व, ९ प्रत्याख्यानपूर्व, १० विद्यानुवादपूर्व, ११ कल्याणवादपूर्व, १२. प्राणावायपूर्व, १३ क्रियाविशालपूर्व और १४ लोकविंदुसारपूर्व।

आज इन अगपूर्वों का ज्ञान न रहते हुए भी उनके कुछ अशरूप षट्-खंडागम, कसायपाहुड आदि ग्रन्थ तथा उन्ही की परम्परा से आगत समयसार, मूलाचार आदि ग्रन्थ विद्यमान है। तत्कालीन सभी ग्रन्थो के पढने-पढाने वाले भी उपाध्याय परमेष्ठी हो सकते है। 'धवला' मे "तात्कालिकप्रवचनव्याख्यातारो वा" इस पद से स्पष्ट किया है।

साधु परमेष्ठी

"जो अनतज्ञानादिरूप शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते हैं उन्हे साधु कहते है। जो पाच महाव्रतो को धारण करते है—तीन गुप्तियो से सुरक्षित है, अठारह हजार शील के भेदो को धारण करते हैं और चौरासी लाख उत्तरगुणो का पालन करते है, वे साधु परमेष्ठी कह-लाते है[2]।"

---

१. चौदह पूरब को धरें ग्यारह अग सुजान।
उपाध्यायपच्चीस गुण पढे पढावे ज्ञान ॥२५॥

२ "अनतज्ञानादि शुद्धात्मस्वरूप साधयन्तीति साधव। पचमहाव्रतधरास्त्रिगुप्ति-गुप्ता. अष्टादशशीलसहस्रधराश्चतुरशीतिशतसहस्रगुणधराश्च साधव।"
—धवला प्र० पु०, पृ० ५२।

प्रारंभ मे जो अट्ठाईस मूलगुणो का वर्णन किया गया है वे ही इनके मूलगुण है। यथा—५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियनिरोध, १ केशलोच, ६ आवश्यक, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदतधावन, स्थितिभोजन और एक भक्त, ये उनके नाम है। आचार्य उपाध्याय और साधु तीनो ही प्रकार के दिगम्बर गुरुओ मे ये मूलगुण अवश्य ही रहते है। पुन. आचार्य अपने दिगम्बर शिष्य को ही आचार्य पद देते हैं। पटन पाठन मे कुशल योग्य साधु को उपाध्याय पद देते है। आचार्यपद और उपाध्याय-पद देने की विधि क्रियाकलाप मे है। उस विधि से आचार्य दीक्षा या उपाध्याय दीक्षा होने पर ही प्रमाणता आती है। धवला मे इन तीनो गुरुओ की पूज्यता के विषय मे बहुत ही सुन्दर समाधान है। यथा—

आचार्य आदि को नमस्कार करना क्या ?

शका—जिन्होने आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लिया है ऐसे अरिहत और सिद्ध को नमस्कार करना योग्य है, किन्तु आचार्यादि तीन पर-मेष्ठियो को नमस्कार करना योग्य नही है, चूँकि उन्होने अभी आत्म-स्वरूप को प्राप्त नही किया है इसलिये उनमे देवपने का अभाव है ?

समाधान—ऐसा नही कहना, क्योकि तीन रत्न ही देव है जो कि अपने-अपने भेदो से अनत भेद रूप है और उन रत्नत्रय से विशिष्ट जीव भी देव है, अन्यथा—यदि ऐसा नही मानोगे तो अशेप जीवो को भी

प्रथमहिं आचाराग गणि, दूजा सूत्रकृताग।
ठाण अग तीजो सुभग, चौथा समवायाग ।।२६।।
व्याख्यापण्णति पाचमो, ज्ञातृकथा षट् जान।
पुनि उपासकाध्ययन हैं, अत कृत दश ठान ।।२७।।
अनुत्तरण उत्पाद दश, विपाक सूत्र पहचान।
बहुरि प्रश्नव्याकरण जुत, ग्यारह अग प्रमाण ।।२८।।
उत्पाद पूर्व अग्रायणी, तीजो वीरजवाद।
अस्ति नास्ति परवाद पुनि, पचम ज्ञान प्रवाद ।।२९।।
षष्टम कर्म प्रवाद है, सत्प्रवाद पहचान।
अष्टम आत्म प्रवाद पुनि, नवमो प्रत्याख्यान ।। ३०।।
विद्यानुवाद पूरब दशम, पूर्वकल्याण महत।
प्राणवाद किरिया बहुल, लोकबिंदु है अत ।।३१।।

—इष्ट छत्तीसी।

२ क्रियाकलाप पुस्तक मे मुद्रित हो चुकी है।

देवपना प्राप्त होने की आपत्ति आ जावेगी। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि आचार्य आदि भी रत्नत्रय के यथायोग्य धारक होने से देव है, क्योकि अरिहन्तादि से आचार्यादि मे रत्नत्रय के सद्भाव की अपेक्षा कोई अन्तर नही है। अर्थात् जिस तरह अरिहन्त और सिद्धो मे रत्नत्रय पाया जाता है उसी तरह आचार्यादि मे भी रत्नत्रय का सद्भाव पाया जाता है।

आचार्यादि परमेष्ठियो मे स्थित तीन रत्नो का सिद्ध परमेष्ठी मे स्थित रत्नों से भी भेद नही है। यदि दोनो के रत्नत्रय मे भेद मानोगे, तो आचार्यादिक मे स्थित रत्नो के अभाव का प्रसग आ जावेगा। अर्थात् जब आचार्यादिक के रत्नत्रय सिद्ध परमात्मा के रत्नत्रय से भिन्न सिद्ध हो जावेंगे तो आचार्यादि के रत्न ही नहीं कहलावेंगे।

शंका—संपूर्ण रत्न अर्थात् पूर्णता को प्राप्त रत्नत्रय ही देव है, रत्नो का एकदेश देव नही हो सकता।

समाधान—ऐसा कहना भी उचित नही है, क्योकि, रत्नो के एकदेश मे देवपना के होने पर रत्नो की समग्रता मे भी देवपना नही बन सकता है। अर्थात् जो कार्य जिसके एकदेश मे नही देखा जाता वह उसकी समग्रता मे कहाँ से आ सकता है?

शंका—आचार्यादि मे स्थित रत्नत्रय समस्त कर्मों के क्षय करने मे समर्थ नहीं हो सकते हैं, क्योकि उनके रत्न एकदेश है।

समाधान—यह कहना ठीक नही है, क्योकि जिस प्रकार पलालराशि का दाहरूप अग्नि समूह का कार्य अग्नि के एक कण से भी देखा जाता है, उसी प्रकार यहाँ पर समझना चाहिये। इसलिये आचार्य आदि भी देव है, यह बात निश्चित हो जाती है[1]।"

---

१ युक्त प्राप्तात्मस्वरूपाणामर्हतां सिद्धानां च नमस्कार, नाचार्यादीनां, अप्राप्तात्मस्वरूपत्वतस्तेषां देवत्वाभावादिति न, देवो हि नाम त्रीणि रत्नानि स्वभेदतोऽनन्तभेदभिन्नानि, तद्विशिष्टो जीवोऽपि देव, अन्यथाशेषजीवानामपि देवत्वापत्ते। तत आचार्यादयोऽपि देवा, रत्नत्रयास्तित्व प्रत्यविशेषात्। नाचार्यादिस्थितरत्नानां सिद्धस्थरत्नेभ्यो भेद, रत्नानामाचार्यादिस्थितानामभावापत्ते।

"सपूर्णरत्नानि देवो न तदेकदेश इति चेन्न, रत्नैकदेशस्य देवत्वाभावे समस्तस्यापि तदसत्त्वापत्ते। न चाचार्यादिस्थितरत्नानि कृत्स्नकर्मक्षय कर्तृणि, रत्नैकदेशत्वादिति चेन्न, अग्निसमूहकार्यस्य पलालराशिदाहस्य तत्कणादप्युपलभात्। तस्मादाचार्यादयोऽपि देवा इति स्थितम्।"

—धवला प्र० पु०, पृ० ५३–५४।

इस प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि महामन्त्रणमोकार में अन्तर्गत अर्हंत, सिद्ध के अनन्तर ये आचार्य उपाध्याय और साधु परमेष्ठी माने गये हैं ये भी देव हैं अतः पूज्य हैं।

यहाँ तक संक्षेप से आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के मूलगुणों का वर्णन हुआ है।

विशेष—इस प्रकार से ये तीनों नग्न दिगम्बर मुनि ही होते हैं किन्तु आचार्य, उपाध्याय, और साधु के गुणों की अपेक्षा से इनके तीन भेद हो जाते हैं।



२. मूलगुण-उत्तरगुण

साधु के उत्तरगुण

मुनियो के बारह तप और बाईस परीषहजय ऐसे ये १२ + २२ = ३४ उत्तरगुण होते हैं।

अट्ठाईस मूलगुण तो आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीनो मे पाये ही जाते हैं। इनके बिना वे दिगम्बर मुनि हो ही नही सकते। अनन्तर आचार्य पद और उपाध्याय पद की दीक्षा मे उनके गुण होना चाहिये। किन्तु ये ३४ उत्तरगुण इन तीनो मे से किसी मे भी पाये जा सकते है।

बारह तप—जो कर्म निर्जरा हेतु तपा जाता है वह तप है। उसके दो भेद हैं—बाह्य और अभ्यन्तर। इन दोनो के भी छह-छह भेद होने से बारह भेद हो जाते हैं। बाह्य तप के छह भेद—अनशन, अवमोदर्य, रस-परित्याग, वृत्तिपरिसख्यान, कायक्लेश और विविक्तशयनासन।

१ अनशन—चतुराहार का त्याग अनशन कहलाता है। इसके दो भेद हैं—इत्तिरिय और यावज्जीवन। इत्तिरिय को साकाक्ष—सापेक्ष या सावधि भी कहते हैं और यावज्जीवन अनशन को निराकाक्ष—निरपेक्ष या निरवधि भी कहते है।

एक दिन मे भोजन की दो वेला मानी है। उसमे से एक वेला के भोजन का त्याग करके एक बार भोजन करना एकभक्त है। उपवास के पहले दिन और अगले दिन एकभुक्ति करके एक-एक भक्त का त्याग करना तथा बीच के दिन दोनो भोजन का त्याग करना, इस प्रकार चार भक्त के त्याग के चतुर्थ—उपवास है। ऐसे ही दो दिन उपवास और अगले पिछले दिन एक-एक भक्त का त्याग इसे षष्ठ—वेला कहते है।

ऐसे ही एक, दो, तीन, चार, पाच उपवास अथवा पक्षोपवास मासोपवास आदि रूप से उपवास के अनेक भेद है। तथा कनकावली, एकावली, विमानपक्ति, सिहनिष्क्रीडित आदि अनेक प्रकार तपो का अनुष्ठान करना। छह महीने तक के उपवास को उत्कृष्ट अनशनतप कहते है। इनमे 'इतने कालतक मै आहार का त्याग करूँगा' ऐसी काल की अपेक्षा होने से साकाक्ष तप है। इस तपोविधि को 'सिद्धिप्रासादव्रत' कहते है, क्योकि ऐसी तपोविधि से सिद्धि—मुक्तिरूपी-राजमहल की प्राप्ति होती है।

सल्लेखना के समय जीवनपर्यंत के लिए जो आहार का त्याग किया जाता है वह निराकाक्ष अनशन है। इसके भक्तप्रतिज्ञा,[1] इगिनी और प्रायोपगमन ये तीन भेद है। और भी इसी प्रकार के उपवास को निराकाक्ष-तप कहते हैं।

२ **अवमोदर्यतप**—पुरुषो का आहार बत्तीस कवल प्रमाण है और स्त्रियो का अट्ठाईस कवलमात्र है। अर्थात् एक हजार चावल[2] का एक कवल होता है ऐसे बत्तीस कवल मात्र ही एक पुरुष का स्वाभाविक आहार है इससे न्यून—कम ग्रहण करना अवमोदर्य तप है। उपवास करने की शक्ति नही होने से एक ग्रास, दो ग्रास आदि कम करके अल्प भोजन किया जाता है। इसमे कम करते-करते एक चावल तक भी ग्रहण करना अवमोदर्य है। ध्यान स्वाध्याय की सिद्धि हेतु प्रमाद परिहार के लिये यह तप किया जाता है।

३ **रसपरित्याग**—दूध, दही, घी, तेल, गुड और नमक इन रसो का, इनमे से किसी एक, दो आदि का त्याग करना रसपरित्याग तप है। तथा तिक्त, कटु, कषायला, आम्ल और मीठा इन रसो मे से त्याग करना तप है। ये पदार्थ प्रासुक है फिर भी तपोबुद्धि से इनका त्याग किया जाता है।

नवनीत—मक्खन, मद्य, मास और मधु ये चार महाविकृतियाँ है। साधु तो क्या श्रावक भी इनका जीवनपर्यंत के लिये त्याग कर देते है। क्योकि ये त्रसजीवो के पिंड है।

४ **वृत्तपरिसख्यान**—आहार के लिये जाते समय साधु कुछ भी अटपटा नियम, घरो का, दातार का या अशन आदि का नियम कर लेते है उसे वृत्तपरिसख्यान तप कहते है। 'जैसे कोई वृद्ध पडगाहन करेगा' तो ही आज आहार लेंगे, या कासे के पात्र से अथवा सुवर्ण पात्र या मिट्टी के पात्र से आहार देगा तभी लेंगे अन्यथा नही। ऐसा नियम करना वृत्त-परिसख्यान है।

५ **कायक्लेश**—कायोत्सर्ग करना, एकपार्श्व से या दण्डाकार सोना, उत्कुटिकासन, पर्यंकासन, मकरमुखासन आदि अनेक प्रकार के आसन से ध्यान करना, इत्यादि प्रकारो से शास्त्रानुसार जो शरीर को कष्ट दिया जाता है उसे कायक्लेश तप कहते है। वृक्षमूल, अभ्रावकाश, आतापन आदि योगो के द्वारा शरीर को क्लेश देना यह सब कायक्लेश

---

१ इनका वर्णन 'सल्लेखना' मे किया जावेगा।

२. विद्वान् लोग चावल से माप का चावरु लेते है अतः

तप है। इस तप से शरीर से ममत्व नष्ट होता है और सहनशीलता बढते हुए अनेको उपसर्ग परीषहो को विजय करने की शक्ति आती है।

६ **विविक्त शयनासन**—पशु, स्त्री, वेश्या, व्यतरिणी आदि से रहित, गृहस्थो के ससर्ग से भी रहित ऐसे स्थान मे शयन करना और बैठना, यह विविक्तशयनासन तप है। इससे स्वाध्याय और ध्यान की सिद्धि होती है।

ये छह प्रकार के तप बाह्य—गृहस्थ और मिथ्यादृष्टि आदि सभी मे प्रसिद्ध है। इसलिये बाह्य कहे जाते है। साधु अपनी शक्ति के अनुसार आत्मविशुद्धि हेतु इन तपो का अनुष्ठान करते रहते है—अभ्यन्तर तप के भी छह भेद होते है—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग।

७ **प्रायश्चित्त**—पूर्वकृत अपराध का शोधन करना प्रायश्चित्त है। इसके दस भेद है—

आलोचना—आचार्य के अथवा देव के पास जाकर चारित्राचार पूर्वक उत्पन्न हुए अपराधो का निवेदन करना।

प्रतिक्रमण—दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण करना।

तदुभय—आलोचना और प्रतिक्रमण पूर्वक दोषो का निराकरण करना।

विवेक—कदाचित् कोई अप्रासुक वस्तु ग्रहण करने या कराने मे आ जाय अथवा त्यागी हुई प्रासुक भी वस्तु यदि भूल से ग्रहण करने मे आ जाय तो उसको छोड देना विवेक है।[1]

व्युत्सर्ग—दु स्वप्न आदि अतिचार शोधन हेतु कायोत्सर्ग करना व्युत्सर्ग है।

तप—अपराधजन्य दोष दूर करने हेतु उपवास आदि करना।

छेद—एक दिन, दो दिन, मास, वर्ष आदि की दीक्षा छेद देना-कम कर देना।

मूल—सम्पूर्ण दीक्षा छेद कर पुन दीक्षा देना।

परिहार—कुछ दिन के विभाग से साधु का अलग कर देना परिहार है।

---

१ विस्मृत्य ग्रहणेऽप्रासोर्ग्राहणे वाऽपरस्य वा।
प्रत्याख्यातस्य सस्मृत्य विवेको वा विसर्जनम् ॥५०॥
—अन०, पृ० ५०२।

श्रद्धान—तत्त्व मे रुचि करना अथवा क्रोधादि का परित्याग करना।

प्रमाद से या अज्ञान से साधुओ को भी व्रतो मे कुछ न कुछ छोटे या बडे दोष लग जाया करते है। तब साधु आचार्य के निकट एकान्त मे बैठकर विधिवत्–दशदोष रहित अपने दोषो की आलोचना करते है। तब गुरु भी अपरिस्रावी आदि गुणो से सयुक्त हुए उपर्युक्त दश भेदो मे से यथायोग्य प्रायश्चित्त देते है। लघु दोषो मे आलोचना आदि प्रायश्चित्त देते हैं और बड़े दोषो मे छेद, मूल आदि प्रायश्चित्त देते हैं। "अर्हंत-गेह, सिद्ध क्षेत्र आदि प्रशस्त स्थानो मे शुभ दिन, शुभ नक्षत्रो मे प्रायश्चित्त देते हैं पुन उसके दोष को कभी किसी के सामने प्रगट नही करते है[1]।"

आलोचना प्रायश्चित्त मे एक बात विशेष समझने की है कि यदि मुनि अपने दोषो की आलोचना करते हैं तो आचार्य के पास एकात मे करते है और यदि आर्यिकायें करती है तो वे अकेली आचार्य के पास नही बैठती है। उनके साथ या तो एक आर्यिका रहती है या आचार्य के निकट एक मुनि बैठते हैं। आलोचना करते समय दश दोषो का त्याग करना चाहिये—

उन दश दोषो के नाम—आकंपित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुल, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवित।

१ आचार्य बडा प्रायश्चित्त न दे दें इस भय से और शंका से उन्हे उपकरण आदि देकर अथवा किसी अन्य उपाय से उनको थोडा प्रायश्चित्त देने के लिए अपने अनुकूल करने का नाम आकपित दोष है।

२ प्रार्थना करने पर मुझे थोडा ही प्रायश्चित्त देंगे इस हेतु से 'उन वीर पुरुषो को धन्य है जो महान् तप करते है मै तो शक्तिहीन हूँ इत्यादि' प्रकार से अपनी अशक्ति प्रगट कर अपना अपराध कहना अनुमानित दोष है।

---

१ अर्हत्सिद्धसमुद्राब्जसर क्षीरफलाकुलम्।
तोरणोद्यानसद्मादियक्षवेश्मबृहद्गृहम्॥
सुप्रशस्त भवेत्स्थानमन्यदप्येवमादिकम्।
सूरिरालोचना तत्र प्रतीच्छत्यस्य शुद्धये॥

—अन०, पृ० ४९७।

३ यदि अपना अपराध किसी ने देख लिया है तो गुरु के पास कह दिया अन्यथा नही, यह दृष्ट दोप है ।

४ गुरु के साथ छोटे-छोटे दोष छिपाकर बडे-बड़े को कहना बादर दोष है ।

५. स्थूल दोपो को छिपा कर केवल सूक्ष्म दोषो को ही कहना सूक्ष्म दोष है ।

६ अपने दोप को न कह कर युक्ति से गुरु से पूछना कि भगवन् ! इस अपराध के हो जाने पर क्या प्रायश्चित्त है, उत्तर सुनकर आप चुपके से वह अनुष्ठान कर लेना छन्न दोप है ।

७ पक्षादि प्रतिक्रमण के समय जब बहुत से लोगो का शब्द हो रहा हो उस समय कोलाहल मे ही गुरु के समक्ष अपने दोप प्रगट करना शब्दाकुल दोप है ।

८. बहुत गुरु मिलकर जो आलोचना करते है वह बहुजन दोप है ।

९ अपने से ज्ञान या सयम मे जो हीन हैं उनसे प्रायश्चित्त लेना अव्यक्त दोष है ।

१० अपने समान अपराधी पार्श्वस्थ से प्रायश्चित्त लेना तत्सेवित दोष है ।

साधु इन दश दोषो से रहित आलोचना करके गुरुमुख से प्रायश्चित्त ग्रहण कर दोषो से मुक्त हो जाते है ।

८. विनय—अनुद्धत वृत्ति अर्थात् विनम्रता को विनय कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और औपचारिक ।

दर्शन विनय—निर्दोष सम्यक्त्व का पालन करना, पचपरमेष्ठी की भक्ति, पूजा करना, उनके अवर्णवाद—असत्य आरोपो को दूर करना और उनकी आसादना—अवज्ञा आदि को दूर करना । इत्यादि कार्यों से दर्शन विनय होता है।

ज्ञान विनय—काल शुद्धि आदि आठ प्रकार से ज्ञान की आराधना ज्ञान का विनय है ।

चारित्र विनय—इन्द्रिय और कषायो के व्यापार से हटना, गुप्ति समिति का पालना इत्यादि चारित्र का विनय है ।

तपोविनय—तप मे उत्तरगुणो मे अनुराग और उत्साह रखना, तप से अधिक साधु मे भक्ति करना और तप से हीन से अवहेलना नही करना इत्यादि तपोविनय है ।

उपचार विनय—इसके प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेद हैं। उसमे भी मन, वचन, काय की अपेक्षा दोनो के तीन भेद हो जाते है।

प्रत्यक्ष विनय—गुरु को सामने आते हुए देखकर उठकर खडे हो जाना, कृतिकर्म पूर्वक नमस्कार करना, आसन देना, चलते समय उनके पीछे चलना, उनसे नीचे बैठना इत्यादि कायिक विनय है।

हे भगवन्! इत्यादि रूप से पूजा सत्कार सूचक वचन बोलना, हित, मित, मधुर, आगमानुकूल, अनिष्ठुर—मृदु, कर्कशता रहित अच्छे वचन बोलना वाचनिक विनय है। गुरु के अपमान आदि के परिणाम या पाप-रूप परिणाम नही करना प्रत्युत सम्यग्ज्ञानादि मे परिणाम लगाना मानसिक विनय है।

परोक्ष विनय—गुरुजनो के परोक्ष मे की जाने वाली विनय परोक्ष विनय है। काय से—हाथ जोडकर कृतिकर्म पूर्वक वन्दना करना, उनके प्रति आदर सूचक वचन कहना, मन मे भक्ति रखना, उनकी आज्ञा का पालन करना आदि परोक्ष विनय है।

"साधुजन अपने से एक रात्रि भी दीक्षा मे बडे ऐसे मुनियो की, अपने से लघु मुनियो की, आर्यिकाओ की और श्रावको की भी यथा योग्य[1] विनय करते है।" अर्थात् बडो को नमस्कार करना, वैयावृत्ति आदि से लघु मुनियो की प्रतिवदना, वैयावृत्य, मधुर भाषण आदि से ऐसे आर्यिका और श्रावको के प्रति यथायोग्य व्यवहार, आदरभाव, वात्सल्य भाव आदि रूप विनय करते है। क्योकि अपने से दीक्षा मे लघु को या आर्यिका, श्रावक आदि को मुनि नमस्कार नही करते।

९ **वैयावृत्य**—अपनी शक्ति के अनुसार उपकार करना वैयावृत्ति है। आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक और गणधर इनकी तथा बाल-वृद्ध मुनियो से व्याप्त जो गच्छ-साधु-सघ है इनकी सर्व सामर्थ्य से वैयावृत्ति करनी चाहिये अर्थात् आहार, उपकरण, औषधि, पुस्तक आदि के द्वारा इनका उपकार करना चाहिये। जो अपने से गुणो मे अधिक है, तपस्वी है, शास्त्र शिक्षण मे तत्पर है, दुर्बल है या व्याधिग्रस्त है ऐसे मुनियो की तथा चतुर्विध सघ की सेवा करना।

कोई साधु मार्ग से थके हुए आये है, या शत्रु, पशु, राजा आदि के द्वारा त्रास हुआ है। ऐसे साधुओ को वसतिका देना, आसन आदि देकर आहार आदि की व्यवस्था कराकर और भी यथोचित शुश्रूषा करना,

---

१ रादिणिए ऊणरादिणिएसु अ अज्जासु चेव गिहिवग्गे।
विणओ जहारिहो सो कायव्वो अप्पमत्तेण॥

शास्त्र सुनाना, 'सोठ, पीपल आदि औषधि'[1] दिलाना इत्यादि सभी वैयावृत्ति तप है।

"जो अपने समान रत्नत्रय साधन करने वालो के ऊपर आई हुई आपत्ति को देखकर भी सो जाता है—दूर करने की चेष्टा नही करता है वह समस्त सम्पत्तियो के विषय मे भी सो जाता है। क्योकि अर्हंत देव ने अन्तरग और बहिरग सम्पूर्ण तपस्याओ का हृदय तप ही बतलाया है।[2]"

१० **स्वाध्याय**—स्व-अपने लिये हितकर जो श्रुत का सम्यक् अध्ययन है वह स्वाध्याय है। इसके वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ऐसे पाँच भेद है। यह भी कर्मनिर्जरा और ध्यानसिद्धि के लिये मुख्यतया साधन होने से अन्तरग तप है।

"बाह्याभ्यतर भेद युक्त बारह प्रकार के तप मे स्वाध्याय के समान तप न हुआ है न होगा[3]।"

११ **ध्यान**—एकाग्रचितानिरोध का नाम ध्यान है अर्थात् किसी एक विषय पर उपयोग का स्थिर होना। इसके चार[4] भेद है—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल।

१२ **व्युत्सर्ग**—परिग्रह के त्याग को व्युत्सर्ग कहते है। इसके दो भेद है—अभ्यतर और बाह्य। क्रोधादि कषायें ४, मिथ्यात्व १, वेद ३ और हास्यादि ६, ऐसे चौदह प्रकार के अभ्यतर परिग्रह है। तथा क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, शयनआसन, कुप्य और भाड (हिंगु मरीचादि) ये दश प्रकार के बाह्य परिग्रह है इनका त्याग करना व्युत्सर्ग है।

"अथवा शरीर से भिन्न अपनी आत्मा को देखते हुए तीन गुप्ति का आश्रय लेना और शरीर मे भी नि स्पृह होकर ध्यान करना व्युत्सर्ग है।"[5]

---

१ औषधेन शु ठिपिप्पल्यादिकेन। —मूला० टी०, पृ० ३०८।

२ सधर्मापदि य शेते स शेते सर्वसपदि।
वैयावृत्य हि तपसो हृदय ब्रुवते जिना ॥८०॥ —अनगार०, पृ० ५२०।

३ बारसविधम्हि वि तवे सब्भतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
णवि अत्थि णवि य होही सज्झायसम तवोकम्म ॥ —मूलाचार, पृ० ३२१।

४ इनका वर्णन 'ध्यान' मे किया जावेगा।

देहाद्विविक्तमात्मान पश्यन् गुप्तित्रयी श्रित।
स्वागेऽपि नि स्पृहो योगी व्युत्सर्ग भजते परम् ॥९५॥
यावज्जीव तनुस्त्यागस्तत्राद्योऽर्हादिभावभाक् ॥९८॥
—अनगार०, पृ० ५३०-३१।

शरीर के त्याग को भी पूर्वाचार्यो ने अन्तरंगोपधि व्युत्सर्ग कहा है। इसके भी दो भेद है—नियतकाल और सार्वकालिक। नियतकाल के भी दो भेद है—नित्य और नैमित्तिक। आवश्यक क्रिया आदि मे किया जाने वाला काय का त्याग (काय के ममत्व के त्याग रूप कायोत्सर्ग) नित्य है और अष्टमी आदि पर्व सम्बन्धी नैमित्तिक है। सार्वकालिक कायत्याग के भक्तप्रतिज्ञा, इगिनी, प्रायोपगमन की अपेक्षा तीन भेद है।"

इस प्रकार से बारह भेद रूप तप का वर्णन हुआ।

बाईस परीषह

"मोक्षमार्ग से च्युत न होने के लिए और कर्मों की निर्जरा करने के लिए जो सहन करने योग्य हो वे परीषह है। उनके क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन। मोक्षार्थी पुरुष जब इनकी बाधाओ को शात भाव से सहन करते है तब इन्हे परीषहजय कहते है।[1]"

१ **क्षुधा**—आहार न मिलने पर या अल्प मिलने पर क्षुधाजन्य बाधा से खेद को प्राप्त नही होना क्षुधापरीषहजय है।

२ **तृषा**—पित्तादि के प्रकोप से उत्पन्न हुई प्यास की बाधा को समाधि रूपी जल से शात करना तृषापरीषहजय है।

३ **शीत**—आवरण-वस्त्रादि से रहित खुले स्थान पर बर्फ आदि की ठडी को सहन करना शीत परीषहजय है।

४ **उष्ण**—ग्रीष्मकालीन सूर्य से सतप्त पृथ्वी पर उष्णता को सहन करना उष्णपरीषहजय है।

५ **दंशमसक**—डास-मच्छर, बिच्छू, सर्प आदि के काट लेने पर उनकी पीडा को सहन करना दशमशक परीषहजय है।

६ **नग्नता**—नग्नमुद्रा मे अखण्ड ब्रह्मचर्य को धारण करते हुए भी बालकवत् निर्विकार रहना नग्नपरीषहजय है।

७ **अरति**—शून्यस्थान, गुफा आदि मनविरुद्ध स्थानो मे भी अरुचि न करना अरति परीषहजय है।

८ **स्त्री**—स्त्रियो द्वारा विभ्रम भाव से बाधा पहुँचाने पर भी निश्चल मन रहना स्त्री परीषहजय है।

१. सर्वार्थसिद्धि के आधार से

९ **चर्या**—ककरीली सडको पर चलते समय खेदखिन्न नही होना चर्या परीषहजय है।

१० **निषद्या**—नियतकाल तक बैठने से कष्ट होने पर उसे शाति से सहन करना निषद्या परीषहजय है।

११ **शय्या**—स्वाध्याय आदि से थककर एक करवट शयन करते समय ककरीली आदि पृथ्वी के निमित्त से हुए कष्ट को सहन करना शय्या परीषहजय है।

११ **आक्रोश**—अज्ञानियो द्वारा कठोर, असभ्य, निद्य वचन सुनकर भी क्रोध नही करना आक्रोश परीपहजय है।

१३ **वध**—अज्ञानी द्वारा तीक्ष्ण मुद्गर आदि से ताडित किये जाने पर भी दु खी नही होना वध परीषहजय है।

१४ **याचना**—शरीर के शुष्क हो जाने पर भी आहार, औषधि आदि की याचना नही करना याचना परीषहजय है।

१५ **अलाभ**—बहुत काल तक आहार का लाभ न मिलने पर भी 'लाभादलाभो वर मे' मेरे लिये लाभ की अपेक्षा अलाभ ही अच्छा है चूँकि अधिक कर्मो की निर्जरा हो जावेगी ऐसा मानना अलाभ परीषहजय है।

१६ **रोग**—अनेको रोगो के हो जाने पर भी औषधि उपचार आदि की अपेक्षा नही करना रोग परीषहजय है।

१७ **तृणस्पर्श**—तृण, ककर, काटे, आदि की बाधा को सहन करते हुए चर्या शय्या निषद्या मे प्राणी पीडा के परिहार की भावना रखना तृणस्पर्श परीषहजय है।

१८ **मल**—स्नानत्याग व्रत होने से मल से लिप्त शरीर होते हुए खुजली आदि से उत्पन्न हुई पीडा की उपेक्षा कर देना, मलिन शरीर से मन मे ग्लानि नही लाना मल परीषहजय है।

१९ **सत्कार-पुरस्कार**—महातपस्वी, सिद्धान्तवेत्ता, कुशल साधु होने पर भी कदाचित् किसी के द्वारा सत्कार और पुरस्कार को प्राप्त नही होने पर मन मे खेदखिन्न नही होना सत्कार पुरस्कार परीषहजय है।

२० **प्रज्ञा**—'मै बहुत ज्ञानी हूँ' इत्यादि रूप से विद्या-बुद्धि का मद नही करना प्रज्ञापरीषहजय है।

२१ **अज्ञान**—'यह मूर्ख है' इत्यादि शब्दो से दूसरे से अपमानित होने पर भी और 'मैने घोर तपश्चरण आदि किया है फिर भी मुझमे ज्ञानातिशय नही हो रहा है' इत्यादि रूप से खेद खिन्न नही होना अज्ञान परीषहजय है।

२२ अदर्शन—'मै शुद्ध परिणामी हूँ, चिरकाल से दीक्षित हूँ, तपस्वी हूँ' फिर भी मेरी देवादिको द्वारा कोई पूजा आदि नही हो रही है। शास्त्रो मे लिखा है कि 'महोपवास आदि से देवो द्वारा अतिशय किया जाता है' सो यह सब कथन असत्य दिखता है। इत्यादि रूप से मन मे नही सोचना अदर्शन परीषहजय है।

साधु आगामी कर्मो का संवर और पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा के लिए अपनी शक्ति के अनुसार इन उत्तरगुणो का भी पालन करते है। इनके अतिरिक्त आतापन आदि त्रिकालयोग भी उत्तरगुण है इस प्रकार अधिक-से-अधिक चौरासी लाख उत्तरगुण होते है।

. साधुओ को मूलगुणो का पालन अतिआवश्यक है। आज के युग मे हीन सहनन आदि के निमित्त से मूलगुणो को निरतिचार पालन करने का प्रयत्न करना चाहिये। "जो साधु मूलगुणो को—अहिंसादिव्रतो को नष्ट कर बाह्य योग को—वृक्ष मूलयोग, अभ्रावकाशयोग और आतापन आदि योगो को धारण करता है उसके वे योग मूलगुणरहित होने से निष्फल हो जाते है अर्थात् उनमे कर्मक्षय करने की सामर्थ्य नही रहती है[1]।" "जो मुनि उत्तरगुणो के लोभ से मूलगुणो मे से किसी की विराधना कर देते है तो समझिए कि वे अगुली की रक्षा के लिए शिरच्छेद कर डालते है।"

विशेष—इन छत्तीस प्रकार के उत्तरगुणो को पालन करने वाले आचार्य या सामान्य मुनि उत्तरगुणधारी कहलाते है। कोई-कोई उत्तरगुण से रहित होते है। कोई कुछ उत्तरगुणो को पालन करते है और कोई पूर्णतया उत्तरगुणो को पालन करते हैं। अत उत्तरगुणो की अपेक्षा दिगम्बर मुनियो मे अनेको भेद हो जाते है।

शील के भेद

शील के १८००० हजार भेद होते है। यथा—३ योग, ३ करण, ४ सज्ञायें, ५ इद्रिय, १० पृथ्वीकायिक आदि जीव भेद और १० श्रमणधर्म इनका परस्पर गुणा करने से ३ × ३ × ४ × ५ × १० × १० = १८००० भेद हो जाते है।[2]

---

१ मूल छित्ता समणो गिण्हादि य बाहिर जोग।
बाहिरजोगा सव्वे मूलविहीणस्स किं करिस्सति ॥२९॥—मूलाचार, पृ० ४४३।

२ जोए करणे सण्णा, इदिय भोम्मादि समणधम्मे य।
अण्णोण्णेहि अभत्था, अट्ठारससील सहस्साइ ॥—मूलाचार, पृ० ६१०।

मन, वचन, काय को योग कहते है। अशुभ कर्म के ग्रहण मे कारण-भूत क्रियाओ के निग्रह को करण कहते है। निमित्त के भेद से इसके भी मन, वचन और काय ये तीन भेद हैं। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार सज्ञायें है। स्पर्शन आदि पाच इद्रियाँ है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिंद्रिय और पचेन्द्रिय ये दश जीव भेद है। क्षमा मार्दव आदि दश धर्म है।

इनके सिवाय शील के १८००० भेदो के और भी प्रकार है—

(१) विषयाभिलापा आदि १० (विषयाभिलाषा, वस्तिमोक्ष, प्रणीत-रससेवन, ससक्तद्रव्यसेवन, शरीरागोपागावलोकन, प्रेमी का सत्कार पुरस्कार, शरीरसस्कार, अतीत भोगस्मरण, अनागत भोगाकाक्षा, इष्ट-विषयसेवन।)

चिंता आदि १० (चिंता, दर्शनेच्छा, दीर्घनिश्वास, ज्वर दाह, आहारारुचि, मूर्च्छा, उन्माद, जोवनसदेह, मरण।) इन्द्रिय ५, योग ३, और कृत कारित अनुमोदना ये ३, जाग्रत और स्वप्न ये २, तथा चेतन और अचेतन ये २। सवको गुणित करने से १०×१०×५×३×३×२×२=१८००० भेद हो जाते है।

(२) स्त्री ३ (देवी, मानुपी, तिरश्ची) को योग ३, कृत कारित अनु-मोदना ३, सज्ञायें ४ और इन्द्रिय १० (५ द्रव्येन्द्रिय ५ भावेंद्रिय) तथा १६ कषाय से गुणने पर १७२८० भेद होते है। इनमे अचेतन स्त्री सबधी ७२० भेद जोडना। यथा अचेतन स्त्री के ३ भेद (काष्ठ, पाषाण, चित्र) योग २ (मन और काय) कृतादि ३ और कषाय ४ तथा इन्द्रिय भेद १० से गुणा करने पर ३×२×३×४×४×१०=७२० भेद होते है। १७२८०+७२०=१८०००।

(३) स्त्री ४×योग ३×कृतादि३×इन्द्रिय५×शृगाररसभेद१०× और कायचेष्टा भेद १०=१८००० भेद हो जाते है।

ये सभी भेद अयोगी के पूर्ण माने गये है। यथा—जो शील के भेदो के स्वामी हो चुके है, जिनके सपूर्ण आस्रव रुक चुका है, जो कर्मरज से विप्रमुक्त है ऐसे काययोग से भी रहित अयोग केवली होते है।[२]"

---

१ गोम्मटसार जीव०, पृ० ४८।

२ सीलेसिं सपत्तो णिरुद्धणिस्सेस आसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥६५॥ —गोम्मटसार जीव०।

चौरासी लाख उत्तरगुण

हिंसादि २१, अतिक्रमादि ४, पृथ्वी आदि १००, अब्रह्म १०, आलोचना के दोष १० और प्रायश्चित्त के भेद १० इनको परस्पर गुणने से २१ × ४ × १०० × १० × १० × १० = ८४००००० उत्तरगुण होते है।

हिंसादि—२१—हिंसा, असत्य, अचौर्य, अब्रह्म, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, मनोमगुल, वचनमगुल, कायमगुल, (पाप सचय करने वाली क्रिया मगुल है) मिथ्यादर्शन, प्रमाद, पैशून्य, अज्ञान और अनिग्रह (इन्द्रियो की स्वच्छन्द प्रवृत्ति)

अतिक्रम आदि ४—अतिक्रमण (विषयो की इच्छा), व्यतिक्रमण (विषयो के उपकरण मिलाने के विचार), अतिचार (व्रतो मे शिथिलता आ जाना), अनाचार (व्रत भग हो जाना)।

पृथ्वी आदि १००-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति, अनंत कायिक वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय इनको परस्पर मे गुणित कर देने से १० × १० = १०० हो जाते हैं।

अब्रह्म १०—स्त्रीससर्ग, प्रणीतरसभोजन, गधमाल्यसस्पर्श, शयनासन (कोमल शय्या आसन की अभिलाषा), गीतवादित्र, अर्थसप्रयोग (सुवर्णादि की अभिलाषा), कुशील, ससर्ग, राजसेवा (विषयो की आशा से राजा की सेवा) और रात्रिसचरण ये १० शील विराधनाये है।

आलोचना के १० दोष—आकपित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी, आलोचना के ये १० दोष है।

प्रायश्चित्त के १० भेद—आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युसर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान ये दोषो की शुद्धि के १० उपाय है। सबका परस्पर गुणन करने से ८४००००० उत्तर गुण होते हैं। इनकी पूर्ति भी चौदहवें गुणस्थान मे ही होती है।

इस प्रकार से १० धर्म, १२ तप, २२ परीषहजय, १८००० शील और ८४००००० गुण ये सभी उत्तरगुण कहलाते है।

विशेष—इन अठारह हजार शीलो की और चौरासी लाख उत्तरगुणो की पूर्ति अयोगकेवली नाम के चौदहवें गुणस्थान मे ही होती है। उसके पहले दिगम्बर मुनि इनकी भावना भाते हुए इन्ही की पूर्ति के लिए सारे पुरुषार्थ करते है। और जितने अशो मे पाल सकते है पालते हैं।

इसलिये इन शील और गुणो की अपेक्षा भी दिगम्बर मुनियो के अनेको भेद हो जाते है।

आराधना से भेद

जिसके द्वारा मोक्ष सुख के अर्थीजन सम्यग्दर्शन आदि को आराधित–सेवित करते है उसे आराधना कहते हैं। इसमे चार विषय ज्ञातव्य हैं—आराध्य, आराधक, आराधना और उसका फल।

"रत्नत्रय आराध्य है, विशुद्धात्मा भव्य आराधक है, उपाय आराधना है और उसका फल अभ्युदय तथा मोक्ष है[1]।"

आराधना के चार भेद है–दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना, चारित्राराधना और तप आराधना।

शका आदि दोषो से रहित और आठ अग रूप निर्दोष सम्यक्त्व धारण करना दर्शनाराधना है।

अर्थ, व्यजन की शुद्धि आदि आठ भेदो से युक्त ज्ञान का सचय करना ज्ञानाराधना है।

तेरह प्रकार का चारित्र पालना चारित्राराधना है।

बारह प्रकार के तपो का विधिवत् पालन करना तप आराधना है। दर्शनाराधना मे ज्ञानाराधना और चारित्राराधना मे तप आराधना गर्भित हो जाने से सक्षेप मे आराधनायें दो ही है। "अथवा अतिसक्षेप मे चारित्राराधना ही एक आराधना है चूँकि सम्यक्त्व के बिना चारित्र अचारित्र है और ज्ञान भी मिथ्याज्ञान ही है और तप भी बालतप ही है अत सम्यक्चारित्र के सेवन से सभी आराधनायें आराधित हो जाती है। इसलिये आराधना एक भी मानी जाती है।[2]"

भेदरूप से इन चार आराधनाओ की आराधना करने वाले भव्यजीव ससार के अनेक अभ्युदयो को प्राप्त कर क्रमशः मोक्ष को प्राप्त कर लेते है।

विशेष—इन चार आराधनाओ मे से प्रारभ की तीन आराधनायें तो प्राय सभी दिगबर मुनियो के पाई जाती है। किन्तु तप आराधना उत्तरगुणधारी मुनियो मे ही खास कर विवक्षित है। अत इन आराधनाओ की अपेक्षा दिगबर मुनियो मे भेद हो जाते है।

---

१ रत्नत्रयमाराध्य भव्यस्त्वाराधको विशुद्धात्मा।
आराधना हयुपायस्तत्फलमभ्युदयमोक्षौ स्त ॥ —मूलाराधना, पृ० ४।

२ अहवा चारित्ताराहणाए आराहिय हवइ सव्व।
आराहणाए सेसस्स चारित्ताराहणा भज्जा ॥८॥ —मूलाराधना।

मुनियों और आचार्यों में उत्तरगुण और श्रुत से भेद

मुनियो के सामान्यतया चार भेद और आचार्यों मे भी सामान्यतया चार भेद किये जा सकते है।

प्रथम तो सामान्य मुनि होते है जो कि अपने लगुणो का पालन करते है। दूसरे मुनि वे है जो मूलगुणो के साथ उत्तरगुणो को भी पालन करते है। तीसरे मुनि वे है जो मूल गुणधारी है, उत्तरगुणो से शून्य हैं किन्तु सिद्धांत के विशेष वेत्ता है और चौथे मुनि वे है, जो मूलगुण तथा उत्तरगुणो का पालन करते है और सिद्धान्त के वेत्ता भी है।

ऐसे ही अट्ठाईस मूलगुण और आचार्य के छत्तीस गुणो को धारण करने वाले सामान्य आचार्य होते है। दूसरे आचार्य नाना प्रकार के उत्तरगुणो से अपने शरीर को क्लेश देने वाले भी है। तीसरे प्रकार के आचार्य उत्तरगुणधारी नही है किंतु सिद्धात के वेत्ता है और चौथे प्रकार के आचार्य मूलगुणो तथा उत्तरगुणो से सहित होते हुए सिद्धात के वेत्ता भी है।

विशेष—आजकल यद्यपि प्रथम भेद रूप मुनि और प्रथम भेदरूप आचार्य ही देखे जाते है। फिर भी कोई मुनि या आचार्य उत्तरगुणो को भी कुछ-कुछ अशो मे धारण करते है और कोई-कोई तात्कालिक श्रुतज्ञान के भी मर्मज्ञ होते है। इन भेदो की अपेक्षा भी दिगबर मुनि-आचार्यों मे भेद देखा जाता है।



३. ध्यान

"उत्तम सहनन वाले का एक विषय मे चित्तवृत्ति का रोकना ध्यान है जो अंतर्मुहूर्त काल तक होता है[1] ।"

आदि के वज्रवृषभ नाराच, वज्रनाराच और नाराच ये तीनो सहनन उत्तम माने है। ये तीनो ही ध्यान के साधन है, किन्तु मोक्ष का साधन तो प्रथम सहनन ही है।

नाना पदार्थो का अवलम्बन लेने से चिन्ता परिस्पदवती होती है। उसे अन्य अशेष मुखो से—विषयो से लौटा कर एक अग्र—एक विषय मे नियमित करना एकाग्रचिन्ता निरोध कहलाता है। यही ध्यान है यह उत्कृष्ट भी एक मुहूर्त के भीतर ही तक होता है चूँकि इसके बाद एकाग्रचिन्ता दुर्धर ही है। चिन्ता के निरोध—अभाव—रूप होने से यह ध्यान असत्—शून्यरूप नही है प्रत्युत "निश्चल अग्नि की शिखा के समान निश्चल रूप से अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है[2] ।"

"जो एक चिन्ता का निरोध है वह तो ध्यान है और जो इससे भिन्न है वह भावना है। उसे विद्वान् लोग अनुप्रेक्षा अथवा अर्थ चिन्ता भी कहते हैं।"[3]

ध्यान के चार भेद हैं—आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल। यह ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का भी हो जाता है। पापास्रव का कारण भूत अप्रशस्त है और कर्म दहन की सामर्थ्य से युक्त ध्यान प्रशस्त है। अन्यत्र भी कहा है—

"जिस ध्यान मे मुनि रागरहित हो जावें वह प्रशस्त ध्यान है और वस्तु स्वरूप से अनभिज्ञ तथा राग द्वेष मोह से पीडित जीव की स्वाधीन;

---

१. उत्तमसहननस्यैकाग्रचितानिरोधो ध्यानमातर्मुहूर्तात् ।।२०।।
—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ९।

२ ज्ञानमेवापरिस्पदाग्निशिखावदवभासमान ध्यानमिति ।
—सर्वार्थ०, पृ० ४४५।

३ एकचितानिरोधो यस्तद्धयानभावना परा ।
अनुप्रेक्षार्थचिता वा तज्ज्ञैरभ्युपगम्यते ।।१६।। —ज्ञानार्णव, पृ० २४३।

प्रवृत्ति अप्रशस्त ध्यान है। यह विना उपदेश के ही होता है क्योकि यह अनादि वासना है।[1]

"धर्म्य और शुक्ल ये दो ध्यान मोक्ष के लिये कारण है और आर्त-रौद्र ध्यान ससार के लिए कारण है[2]।"

आर्तध्यान—'ऋत' अर्थात् दुःख, अथवा 'अर्दनमर्ति' अर्थात् पीडा है। इसमे होने वाला ध्यान 'आर्तध्यान' है। इसके चार भेद है—

विष कटक शत्रु आदि अप्रिय पदार्थ अमनोज्ञ है। उनका सयोग होने पर 'मै क्या उपाय करूँ कि जिससे यह मुझ से दूर हो जावें' ऐसा बार-बार चितन करना अनिष्ट सयोगज आर्तध्यान है।

स्वपुत्र, धन, स्त्री आदि मनोज्ञ वस्तु के वियोग होने पर उसकी प्राप्ति की सतत चिन्ता करना इष्ट वियोगज आर्तध्यान है।

शरीर मे वेदना के होने से उसके दूर करने हेतु बार-बार विचार करना तृतीय वेदनाजन्य आर्तध्यान है।

आगामी विषयो की प्राप्ति हेतु मन का उपयोग लगाना—चिन्ता करना सो निदान आर्तध्यान है।

"यह आर्तध्यान पहले गुणस्थान से लेकर छठे तक हो सकता है। छठे मे मात्र निदान आर्तध्यान नही है। बाकी तीन आर्तध्यान प्रमाद के उद्रेक से कदाचित् हो सकते है।[3]"

रौद्रध्यान—'रुद्र' अर्थात् क्रूर आशय, इसका जो कर्म है, अथवा जो क्रूराशय से होता है वह रौद्रध्यान है। उसके भी चार भेद है—हिंसा, असत्य, चोरी और विषय सरक्षण के[3] लिए सतत चिन्तन करना। इस प्रकार से इन चार के आश्रय से चार भेद रूप रौद्रध्यान है। यह पहले गुणस्थान से लेकर देशविरत गुणस्थान तक होता है।

"देशविरत के रौद्रध्यान कैसे हो सकता है?"

हिंसादि के आवेश से या धन आदि के सरक्षण की परतन्त्रता से कदाचित् देशव्रती के भी हो सकता है। किन्तु सम्यग्दर्शन की सामर्थ्य से[4]

---

१ ज्ञानार्णव पृ० २४४।

२. परे मोक्षहेतू ॥२९॥

३ प्रमत्तसयताना तु निदानवर्ज्यमन्यदार्तत्रय प्रमादोदयोद्रेकात् कदाचित्स्यात्।

४ "देशविरतस्य कथ? तस्यापि हिंसाद्यावेशाद्वित्तादिसरक्षणतन्त्रत्वाच्च कदाचिद्भवितुमर्हति। तत्पुनर्नारकादीनामकारण, सम्यग्दर्शनसामर्थ्यात्।"
—सर्वार्थसिद्धि।

उसका यह ध्यान नरक आदि दुर्गतियों का कारण नही है।"

धर्म्य ध्यान

धर्म से युक्त ध्यान धर्म्य ध्यान है। इसके भी चार भेद हैं—आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान। इनकी विचारणा के निमित्त मन को एकाग्र करना धर्म ध्यान है।

उपदेश देने वाले का अभाव होने से, स्वय मदबुद्धि होने से, कर्मों का उदय होने से और पदार्थों के सूक्ष्म होने से इत्यादि कारणो से सर्वज्ञ प्रणीत आगम को प्रमाण मान करके 'यह इसी प्रकार है, क्योकि जिन अन्यथावादी नही होते' ऐसा गहन पदार्थों का भी श्रद्धान द्वारा अर्थ निश्चित करना आज्ञाविचय धर्म्य ध्यान है। अथवा स्वय पदार्थों के रहस्य को जानता है और जो दूसरो को उसका प्रतिपादन करना चाहता है इसलिए जो स्व सिद्धात का समर्थन चितवन आदि है वह सभी आज्ञाविचय है।

मिथ्यादृष्टी जीव सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से विमुख हो रहे हैं, उन्हे सन्मार्ग का ज्ञान न होने से मोक्षार्थी पुरुषो को दूर से ही त्याग देते हैं। अथवा ये प्राणी मिथ्यादर्शन आदि से कैसे दूर हो ऐसा निरतर चितन करना अपायविचय धर्म्य ध्यान है।

ज्ञानावरण आदि कर्मों के उदय से होने वाले फल के अनुभव का वार-वार चितन करना विपाक विचय धर्म्यध्यान है।

लोक के आकार और स्वभाव का निरतर चितवन करना सस्थान विचय धर्म्य ध्यान है।

इस प्रकार उत्तम क्षमा आदि दस धर्मों से सहित ध्यान धर्म्य ध्यान है। यह अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर सातवें गुणस्थान तक होता है।

श्री वीरसेन स्वामी ने धवला मे धर्म्य ध्यान को दशवें गुणस्थान तक भी माना है।

अन्यत्र ग्रन्थो मे सस्थान विचय धर्म्य के पिडस्थ पदस्थ आदि चार भेद किये है जो कि मन को बाह्य प्रपचो से हटाने के लिए बहुत ही सहायक होते है।

इसमे आचार्य ने सबसे पहले ध्याता का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि जो सर्वारभ परिग्रह से रहित मुनि है,' वे ही इन्द्रिय और मन पर

पार्थिवी धारणा

प्रथम ही योगी मध्यलोक मे स्वयंभूरमण समुद्र पर्यंत जो तिर्यक् लोक है, उसके समान नि शब्द, कल्लोल रहित, सफेद क्षीरसमुद्र का चिंतवन करें। उसके मध्यभाग मे अमित फैलती हुई दीप्ति से शोभायमान, पिघलाये हुए सुवर्ण की सी प्रभावाले एक सहस्रदल के कमल का चिंतवन करे। यह कमल जवूद्वीप के वरावर एक लाख योजन विस्तृत है ऐसे सोचे। पुन उस कमल के मध्य मे सुवर्णाचल–मेरु के समान पीतरग की प्रभावाली कर्णिका का चिंतवन करे। उस कर्णिका मे एक ऊँचा सिंहासन है। उसपर अपनी आत्मा को सुखरूप, शात स्वरूप क्षोभरहित चिंतवन करे। मै सपूर्ण रागद्वेषादि को क्षय करने मे समर्थ हूँ, कर्म की सतान को नाश करने मे उद्यमी हूँ। यह पार्थिवी धारणा का स्वरूप हुआ।

आग्नेयी धारणा

तत्पश्चात् योगी निश्चल अभ्यास से चिंतवन करे कि अपने नाभिमडल मे १६ ऊँचे-ऊँचे पत्रो का कमल है। उनमे क्रम से "अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अ अ" ये सोलह अक्षर स्थित है। और कर्णिका पर "र्हँ" ऐसा महामत्र विराजमान है। पुन उस महामत्र के रेफ से मद-मद धूम शिखा उठ रही है, अनतर उसमे से प्रवाह रूप स्फुलिगो की पक्ति निकलने लगी, तत्पश्चात् उसमे से ज्वाला की लपटे उठने लगी। पुन वे लपटें वढते हुए हृदय मे स्थित कमल को जलाने लगी है। अर्थात् हृदय मे अधोमुख आठ पाखुडी वाला एक कमल है उसके दलो पर क्रमश. आठ कर्म स्थित हैं। इस कमल को 'र्हँ' बीजाक्षर से निकली हुई अग्नि ने जला दिया है। तव आठो कर्म जल चुके हैं, यह एक चैतन्य परिणामो की ही सामर्थ्य है।

उस कमल के जल जाने पर शरीर के बाह्य अग्नि त्रिकोणाकार हो गई है, यह ज्वाला के समूह से वडवानल के समान है। तथा अग्निबीजाक्षर 'र' से व्याप्त और अत मे साथिया के चिन्हो से चिह्नित है। ऊर्ध्व वायुमडल से उत्पन्न धूम रहित काचन सी प्रभा वाला यह त्रिकोणाकार है। इस प्रकार धगधगायमान फैलती हुई अग्नि की लपटो से बाहर का अग्निमडल अतरग की मत्राग्नि को दग्ध कर रहा है। पुन यह नाभिस्थ कमल और शरीर को भस्मीभूत करके जलाने योग्य वस्तु का अभाव

होने से धीरे-धीरे अपने आप अग्नि शात हो जाती है। यह आग्नेयी धारणा हुई।

श्वसना धारणा

तत्पश्चात् योगी आकाश मे पूर्ण होकर विचरते हुए महावेगवान् और महावलवान् वायुमडल का चितवन करता है। यह पवन मेरु पर्वत को भी कपित करने वाली है, मेघो के समूह को विखेरती हुई, समुद्र को क्षुब्ध करती हुई, लोक के मध्य गमन करती हुई, दशो दिशाओ मे सचरती हुई, जगत्‌रूपी घर मे फैली हुई और पृथ्वीतल मे प्रवेश करती हुई ऐसा चितवन करता है। पुन जो शरीरादि की भस्म है, उसको इस वायुमडल ने तत्काल उडा दिया। तत्पश्चात् यह स्थिर होकर शात हो गई है। ऐसा चिनवन करना मारुती धारणा है।

वारुणी धारणा

पुन. मुनिराज इन्द्रधनुप, विजुली गर्जनादि चमत्कार सहित मेघो से भरे हुए आकाश का चितवन करते है। ये मेघ अमृत से उत्पन्न मोती के समान उज्ज्वल वडे-वड़े मोतियो से निरतर धारारूप वरस रहे है। पुन अर्द्धचद्राकार मनोहर अमृतमय जल के प्रवाह से आकाश को वहाते हुए वरुणमडल का चितवन करते हैं। दिव्यध्यान से उत्पन्न हुआ यह जल शरीर के जलाने से उत्पन्न हुई समस्त भस्म को धो देता है। यह वारुणी धारणा हुई।

तत्त्वरूपवती धारणा

अनतर सयमी मुनि सप्त धातु रहित, पूर्णचद्रमा के समान निर्मलप्रभा-वाले, सर्वज्ञ समान अपने आत्मा का ध्यान करते है। हमारी आत्मा अतिशय से युक्त, सिंहासन पर आरूढ, कल्याणको की महिमा सहित, देवेन्द्रो से पूजित है। आठ कर्मो के विलय हो जाने मे स्फुरायमान, अतिनिर्मल पुरुषाकार हैं। ऐसा चितवन करना तत्त्वरूपवती धारणा है।

इस प्रकार पिंडस्थ ध्यान के निश्चल अभ्यास से ध्यानी मुनि थोडे ही काल मे मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेते है।

पदस्थ ध्यान

जिसको योगीश्वर अनेक पवित्र मन्त्रो के अक्षर का अवलम्बन लेकर चिन्तवन करते है वह पदस्थ ध्यान है। इसमे सर्वप्रथम अनादि-सिद्धान्त

मे प्रसिद्ध वर्णमातृका का ध्यान करना चाहिये । चूँकि यह सम्पूर्ण वाङ्मय की जन्मभूमि है ।

वर्णमातृका ध्यान

ध्याता मुनि नाभिमडल मे स्थित सोलह दल वाले कमल की पाखुडियो पर क्रमश 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अ अ' इन सोलह स्वरो का चिन्तवन करे । पुन अपने हृदय स्थान मे कर्णिका सहित चौबीस पाखुडी के कमल पर कर्णिका तथा पत्रो मे क्रमश क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म' इन पच्चीस अक्षरो का ध्यान करे । अनन्तर आठ पत्रो से विभूषित मुख कमल के प्रत्येक पत्र पर भ्रमण करते हुए 'य र ल व श ष स ह' इन आठ वर्णो का ध्यान करे ।

इस प्रकार इन ४९ वर्ण मातृकाओ का ध्यान करने वाला साधु श्रुत समुद्र का पारगामी हो जाता है तथा क्षयरोग, अग्निमंदता, कुष्ठ, उदर रोग, कास, श्वास आदि रोगो को जीत लेता है और वचनसिद्धि, पूज्यता आदि गुणो का पुन्ज हो जाता है ।

मन्त्रराज का ध्यान—'ऊर्ध्वाधोरयुत सविन्दु सपर' ऐसा मन्त्र 'र्ह्ं' है उसका ध्यान करते है । इसका कैसा ध्यान करे—

सुवर्णमय कमल की कर्णिका पर विराजमान मल-कलक रहित पूर्ण चन्द्रमा की किरणो के समान उज्ज्वल, आकाश मे गमन करते हुए तथा दिशाओ मे व्याप्त होते हुए इस मन्त्र का ध्यान करे । कितने लोग इस मन्त्र को ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर और बुद्ध कहते है । वास्तव मे जिनेन्द्र भगवान् ही मानो मन्त्रमूर्ति को धारण करके साक्षात् विराजमान हैं । धैर्यवान् योगी कुभक प्राणायाम से इस मन्त्रराज को भौह की लताओ मे स्फुरायमान होता हुआ, मुख कमल मे प्रवेश करता हुआ, तालु के छिद्र मे गमन करता हुआ, अमृतमय जल से झरता हुआ, नेत्र की पलको पर स्फुरायमान होता हुआ, केशो मे स्थिति करता तथा ज्योतिषियो के समूह मे भ्रमता हुआ, चन्द्रमा के साथ स्पर्द्धा करता हुआ, दिशाओ मे सचरता हुआ, आकाश मे उछलता हुआ, कलक समूह को छेदता हुआ, ससार के भ्रम को दूर करता हुआ, तथा मोक्ष स्थान को प्राप्त करता हुआ और मोक्षलक्ष्मी से मिलाप करता हुआ, ऐसा इसे ध्यावें ।

इस मन्त्राधिप के ध्यान मे इतना तल्लीन हो जावे कि स्वप्न मे भी

इस मन्त्र से च्युत न हो। ध्याता मुनि नासिका के अग्रभाग मे अँथवा भौहो के मध्य मे इसको निश्चल करे।

इस मन्त्रराज के ध्यान से अणिमा आदि सर्व ऋद्धियाँ प्रगट हो जाती है। दैत्यादि भी सेवा करने लगते है।

प्रणव मंत्र का ध्यान

'ॐ' मन्त्र को चन्द्रमा के समान श्वेत वर्ण का चिन्तवन करे। यह पचपरमेष्ठी वाचक महामन्त्र समस्त दु ख रूपी अग्नि को शान्त करने मे मेघ के समान है। इसको हृदय कमल की कर्णिका मे अथवा ललाट आदि मे स्थापित करके ध्यावे।

अन्य मंत्रों का ध्यान

आठ पत्रो के कमल की कर्णिका पर 'णमो अरहताण' पुन दिशाओ मे क्रम से 'णमो सिद्धाण', णमो आइरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण' ये चार मन्त्र और विदिशाओ के चार पत्रो पर 'सम्यग्दर्शनाय नम , सम्यग्ज्ञानाय नम , सम्यक्चारित्राय नम , सम्यक्तपसे नम ' इन चार मन्त्र पदो का चिन्तवन करे। इस प्रकार अष्टदल कमल और कर्णिका मे नव मन्त्रो को स्थापित कर ध्यान करे।

इस मन्त्र के प्रभाव से योगीश्वर अनन्त क्लेश से छूटकर अनन्त सुख को प्राप्त कर लेते है।

हे मुने ! तुम मत्र पदो के स्वामी और मुक्तिमार्ग के प्रकाशक ऐसे 'अ' अक्षर को नाभिकमल मे 'सि' अक्षर को मस्तक कमल पर, 'आ' अक्षर को कठस्थ कमल मे, 'उ' अक्षर को हृदय कमल पर और 'सा' अक्षर को मुखस्थ कमल पर ऐसे 'असि आ उसा' इन पाँच अक्षरो को पाँच स्थानो मे चिन्तवन करो।

'अर्हंत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नम ' इस षोडश अक्षर वाली महाविद्या का जो दो सौ बार जप करता है वह नही चाहते हुए भी एक उपवास के फल को प्राप्त कर लेता है। ऐसे ही 'अरहत सिद्ध' इस षट् अक्षरी मत्र का तीन सौ बार जप करने से, 'अरहत' इस चार अक्षर वाले मत्र का चार सौ बार जप करने से योगी एक उपवास के फल को प्राप्त कर लेता है ।

'सिद्ध' यह दो अक्षर का मत्र समस्त द्वादशाग रूप श्रुतस्कंध का सार है। जो मुनि 'अ' इस एक अक्षरी मत्र को पाँच सौ बार जपता है वह एक उपवास के फल को प्राप्त कर लेता है। जो यह उपवास के फल

का कथन है सो मात्र रुचि उत्पन्न कराने के लिए किंचित् मात्र कथन है किन्तु वास्तव मे इन मत्रो का उत्तम फल स्वर्ग और मोक्ष ही है।

'ॐ ह्रा ह्री ह्रू ह्रौ ह्र' असि आ उसा नम' यह मत्र भी द्वादशाग मे सारभूत समझकर निकाला गया है। इसके निरन्तर अभ्यास से मुनि ससार बधन को काट देते है।

"चत्तारि मगल, अरहत मगल, सिद्ध मगल, साहु मगल, केवलिपण्णत्तो धम्मो मगल। चत्तारि लोगुत्तमा, अरहत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा, साहु लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो, धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरण पव्वज्जामि, अरहतसरण पव्वज्जामि, सिद्धसरण पव्वज्जामि, साहु सरण पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तो धम्मो सरण पव्वज्जामि।"

जो सयमी एकाग्र वुद्धि से इन मगल, उत्तम और शरण भूत पदो का चिन्तवन करता है वह मोक्ष लक्ष्मी का आश्रय लेता है। और भी अनेको मन्त्र है जो कि गुरु के मुख से ही ग्रहण करने योग्य है। इन वहुत प्रकार के मन्त्र पदो का ध्यान करके योगी मन को एकाग्र करने का अभ्यास वना लेता है। तथा अनन्त पुण्य सचय करते हुए अनन्त पाप राशि को जला डालता है।

रूपस्थ ध्यान

इस रूपस्थ ध्यान मे अरहत भगवान् का ध्यान करना चाहिए। अरहत भगवान् समवसरण मे स्थित है बारह सभायें चारो ओर से घिरी हुई है। उनमे मध्य मे सर्वज्ञ, वीतराग, परमेश्वर, देवाधिदेव सप्तधातु से रहित, दिव्य परमौदारिक उत्तम शरीर सहित, अचिन्त्य महिमाशाली अर्हंत भगवान् विराजमान है। समवसरण का विस्तृत वर्णन समझकर उसकी रचना बनाकर उसमे विराजमान जिनेन्द्रदेव का ध्यान करना चाहिए।

रूपातीत ध्यान

इसके पश्चात् रूपस्थ ध्यान मे जिसका चित्त स्थिरीभूत है ऐसा योगी अमूर्त, अजन्मा, इन्द्रियो के अगोचर, चिदानन्दमय, शुद्ध, परमाक्षररूप आत्मा को अपनी आत्मा के द्वारा ही स्मरण करे सो रूपातीत ध्यान है। प्रथम तो उस परमात्मा के गुणसमूहो को पृथक्-पृथक् विचारे पुन उस परमात्मा के गुणो को और परमात्मा को गुण-गुणी मे भेद न करके अभिन्न रूप विचारे। अनन्तर आप स्वय उस परमात्मा मे ही लीन हो जावे। परमात्मा के स्वभाव से एकरूप भावित मिला हुआ ध्यानी उस

परमात्मा के गुणो से पूर्णरूप अपने आत्मा को करके फिर उसे परमात्मा मे योजित करे। क्योकि मेरी आत्मा और परमात्मा मे शक्ति और व्यक्ति की अपेक्षा मे समानता है अर्थात् मेरी आत्मा भी शक्ति रूप मे परमात्मा के समान ही है। "ऐसा अपने आपको परमात्मा मे तन्मय करके एकमेक हो जावे, पुन· पृथक्पने का भान हो न रहे। यह रूपातीत ध्यान है[1]।"

शुक्ल ध्यान

जिसमे शुचिगुण का सम्बन्ध है वह शुक्लध्यान है। यह श्रेणी चढने के पहले अर्थात् सातवें गुणस्थान तक नही होता है। इसके भी चार भेद हैं—पृथक्त्व वितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरत-क्रियानिवर्ति। आदि के दो ध्यान पूर्वविद्—श्रुतकेवली के होते हैं और अत के दो ध्यान केवली के होते हैं। तीनो योग वाले के पहला ध्यान, तीनो मे से किसी एक योग वाले के दूसरा ध्यान, काययोग वाले सयोग-केवली के ही तीसरा और योगरहित अयोगकेवली के ही चौथा ध्यान होता है। गुप्ति, समिति आदि उपायो से युक्त मुनि जो कि भली प्रकार से परिकर्म करने वाले है वे ही ससार का नाश करने के लिए पूर्वोक्त चार प्रकार के धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान को करने मे समर्थ होते हैं।

पृथक्त्व वितर्क—जिसमे पृथक्-पृथक् रूप से श्रुतज्ञान बदलता रहता है अर्थात् अर्थ, व्यजन और योगो का सक्रमण होता रहता है वह पृथक्त्व-वितर्क विचार शुक्लध्यान है।

परिणामो की विशुद्धि से बढता हुआ साधु मोहनीय कर्म की प्रकृतियो का उपशम अथवा क्षय करता हुआ इस ध्यान को करता है।

एकत्ववितर्क—पुन समूलचूल मोहनीय को नाश करने की इच्छा करता हुआ साधु अनन्तगुणी विशुद्धि के बल से अर्थ, व्यजन, योगो की सक्रान्ति से रहित होता हुआ निश्चल मन वाला वह इस एकत्ववितर्क ध्यान के बल से घातिया कर्मरूपी ईंधन को भस्मसात् कर देता है।

तब तत्क्षण केवलज्ञानरूपी सूर्य प्रगट हो जाता है। वे केवली भगवान् इन्द्रो द्वारा रचित समवसरण में विराजमान हो जाते हैं। इस पृथ्वी तल से पाँच हजार धनुष ऊपर चले जाते हैं और आकाश मे अधर स्थित रहते है अर्थात् समवसरण मे कमलासन से भी चार अंगुल अधर दिगम्-

---

१. [illegible] [illegible] परमात्मनि।
[illegible] ।।—ज्ञानार्णव पृ० [illegible]

मान रहते है। ये त्रिभुवन पूज्य भगवान् उत्कृष्ट रूप से कुछ कम एककोटि पूर्व वर्ष तक इस भुवन मे बिहार करके भव्यो को धर्म का उपदेश देते हैं।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति

जब आयु अन्तर्मूहूर्त मात्र शेष रहती है और शेष नाम आदि कर्मों की स्थिति कुछ अधिक रहती है। तो स्वभाव से केवली समुद्घात होता है जिससे स्थिति समान हो जाती है अन्यथा यदि चारो कर्मो की स्थिति बराबर है तो वे सब प्रकार वचनयोग, मनोयोग और बादर काययोग का निरोधक करके सूक्ष्म काययोग के अवलम्बन से सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान को करते है।

व्युपरतक्रियानिर्वाति

इस ध्यान के सब प्रकार के योगो के निमित्त से होने वाली आत्म-प्रदेश परिस्पन्दन रूप क्रिया का अभाव हो जाने से इसे व्युपरतक्रिया-निर्वति ध्यान कहते है। यह ध्यान आयोगकेवली के होता है। उस समय वे भगवान् ध्यानातिशय रूप अग्नि के द्वारा सम्पूर्ण कर्म इंधन को जला-कर निर्वाण पद को प्राप्त कर लेते है। इस गुणस्थान का काल 'अ इ उ ऋ ऌ' इन पाँच ह्रस्वाक्षरो के उच्चारण के काल मात्र ही है। पुन कर्म-बन्धन से छूटे हुए सिद्ध भगवान् एक समयमे ही लोकशिखर के अग्रभाग मे जाकर विराजमान हो जाते है। चूँकि आगे अलोक मे धर्मास्तिकाय[1] का अभाव होने से वे आगे नही जा सकते हैं। ये सिद्ध परमेष्ठी निरजन परमात्मा अनन्त-अनन्त काल तक अपने अनन्त सुख का उपभोग करते हुए परमानन्दमय परमतृप्त रहते है। फिर वापस[2] ससार मे कभी भी नही आते है।

विशेष—वर्तमान मे उत्तम सहनन नही होने से शुक्लध्यान नही हो सकता है। धर्मध्यान ही होता है। उसमे भी अनेको भेद होने से धर्म-ध्यानी दिगम्बर मुनियो मे भी अनेको भेद हो जाते हैं। तथा धर्म शुक्ल की अपेक्षा भी इनमे अनेको भेद माने जाते है।



---

१ धर्मास्तिकायाभावात् ॥८॥—तत्त्वार्थसूत्र अ० १०

२ काले कल्पशतेऽपि च गते शिवाना न विक्रिया लक्ष्या।
उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसभ्रांतिकरणपटु ॥—रत्नकरण्ड श्राव०

४. सल्लेखना

मनुष्य आदि पर्याय का नाश होना मरण है। इस मरण के पाँच भेद है—पडितपडितमरण, पडितमरण, बालपडितमरण, बालमरण और बालबालमरण।

पंडितपडितमरण—क्षीणकषाय केवली भगवान्, पडितपडितमरण से मरण करते हैं अर्थात् केवली भगवान् अयोगी होकर इस मनुष्य पर्याय से छूट कर कर्मों से ही छूट जाते है पुन भव धारण नही करते है।

पडितमरण—छठे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त रहने वाले जीवो का जो सल्लेखना मरण है वह पडितमरण है।

बालपंडितमरण—विरताविरत-देश सयत के मरण को बालपडित-मरण कहते हैं।

बालमरण—अविरत सम्यग्दृष्टि का मरण बालमरण है।

बालबालमरण—मिथ्यादृष्टि जीवो का मरण, अपघात आदि करके मरण, सब बालबालमरण है। क्योकि ये जीव बार-बार मरण करते ही रहते है।

"पडितमरण के तीन भेद है—पादोपगमन, इगिनी और भक्तप्रतिज्ञा। अपने पाँवो द्वारा सघ से निकल कर और योग्य प्रदेश मे जाकर जो मरण किया जाता है वह पादोगमन है। अथवा इसका प्रायोपगमन भी नाम है। इसमे स्व और पर के द्वारा वैयावृत्ति की अपेक्षा नही रहती है। जिस मरग मे अपने आप तो वैयावृत्ति कर सकें किन्तु पर के द्वारा वैयावृत्ति न करावें वह इगिनी-मरण है। इस पचम काल मे इन दो मरण के योग्य संहनन का अभाव है अत भक्तप्रत्याख्यान मरण ही होता है। भक्त—आहार का प्रतिज्ञा—त्याग करना भक्तप्रत्योख्यान मरण है। सविचार भक्तप्रत्याख्यान के तीन भेद है—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। जघन्य काल अन्तर्मूहूर्त प्रमाण है और उत्कृष्ट बारहवर्ष का है। अन्तर्मूहूर्त से लेकर बारह वर्ष के भीतर तक मध्यम के अनेक भेद है[1]।"

---

१ पायोपगमणमरण भत्तपइण्णा य इगिणी चेव।
तिविह पडियमरण साहुस्स जहुत्तचारिस्स ॥२९॥ —मूलाराधना

अप्पोवयारवेक्ख परोवयारूणमिगिणीमरण।
सपरोवयारहीण मरण पाओवगमणमिदि ॥६१॥ —गोम्मटसार कर्म०

भत्तपइण्णाइविहि जहण्णमतोमुहुत्तय होदि।
बारसवरिसा जेट्ठा तम्मज्झे होदि मज्झिमया ॥६०॥ —गोम्मटसार कर्म०

भक्तप्रत्याख्यान के दो भेद है—सविचार और अविचार। जो साधु या गृहस्थ उत्साह और बलयुक्त हैं जिनका कुछ काल के अनन्तर मरण होगा उनके सविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण होता है। इसके विपरीत अकस्मात् मरण के आ जाने पर पराक्रम रहित साधु का मरण अविचार भक्तप्रत्याख्यान है।

"उत्कृष्ट भक्तप्रत्याख्यान मरण करने की इच्छा करने वाले मुनि ज्योतिषशास्त्र अथवा निमित्तशास्त्रो से या अन्य किसी भी उपायो से अपनी आयु का निर्णय कर लेते है कि हमारी आयु बारह वर्ष प्रमाण रह गयी है अथवा इससे कम रह गई है क्योकि बारह वर्ष से अधिक आयु रहने पर सल्लेखना का नियम नही कर सकते है[1]।"

आचार्य भक्तप्रत्याख्यान मरण के इच्छुक होते हुए अपनी आयु का निर्णय करके बारह वर्ष की उत्कृष्ट सल्लेखना ग्रहण कर लेते हैं।

ये मुनिराज बारह वर्षो मे से प्रारम्भ के चार वर्ष तो नाना प्रकार के अनशन, अवमौदर्य, सर्वतोभद्र, एकावली, द्विकावली, रत्नावली, सिंह-निष्क्रीडित आदि तपो का अनुष्ठान करते हुए पूर्ण करते है। आगे के चार वर्ष रस परित्याग नामक तप से पूर्ण करते हैं। पुन दो वर्ष तक कभी अल्प आहार कभी नीरस आहार करते हुए बिताते है। अनन्तर एक वर्ष तक अल्प आहार लेते हुए पूर्ण करते है। आगे छह महीने तक अनुत्कृष्ट तप करते हुए बारह वर्ष पूर्ण कर देते है।

सल्लेखना करने वाले आचार्य अपने सघ के समस्त भार को अपने योग्य शिष्य पर डालकर अर्थात् उसे आचार्य बनाकर सारी व्यवस्था सभाल कर आप सल्लेखना कराने मे कुशल ऐसे आचार्य की अन्वेषणा करते है क्योकि अपने सघ मे रहने से शिष्यो के प्रति स्नेह भाव अथवा आज्ञा उल्लघन से कषायभाव होना स्वाभाविक है।

अन्य सघ मे पहुँच कर आचार्य इस सघ के आचार्य को अपना अभिप्राय प्रगट करते है। यह सघ भी आगन्तुक साधु को बडी भक्ति और वात्सल्य से आश्रय देते है। जो सल्लेखना कराने वाले आचार्य होते

१. ज्योति शास्त्रविनूतजातकमतान्नानानिमित्तक्षणात्।
प्रश्नाच्चायचयग्रहावलिबलक्षीणत्वसप्रेक्षणात् ॥
प्रश्नस्याक्षरलक्षणेक्षणवशात्कालागमास्वायुषो ।
मान द्वादशवर्पसमितमतो हीन च निश्चित्य स ॥३॥

—आचारसार पृ० २५७

है उन्हे निर्यापक आचार्य कहते है और सल्लेखना कराने वाले आचार्य या साधु को क्षपक कहते है।

निर्यापकाचार्य क्षपक के लिए सल्लेखना योग्य क्षेत्र को देखकर वसतिका को भी आगम के अनुकूल देखकर वहाँ सल्लेखना ग्रहण कराते है। लकडी का पाटा घास (चटाई) या पाषाण की शिला आदि को सस्तर कहते है। क्षपक के योग्य सस्तर बनाकर शुभमुहूर्त मे आचार्य विधिवत् क्षपक को सस्तर ग्रहण कराते है। अर्थात् बारह वर्ष की सल्लेखना मे से जब एक माह पन्द्रह दिन आदि काल लगभग शेष रह जाता है तब सस्तर ग्रहण कराकर सल्लेखना कराई जाती है।

एक मुनि की सल्लेखना के समय अडतालीस[1] मुनियो की आवश्यकता होती है जो कि ग्लानि और प्रमादरहित वात्सल्यभाव से क्षपक मुनि की शुश्रूषा करते है। हाथ पैर दबाना, चलते समय सहारा देना, सस्तर पर लेटते समय सहारा देना, करवट बदलना आदि वैयावृत्ति करते हैं।

नवीन आचार्य के पास ये आचार्य या मुनि अपने दोषो की सम्पूर्ण आलोचना करके यथोचित प्रायश्चित्त ग्रहण करते है। यदि सर्वोत्कृष्ट गुण विशिष्ट आचार्य न मिलें तो उपाध्याय मुनि निर्यापक बनते है। यदि वे भी न हो तो प्रवर्तक मुनि अथवा अनुभवी वृद्ध मुनि या बाल आचार्य यत्न से व्रतो मे प्रवृत्ति करते हुए निर्यापक आचार्य बन सकते है। जो ज्ञान से अल्प है परन्तु सघ की मर्यादा के ज्ञाता मुनि प्रवर्तक है और चिरदीक्षित मुनि साधु है ये भी सल्लेखना करा सकते है।

वर्षाकाल मे नाना प्रकार के तपो का अनुष्ठान करके सुख से जिसमे उपवास आदि किये जा सकते हो ऐसे हेमत[2] ऋतु मे सस्तर का आश्रय लेता है।

ये अडतालीस यति क्या-क्या उपकार करते है ?

चार मुनि क्षपक को उठाना, बिठाना आदि सेवा का काम, सयम मे बाधा न आवे इस प्रकार से करते है।

---

१ कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणुज्जदा सुदरहस्सा।
गीदत्था भयवता अडतालीस तु णिज्जवया ॥६४८॥

२ एव वासास्ते फासेदूण विविध तवोकम्म।
सथार पडिवज्जदि हेमन्ते सुहविहारम्मि ॥६३१॥

मूलारा० पृ० ८३२

चार मुनि क्षपक को धर्म श्रवण कराते है।

चार मुनि आचाराग के अनुकूल क्षपक को आहार कराते है।

चार मुनि क्षपक के लिए आहार मे पेय पदार्थों की व्यवस्था करते है।

चार मुनि निष्प्रमादी हुए आहार की वस्तुओ की देखभाल करते है।

चार मुनि क्षपक के मलमूत्रादि विसर्जन, वसतिका, उपकरण, सस्तर आदि को स्वच्छ करते है।

चार मुनि क्षपक की वसतिका के दरवाजे पर प्रयत्नपूर्वक रक्षा करते है। अर्थात् असंयत आदि अयोग्य जनो को अन्दर जाने से रोकते हैं।

चार मुनि उपदेश मडप के द्वार के रक्षण का भार लेते है।

निद्रा विजयी चार मुनि क्षपक के पास रात्रि मे जागरण करते है।

चार मुनि जहाँ सघ ठहरा है उसके आस-पास के शुभाशुभ वातावरण का निरीक्षण करते है।

चार मुनि आये हुए दर्शनार्थियो को सभा मे उपदेश सुनाते हैं।

चार मुनि धर्म कथा कहने वाले मुनियो की सभा की रक्षा का भार लेते है[1]।"

ऐसे ये अडतालीस मुनि क्षपक की सल्लेखना मे पूर्णतया सहयोग देते है। आचार्य कहते है कि भरत आदि क्षेत्र मे यदि इतने मुनि कदाचित् नही हो तो चवालीस, चालीस आदि चार-चार कमती करते हुए कम-से-कम चार मुनि तो अवश्य ही होने चाहिये। "कदाचित् चार मुनि भी न मिल सकें तो दो मुनि अवश्य ही होना चाहिये, क्योकि एक निर्यापक का विधान आगम मे नही है। बल्कि एक निर्यापक से असमाधि आदि अनेक हानि हो जाती है[2]।"

---

१ गाथा ६४९ से ६७२।

२ णिज्जावया य दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालसंसयणा।
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते ॥६७३॥
एगो जइ णिज्जवओ अप्पा चत्तो परोपवयण च।
वसणमसमाधिमरण उड्डाहो दुग्गदी चावि ॥६७४॥

—मूलारा० पृ० ८६४

"कोई मुनि समाधिमरण कर रहे है ऐसा सुनकर अन्य सघ के साधु भी बड़ी भक्ति से उन क्षपक के दर्शन हेतु आते है। यदि अन्य साधु नही आते हैं तो समझना चाहिये कि उनकी उत्तमार्थ मरण मे भक्ति नही है और जिनकी उत्तमार्थ मरण मे भक्ति नही है वे साधु मरणकाल मे सल्लेखना को कैसे प्राप्त कर सकते है ? अर्थात् अपना समाधिमरण करने हेतु साधुओ की समाधि को बार-बार देखना चाहिये, कराना चाहिये और उनके दर्शन करके समाधिमरण विधि सीखना चाहिये। क्योकि यदि एक भव मे भी समाधिमरण मिल जाता है तो वह जीव सात-आठ भव मे ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है इससे अधिक ससार मे भ्रमण नहीं करता है[1]।"

चातुर्मास के प्रसग मे साधु बारह योजन (९६ मील) तक सल्लेखना कराने हेतु या क्षपक के दर्शन हेतु जा सकते है ऐसी आगम की आज्ञा है। यथा—वर्षाऋतु मे देव और आर्षसघ सम्बन्धी कोई बडा कार्य तथा शीतकाल मे और ग्रीष्मकाल मे छोटा कार्य आ उपस्थित हुआ हो तो उस कार्य के निमित्त बारह योजन तक कोई साधु चला जाय तो वह दोषी नही है, बारह योजन से ऊपर गमन करने वाला प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है[2]।"

क्षपक के पास मे अधिक बोलने वाले आगमविरुद्धभाषी या विकथा आदि करने वाले साधु तथा श्रावक नही जा सकते है। व्यवस्था करने वाले साधु उन्हे बाहर ही रोक देते है।

---

१ सल्लेहणाए मूल जो वच्चइ तिव्वभत्तिराएण।
भोत्तूण य देवसुह सो पाइव उत्तम ठाण ॥६८१॥

एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो।
णहु हिंडपि बहुसो सत्तट्ठभवे पमोत्तूण ॥६८२॥

सोदूण उत्तमट्ठस्स साधण तिव्वभत्तिसजुत्तो।
जदि णोवयादि का उत्तमट्ठमरणम्मि से भत्ती ॥६८३॥

जत्थ पुण उत्तमट्ठमरणम्मि भत्ती ण विज्जदे तस्स।
किह उत्तमट्ठमरण सपज्जदि मरणकालम्मि ॥६८४॥

—मूलाराधना पृ० ८७०

एगम्हि भवग्गहणे समाहिमरण लभेज्ज जदि जीवो।
सत्तट्ठभवग्गहणे णिव्वाणमणुत्तर लहदि ॥ —मूलाचार

२. वर्षास्वतुच्छकार्येण हिमे ग्रीष्मे लघीयसि।
योजनानि दश द्वे च कार्ये गच्छन्न दोषभाक् ॥ —प्राय० समु० पृ० ४९

परिचारक मुनि क्षपक को ऐसा उपदेश सुनाते है कि जिससे वे अपने चारित्र मे पूर्णतया दृढ बने रहते है। रोग, वेदना आदि की व्याकुलता से अधीर नही होने पाते है। "परिचारक साधु क्षपक को तेल और कषायले पदार्थो के कुल्ले कराते है कि जिससे उनकी जिह्वा स्वच्छ रहे, बोलने की सामर्थ्य नष्ट नही होवे। कान मे भी तेल डालते रहने से श्रवण शक्ति नष्ट नही होती है[1]।"

निर्यापकाचार्य जब अच्छी तरह क्षपक के वैराग्य को और शरीर स्थिति को देख लेते है तब उसे पेय—मट्ठा, जल आदि रखकर बाकी तीन प्रकार का आहार चतुर्विधसघ के समक्ष त्याग करा देते है। पानक पदार्थ सेवन करने वाले क्षपक को उदर के मल की शुद्धि हेतु मधुर रेचक औषधि भी देते है। जिससे उदर मे मल सूखकर पीडा उत्पन्न न करे। जब आचार्य तीन प्रकार के आहार का त्याग करा देते है तब क्षपक से सभी साधुओ के प्रति क्षमायाचना कराई जाती है। पुन सभी साधु भी क्षमायाचना करके क्षपक की निर्विघ्न समाधि हेतु कार्योत्सर्ग करते है।

निर्यापकाचार्य क्षपक के दीक्षित जीवन के सम्पूर्ण दोषो की आलोचना सुनते है। उसे उत्तमार्थ प्रतिक्रमण सुनाते है और दोषो का पूर्णतया शोधन कर देते है। तब वह क्षपक अन्तरग से बिल्कुल निर्मलचित्त नि.शल्य होता हुआ अपने को स्वस्थ और लघु (हल्का) अतिचारो के मार से मुक्त समझता हुआ प्रसन्नचित्त हो जाता है।

"अनन्तर शक्ति अत्यन्त क्षीण देखकर आचार्य क्षपक को जल का भी त्याग करा देते है। यदि कोई साधु इतने धीर नही है तो उन्हे जल आदि पेय का त्याग नही कराया जाता है। अन्त समय मे ही उसका त्याग कराते है। क्योकि किसी भी त्याग से साधु के परिणाम मे सक्लेश नही उत्पन्न हो जावे ऐसा ध्यान रखना निर्यापक का कर्तव्य है[2]।" अनन्तर परिचारक साधु मात्र जिनवचन और महामन्त्र रूपी अमृत का पान कराते हुए क्षपक की आत्मा का पोषण करते हैं। निर्यापकाचार्य भी

---

१ तेल्लकसायादीहिं य बहुसो गडूसया दु घेत्तव्वा।
जिब्भाकण्णाण बल होहिदि तुड च से विसद ॥६८८॥

—मूलारा० पृ० ८७४

२ अहवा समाधिहेदु कायव्वो पाणयस्स आहारो।
तो पाणयपि पच्छा वोसरिदव्व जहाकाले ॥७०८॥

—मूलारा० पृ० ८८६

सस्तरारूढ क्षपक श्रुतज्ञान के अनुसार उपदेश देते है और सवेग तथा निर्वेग उत्पन्न करने वाला 'कर्णजाप' देते हैं।

सल्लेखना के दो भेद है—बाह्य और अभ्यन्तर। अथवा द्रव्य सल्लेखना और भाव सल्लेखना। इसमें से आहार का क्रम-क्रम से छोडना बाह्य सल्लेखना, द्रव्य सल्लेखना अथवा शरीर सल्लेखना है। सम्यग्दर्शन आदि भावना के द्वारा मिथ्यात्व कषाय आदि परिणामो को कृश करना अभ्यन्तर सल्लेखना, भावसल्लेखना और कषाय सल्लेखना है। अर्थात् सत् सम्यक् प्रकार से लेखना—कृश करना सल्लेखना है। इसमे काय और कषायो को कृश किया जाता है।

यह सल्लेखना आत्मघात नही है, 'क्योकि जो कषाय से आविष्ठ होकर विष, शस्त्र आदि के द्वारा अपना घात कर लेता है उसे ही आत्मघात कहते हैं। वह इस सल्लेखना मे सम्भव नही है[1]।" क्योंकि "उपसर्ग आ जाने पर, दुर्भिक्ष हो जाने पर या अतीव वृद्धावस्था के हो जाने पर अथवा असाध्य व्याधि के हो जाने पर जब उसका प्रतीकार नही हो सकता है।" अथवा नेत्रज्योति मन्द हो जाने पर या जघाबल घट जाने पर जब सयम की रक्षा नही हो सकती है तब साधु धर्म के लिये—सयम की रक्षा के लिये धर्मध्यानपूर्वक जो शरीर का त्याग करते है। उसी का नाम सल्लेखना है[2]।" यदि किसी ने जीवन भर रत्नत्रय का पालन किया है और अन्त समय परिणाम बिगड जाते है या रत्नत्रय से च्युत हो जाता है तो वह पुन अनन्तससार मे डूब जाता है इसलिये अन्तसमय सयम या अपने योग्य ग्रहण किये गये धर्म की रक्षा का अत्यधिक महत्त्व है जो कि सल्लेखना से ही सिद्ध हो सकता है। अतएव मरण के अन्त मे सल्लेखना को प्रीतिपूर्वक करना चाहिये।

पूज्यपाद स्वामी ने तो यहाँ तक कहा है कि—'हे भगवन्! बाल्यावस्था से लेकर आजतक मैने आपके श्रीचरणोकी उपासना करके जो कुछ भी पुण्य सचित किया है उसका फल मै यही मांगता हूँ कि जब मेरे प्राण प्रयाण करने लगें उस समय आपके नाम को जपने मे मेरा कठ

---

१. यो हि कषायाविष्ट कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रै।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवध ॥१७८॥ —पुरुषार्थ सि०

२ उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजाया च नि प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहु सल्लेखनामार्या ॥

अकुठित ही बना रहे अर्थात् अन्त समय आपके नाम को पढने मे मेरी जिह्वा कुठिन न हो जावे । मै आपका नाम जपते-जपते ही प्राण त्याग करूँ[1] ।"

"इस प्रकार से मरणकाल मे एक अर्हंत नमस्कार ही इस जीव के ससार का उच्छेद करने मे समर्थ हो जाता है ऐसा जिनेन्द्रदेव के मत मे कहा है[2] ।"

जब साधु की सल्लेखना हो जाती है तब सभी साधु मिलकर पूर्व मे कही गई विधि के अनुसार क्षपक के शरीर की वन्दना हेतु भक्तिपाठ बोलते हुए क्रिया करते है। यदि रात्रि मे मरण हुआ है तो जो साधु रात्रि मे जागरण करने मे कुशल है वे साधु वहाँ बैठकर महामन्त्र का स्मरण करते हुए रात्रि व्यतीत करते हैं।" उस समय क्षपक के हाथ पैर तथा अँगूठे का कुछ भाग बाँध दिया जाता है अथवा छेद दिया जाता है कि जिसमे उसमे कोई व्यतर आदि प्रवेश करके कुचेष्टा न करने लगे[3] ।" रात्रि मे मृतक मुनि के पास बालमुनि, वृद्धमुनि, शिक्षक, तपस्वी, रोगी और दु खी मुनि तथा आचार्य नही रहे प्रत्युत धैर्य, वीर्य-शाली, पराक्रमी, निद्राविजयी मुनि ही वहाँ रहे ऐसी आज्ञा है।

"पुन श्रावक लोग विमान मे मुनि के शरीर को स्थापित करके पहले से निर्धारित उद्यान, वन आदि मे ले जाते है। और वहाँ विधिवत् दहन क्रिया कर देते है[4] ।"

मरण के अनन्तर पिच्छिका अग्रभाग को आगे करके रखी जाती है और कमण्डलु की टोटी भी आगे करके कमण्डलु रखा जाता है। उस समय

---

१ आबाल्याज्जिनदेवदेव ! भवत. श्रीपादयो सेवया
सेवासक्तविनेयकल्पलतया कालोऽद्य यावद्गतः ।
त्वा तस्या फलमर्थये तदधुना प्राणप्रयाणक्षणे ।
त्वन्नामप्रतिबद्धवर्णपठने कठोऽस्त्वकुठो मम ॥ —समाधिभक्ति

२ अरहतणमोक्कारो एक्को वि हविज्ज जो मरणकाले ।
सो जिणवयणे दिट्ठो ससारुच्छेदणसमत्थो ॥७५५॥
—मूलारा० पृ० ९१९

३ गीदत्था कदकज्जा महाबलपरक्कमा महाकज्जा ।
बधति य छिंदति य करचरणगुट्ठयपदेसे ॥१९७६॥
—मूलारा० पृ० १७४ ।

४ • •
—बृहत्कथाकोश हरिषेणाचार्यकृत

मृतक मुनि के शरीर की क्रिया करने वाले साधु उल्टी प्रदक्षिणा लगाते हैं और श्रावक भी दहन क्रिया करके उल्टी प्रदक्षिणा लगाकर कायोत्सर्ग करके वापस आते हैं ।

निषद्यास्थान—साधु का निषीधिका[1] स्थान एकान्त प्रदेश मे हो, प्रकाश सहित स्थान मे हो गाम से न अतिदूर और न अतिनिकट हो, वह टूटी हुई, विध्वस्त की हुई न हो, तथा विस्तीर्ण और प्रासुक होवे। यह निषद्यास्थान क्षपक की वसतिका से नैऋत्यदिशा मे, दक्षिण दिशा मे या पश्चिम दिशा मे होनी चाहिये। इन तीन दिशाओ की निषीधिका ही आचार्यों ने प्रशस्त मानी है।" नैऋत्यदिशा की निषीधिका सर्वसघ की समाधि हेतु—सुखशान्ति हेतु मानी है। दक्षिण दिशा मे निषद्या होने से सघ को आहार सुलभता से मिलता है, पश्चिमदिशा मे निषद्या होने से संघ का विहार सुख से होता रहता है और उनको पुस्तक आदि उपकरणो का लाभ भी होता रहता है[2] ।"

यदि उपर्युक्त दिशाओ मे निषद्या के लिये स्थान उपलब्ध न हो तो सुविधानुसार आग्नेय, वायव्य, ऐशान्य अथवा उत्तर दिशा मे भी बनवा सकते हैं। फिर भी इनका फल कुछ अशुभ है। यथा—आग्नेय दिशा मे निषीधिका होने से संघ के साधुओ मे स्पर्द्धा उत्पन्न होगी। वायव्य दिशा मे होने से सघ मे कलह होगी, पूर्वदिशा में होने से सघ में फूट पडेगी, टुकडे हो जावेंगे। उत्तर दिशा में होने से सघ में व्याधि उत्पन्न होगी। ऐशानदिशा में होने से सघ में परस्पर में खीचातानी होगी और पूर्वोत्तर दिशा में निषद्या करने से किसी एक मुनि का मरण हो सकता है। इस-

---

१ जहाँ मृतक साधु के शरीर का दाहसस्कार किया जाता है। यहाँ पर उसे ही निषधा या निषीधिका कहा है।

२ सव्वसमाधी पढमाए दक्खिणाए दु भत्तग सुलभ।
अवराए सुहविहारो होदिय उवधिस्स लाभो य ॥१९७१॥

टीका—सव्वसमाधी सर्वेषा सघातर्वर्त्तिश्रमणादीना समाधान ।

जदि तेसिं वाघादो दट्ठव्वा पुव्वदक्खिणा होइ।
अवरुत्तरा य पुव्वा उदीचि पुव्वुत्तरा कमसो ॥१९७२॥
एदासु फल कमसो जाणेज्ज तुमतुमा य कलहो य।
भेदो य गिलाण पि य चरिमा पुण कड्ढदे अण्ण ॥१९७३॥

टीका—पूर्वोत्तरदिग्निषद्याकरणे परो मुनिर्म्रियते इत्यर्थ ।

—मूलारा० पृ० १७३९

लिये संघ की शान्ति हेतु पूर्वोक्त नैऋत्य, दक्षिण और पश्चिम दिशा में ही निषीधिका स्थान करना चाहिये।

"निषद्यास्थान मे तृण का सस्तर बनाना चाहिये जो कि सम हो, यदि सस्तर विषम होता है तो साधुओ मे मरण या व्याधि आदि अनेको हानियाँ होती है। इन सब बातो को आगम से ही विशेष समझना चाहिये[1]।" यदि पचक आदि अशुभ काल मे मुनि का मरण हुआ है तो सघ की शान्ति हेतु आगमोक्तविधि करनी चाहिये। पुन अर्हंत भगवान् की पूजा आदि करके शान्ति करना चाहिये।

अनन्तर चारो आराधनाओ की प्राप्ति हेतु सघ मिलकर कायोत्सर्ग करके क्षपक की वसतिका के अधिष्ठित देवता से "सघ यहाँ बैठना चाहता है" ऐसा पूछकर इच्छाकार करते है। यदि अपने गण के मुनि का मरण हुआ तो सभी साधु उपवास करते है और उस दिन स्वाध्याय नही करते हैं। यदि परगण के मुनि का मरण हुआ है तो उपवास मे विकल्प है अर्थात् करें या न भी करे किन्तु स्वाध्याय वर्जित ही है[2]।"

साधुओं को समय-समय पर मुनियो के निषद्या की वन्दना बडी भक्ति से करनी चाहिये। सल्लेखना कराने वाले निर्यापक आचार्य महान् तीर्थ-स्वरूप है, पूज्य है और क्षपक भी पुण्यतीर्थरूप है, वन्दना करने योग्य है। जब तपोधनो के द्वारा सेवित पर्वत आदि तीर्थ बन जाते है तो पुन क्षपक मुनि भी तीर्थभूत क्यो नही होगा ? "यदि पूर्व ऋषियो की प्रतिमा की वन्दना करने से भी विपुलपुण्य होता है तो क्षपक की वन्दना से क्यो नही होगा[3] ?" इसलिये क्षपक की भक्ति करना चाहिये। इस प्रकार सविचार भक्त प्रत्याख्यान का सक्षिप्त वर्णन हुआ है।

अकस्मात् मरण के उपस्थित होने पर अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण होता है। इसमे आचार्य या साधु यदि अन्य सघ मे नही जा सकते है तो स्वगण के साधु वर्ग ही उनकी विधिवत् परिचर्या करके सल्लेखना कराते है। सपूर्ण दोषो की आलोचना करके काय और कषायो को कृश करते हुए सबसे क्षमा कराके और सबको क्षमा करके शल्य रहित होकर

१ मूलाराधना पृ० १७४६ से

२ सगणत्थे कालगदे खमणमसज्झाइय च तद्दिवस।
सज्झाइ परगणत्थे भयणिज्ज खमणकरण पि ॥१९९५॥ —मूलाराधना

३ पुव्वरिसीण पडिमाओ वदमाणस्स होइ जदि पुण्ण।
खवयस्स वदओ किह पुण्ण विउल ण पाविज्ज ॥२००८॥ —मूलाराधना

महामन्त्र का स्मरण करते हुए जो मरण होता है वही सल्लेखना मरण है।

सल्लेखना के यम और नियम की अपेक्षा भी दो भेद हैं।

जीवनपर्यन्त के लिए चतुराहार का त्याग कर देना यम सल्लेखना है और उपसर्ग आदि विशेष प्रसगो के आ जाने पर "मै यदि इस उपसर्ग से बचूँगा तो आहार ग्रहण करूँगा अन्यथा चतुराहार का त्याग है" ऐसा नियम करके सल्लेखना ग्रहण करना नियम सल्लेखना है। जैसा कि अकंपनाचार्य ने उपसर्ग के समय नियम सल्लेखना ली थी अत. उपसर्ग निवारण के बाद पुन आहारार्थ गये।

इस प्रकार से सक्षेप मे सल्लेखना का वर्णन किया है।

विशेष—वर्तमान मे भक्त प्रत्याख्यान नाम का एक सल्लेखना मरण ही माना गया है। उसमे भी उत्तम मध्यम जघन्य की अपेक्षा से अनुष्ठान करने वाले मुनियो मे अनेको भेद सभव है। सर्वकाल की अपेक्षा पडित-मरण और पडितपडितमरण की अपेक्षा दिगम्बर मुनियो मे नाना भेद पाये जा सकते है।



५. गुणस्थान

गुणस्थानों की अपेक्षा मुनियों में भेद

दर्शनमोहनीय आदि कर्मों की उदय उपशम आदि अवस्था के होने पर जीव के जो परिणाम होते है उन परिणामो को गुणस्थान कहते है। ये गुणस्थान मोह और योग के निमित्त से होते है। इन परिणामो से सहित जीव गुणस्थान वाले कहलाते है। इनके १४ भेद है—

मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त-विरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसापराय, उपशात-मोह, क्षीणमोह, सयोगकेवलीजिन और अयोगकेवलीजिन।

१ मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से होने वाले तत्त्वार्थ के अश्रद्धान को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते है। इस गुणस्थान वाले मिथ्यादृष्टि जीव को सच्चा धर्म अच्छा नही लगता है।

२ उपशम सम्यक्त्व के अतर्मुहूर्त काल मे जब कम-से-कम एक समय या अधिक-से-अधिक छह आवली प्रमाण काल शेष रहे, उतने काल मे अनन्तानुबधी क्रोधादि चार कषाय मे से किसी एक का उदय आ जाने से सम्यक्त्व की विराधना हो जाने पर सम्यक्त्व से तो गिर गया है। किंतु मिथ्यात्व मे अभी नही पहुँचा है।

३ सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से केवल सम्यक्त्वरूप परिणाम न होकर जो मिश्ररूप परिणाम होता है, उसे मिश्र गुणस्थान कहते है।

४ दर्शनमोहनीय और अनंतानुबधी कषाय के उपशम आदि के होने पर जीव का जो तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप परिणाम होता है वह सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के तीन भेद है—उपशम सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व और वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व। दर्शन मोहनीय की तीन और अनता-नुबंधी की चार ऐसी ७ प्रकृतियो के उपशम से उपशम और क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। तथा सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से वेदक सम्यक्त्व होता है।

इस गुणस्थान वाला जीव जिनेन्द्र कथित प्रवचन का श्रद्धान करता है। तथा इन्द्रियो के विषय आदि से विरत नही हुआ है। इसलिए अवि-रत सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

५ सम्यग्दृष्टि के अणुव्रत आदि एकदेशव्रतरूप परिणाम को देश-**विरत गुणस्थान** कहते हैं। देशव्रती जीव के प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से महाव्रतरूप पूर्ण सयम नही होता है।

६ प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से सकल सयम रूप मुनिव्रत तो हो चुके हैं। किन्तु सज्वलन कषाय और नोकषाय के उदय से सयम मे मल उत्पन्न करने वाला प्रमाद भी होता है। अत. इस गुणस्थान को प्रमत्तविरत कहते है। यह गुणस्थान दिगम्वर मुनियो के होता है।

७ सज्वलन कषाय और नोकषाय का मन्द उदय होने से सयमी मुनि के प्रमाद रहित सयमभाव होता है। तव यह अप्रमत्तविरत गुणस्थान होता है। इसके दो भेद हैं—स्वस्थान प्रमत्त और सातिशय अप्रमत्त।

जव मुनि शरीर और आत्मा के भेद विज्ञान मे तथा ध्यान मे लीन रहते है तब स्वस्थान अप्रमत्त होता है। और जब श्रेणी के सन्मुख होते हुए ध्यान मे प्रथम अध प्रवृत्तकरण रूप परिणाम होता है। तब सातिशय अप्रमत्त होता है। आजकल पचमकाल मे स्वस्थान अप्रमत्त मुनि हो सकते है सातिशय अप्रमत्त परिणाम वाले नही हो सकते है।

८ जिस समय भावो की विशुद्धि से उत्तरोत्तर अपूर्व परिणाम होते जाएँ। अर्थात् भिन्न समयवर्ती मुनि के परिणाम विसदृश ही हो। एक समयवर्ती जीवो के परिणाम सदृश भी हो उसको अपूर्वकरण कहते है।

९ जिस गुणस्थान मे एक समयवर्ती नाना जीवो के परिणाम सदृश ही हो। और भिन्न समयवर्ती जीवो के परिणाम विसदृश ही हो उनको अनिवृत्तिकरण कहते है। अध प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीनो करणो के परिणाम प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि लिए हुए है।

१० अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त लोभकषाय के उदय को अनुभव करते हुए जीव के सूक्ष्मसापरायगुणस्थान होता है।

११ सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम होने से अत्यन्त निर्मल यथाख्यात चारित्र को धारण करने वाले मुनि के उपशातमोहगुणस्थान होता है। इस गुणस्थान का काल समाप्त होने पर जीव मोहनीय का उदय आ जाने से नीचे के गुणस्थानो मे आ जाता है।

१२ मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने से स्फटिकमणि के निर्मल पात्र मे रखे गये जल के सदृश निर्मल परिणाम वाले निर्ग्रन्थ मुनि क्षीणकषाय नामक गुणस्थान वाले होते है।

१३ घातियाँ कर्म की ४७, अघातियाँ कर्मों की १६ इस तरह ६३ प्रकृतियो के सर्वथा नाश हो जाने से केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। उस

समय अनन्त चतुष्टय और नव केवललब्धि प्रगट हो जाती है। किन्तु योग पाया जाता है। इसलिए वे अरिहत परमात्मा सयोगिकेवली जिन कहलाते है।

१४ सम्पूर्ण योगो से रहित केवली भगवान् अघाति कर्मो का अभाव कर मुक्त होने के सन्मुख हुए अयोगकेवली जिन कहलाते है। इस गुण-स्थान मे शेप अरिहत भगवान् शेष ८५ प्रकृतियो को नष्ट करके सर्व कर्म रहित सिद्ध हो जाते है। और एक समय मे लोक के शिखर पर पहुँच जाता है।

प्रश्न—श्रेणी किसे कहते है ?

उत्तर—जिन परिणामो से चारित्र मोहनीय की शेष २१ प्रकृतियो का क्रम से उपशम या क्षय किया जाता है उन परिणामो को श्रेणी कहते है। इसके दो भेद है—उपशमश्रेणी और क्षपक श्रेणी। जहाँ मोहनीय कर्म की प्रकृतियो का उपशम किया जाय वह उपशम श्रेणी है। जहाँ क्षय किया जाए वह क्षपक श्रेणी है।

आठवें से ग्यारहवें तक चार गुणस्थानो मे उपशम श्रेणी होती है। इसमे चढ़ने वाला जीव नियम से नीचे गिरता है। आठवें, नवमे, दशवें और बारहवें मे क्षपक श्रेणी होती है। इसमे चढने वाला जीव नियम से घातिकर्मो का नाश कर केवली भगवान् हो जाता है।

गुणस्थानों का काल

प्रत्येक गुणस्थान का काल कितना है सो बताते है—"मिथ्यात्व का काल अनादि अनत, अनादि-सान्त और सादि-सान्त ऐसे तीन प्रकार का है। अभव्य और दूरानुदूर भव्यो का काल अनादि-अनन्त है। भव्यो का काल अनादिसात है और जो सम्यग्दर्शन प्राप्त करके पुन. मिथ्यादृष्टि हुए है उनका काल सादि-सान्त है। यह सादि-सान्त काल कम-से-कम अतर्मुहूर्त है और अधिक-से-अधिक कुछ कम अर्धपुद्गल परिवर्तनमात्र है।

सासादन सम्यग्दृष्टि का जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल छह आवली प्रमाण है।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि का जघन्य काल लघु अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।

असंयतसम्यग्दृष्टि का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ अधिक तेतीस सागरोपम है।

सयतासयत का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल आदि के

तीन अन्तर्मुहूर्तों से कम[1] पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण है।

प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत का जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।

चारो उपशामको का जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। इनमे से प्रत्येक का काल भी इसी प्रकार जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त ही है। चूँकि अन्तर्मुहूर्त मे असंख्यात भेद है।

चारो क्षपको का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल भी अतर्मुहूर्त है। और इनमे से प्रत्येक का अलग-अलग भी काल अतर्मुहूर्त है।

सयोगकेवली का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल आठ वर्ष और आठ अन्तर्मुहूर्तों से कम पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण है।

अयोगकेवली का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल भी अन्तर्मुहूर्त है[2]।"

गुणस्थानों में जीवो की संख्या

"मिथ्यादृष्टि जीव पापजीव हैं, ये अनन्तानन्त हैं। सासादन सम्यग्दृष्टि जीव पापजीव हैं, ये पल्य के असंख्यातवें भाग हैं। इसी प्रकार सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि और सयतासयत भी पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। इनमे से सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी पाप जीव हैं और सम्यग्दृष्टि सहित जीव अथवा व्रतसहित जीव पुण्यजीव हैं।[3]"

"मनुष्यो की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि मनुष्य जगश्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। सासादन गुणस्थान मे मनुष्य बावन करोड हैं। मिश्र गुणस्थान मे स्थान एक सौ चार करोड हैं। असयत गुणस्थानवर्ती सात सौ करोड हैं। देशसयत तेरह करोड हैं।[4]"

प्रमत्तसयत गुणस्थानवर्ती पांच करोड, तिरानवे लाख, अठानवे हजार दो सौ छह हैं। अप्रमत्तगुणस्थानवाले दो करोड, छ्यानवे लाख

---

१ यह काल सज्ञीपचेंद्रिय पर्याप्त समूर्च्छन तिर्यंचो का है जो कि मच्छ, कच्छप, मेढक आदि में हो सकता है। —धवला पु० ४, पृ० ३५०

२ धवला पु० ४, पृ० ३२४ से ३५७ तक।

३ जीवदुग उत्तट्ठ, जीवा पुण्णा हु सम्मगुणसहिदा।
वदसहिदा वि य पावा, तव्विवरीया हवन्ति त्ति ॥६२२॥
मिच्छाइट्ठी पावा, णताणता य सासणगुणा वि। गोम्मटसार जीव०

४, सर्वार्थसिद्धि पृ० ३५।

निन्यानवे हज़ार एक सौ तीन है। उपशमश्रेणी वाले चारो गुणस्थानवर्ती ११९६, क्षपकश्रेणी वाले चारो गुणस्थानवर्ती २३९२, सयोगी जिन ८९८५०२ हैं और अयोगीकेवलियो का प्रमाण ५९८ है। इन सबका जोड़ करने पर ५९३९८२०६ + २९६९९१०३ + ११९६ + २३९२ + ८९८५०२ + ५९८ = ८,९९,९९,९९७ है। अर्थात् "छट्ठे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक सर्वसयमियो का प्रमाण तीन कम नव करोड़ है। इन सबको मै सिर नवाकर त्रिकरणशुद्धिपूर्वक नमस्कार करता हूँ[1]।"

विशेष—भावो की अपेक्षा छठे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के जीव दिगम्बर मुनि होते हैं। उपर्युक्त सख्या भावलिंगी मुनियो की अपेक्षा है। द्रव्य की अपेक्षा दिगम्बर मुनियो मे भी कदाचित् पहले गुणस्थान से पाचवा तक भी रह सकता है तब वे मुनि द्रव्यलिगी कहलाते हैं। द्रव्य से मुनि होनेवाले द्रव्यलिंगी ही क्यो न हो किन्तु वे ही सोलहवें स्वर्ग के ऊपर नवग्रैवेयक तक भी जा सकते है किन्तु द्रव्य से भी जो मुनि नही हैं ऐसे उत्कृष्ट श्रावक (ऐलक-क्षुल्लक) या आर्यिकायें सोलहवें स्वर्ग के ऊपर नही जा सकते है। इस प्रकार छठे से लेकर चौदहवें तक गुणस्थानो की अपेक्षा अथवा द्रव्यलिगी और भावलिंगी की अपेक्षा भी दिगम्बर मुनियो मे भेद हो जाता है। द्रव्यलिंगी मे सभी मिथ्यादृष्टि ही नही होते है किन्तु चतुर्थ या पचम गुणस्थानवर्ती भी होते हैं।

कर्म निर्जरा

कर्म निर्जरा की अपेक्षा मुनियो मे भेद—"सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत अनतानुबधीविसयोजक, दर्शन मोहक्षपक, उपशमक, उपशातमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन ये क्रम से असख्यातगुण निर्जरा वाले होते है।[2]"

अर्थात् सम्यक्त्व को प्राप्त करने मे कुछ ही क्षण जिसके बाकी हैं ऐसा अपूर्वकरण आदि परिणामो को प्राप्त करता हुआ जीव सातिशय मिथ्यादृष्टि कहलाता है। उसकी अपेक्षा सम्यक्त्व प्राप्त हो जानेपर सम्यग्दृष्टि जीव के कर्मो की निर्जरा असख्यातगुणी अधिक होती है। सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा देशव्रती के निर्जरा असख्यातगुणी अधिक होती है।

---

१ सत्तादी अट्ठता, छण्णवमज्झा य सजदा सव्वे।
अजलिमोलियहत्थो, तियरणसुद्धे णमसामि ॥६३३॥ —गोम्म० जीव०

२ सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानतवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशातमोहक्षपकक्षीणमोहजिना क्रमशोऽसख्येयगुणनिर्जरा. ॥४५॥ —तत्त्वार्थ सूत्र अ ९

देवव्रती की अपेक्षा मुनि के निर्जरा असख्यातगुणी अधिक होती है। ऐसे जो अनंतानुबधी का विसयोजन (अप्रत्याख्यान मे परिणाना) करने वाले है, जो दर्शन मोहनीय का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि हैं, जो उपशमश्रेणी पर चढे हैं, जो ग्यारहवें गुणस्थान मे मोह का पूर्णतया उपशमन कर चुके हैं, जो क्षपकश्रेणी पर चढे है, जो मोहनीय का क्षय कर के वारहवें गुणस्थान मे क्षीणमोह हो चुके हैं और जो सयोगकेवली जिन हैं। इन सवमे पूर्व-पूर्व की अपेक्षा आगे-आगे वाले मे असंख्यातगुण श्रेणी-रूप से निर्जरा अधिक-अधिक होती चली जाती है।

आज के युग मे मात्र-विरत, पर्यंत-अर्थात् छठे सातवें गुणस्थान वाले ही मुनि होते हैं। अन्य नही होते।

विशेष—जो ये निर्जरा के स्थान बताये है उनमे भी प्रत्येक स्थानो मे जीवो के भावो की अपेक्षा निर्जरा मे तरतमता हो जाती है। इन निर्जरा करने वाले की अपेक्षा भी दिगवर मुनियो मे भेद हो जाता है।



६. तीर्थंकर मुनि

तीर्थङ्करों की अपेक्षा मुनियों के भेद

तीर्थंकर प्रकृति का जिनके बन्ध हो चुका है उनके गर्भ मे आने के छह महीने पहले से ही रत्नो की वर्षा आदि होकर गर्भागम के समय इन्द्रादि आकर गर्भ महोत्सव मनाते है। जन्म लेते ही इन्द्रादि देव आकर भगवान् शिशु को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक महोत्सव करते हैं।

जब उन्हे वैराग्य होता है उसी समय लौकातिक देव आकर भगवान् के वैराग्य की प्रशसा व अनुमोदना करके भगवान् की स्तुति करके चले जाते है। ये देव अन्य कल्याणको मे नही आते है चूँकि ये पूर्णतया वैराग्यप्रिय होते है, ब्रह्मचारी है और एक भवावतारी है। ये देवर्षि कहलाते है। पुन इन्द्रादि देव आकर पालकी मे विराजमान करके वन मे ले जाकर रत्नो से पूरित चौक पर प्रभु को विराजमान करते है। भगवान् उस समय किसी गुरु से दीक्षा न लेकर स्वय 'ॐ नम सिद्ध' पद के उच्चारणपूर्वक सिद्धो को नमस्कार करके केशलोच करके दीक्षा ले लेते है।

तीर्थंकर के सिवाय अन्य किसी को स्वय दीक्षा लेने का विधान नही है।

स्वयं दीक्षा का निषेध

जैसे तीर्थंकर स्वय दीक्षा लेते है, वैसे ही अन्य कोई स्वय दीक्षा लेकर मुनि बन जाये तो क्या बाधा है ?

भगवान् की आज्ञा का लोप होता है, देखिये तीर्थंकरो ने तीर्थंकर प्रकृति बध के पहले के मनुष्य भव मे गुरुओ से ही दीक्षा ली थी।

चौबीस तीर्थंकरो के पूर्व भव के नाम क्रमश १ वज्रनाभि, २ विमल ३ विपुलवाहन, ४. महाबल, ५. अतिबल, ६ अपराजित, ७ नदिषेण, ८ पद्म, ९ महापद्म, १० पद्मगुल्म, ११ नलिनगुल्म १२ पद्मोत्तर, १३ पद्मासन, १४ पद्म, १५ दशरथ, १६ मेघरथ, १७. सिंहरथ, १८ धनपति, १९ वैश्रवण २० श्रीधर्म, २१ सिद्धार्थ, २२. सुप्रतिष्ठ, २३. आनन्द और २४ नंदन। इनमे से भगवान् वृषभदेव पूर्वभव मे वज्रनाभि की पर्याय मे चक्रवर्ती थे तथा दीक्षित होकर चौदह पूर्वो के ज्ञाता हुए थे, और शेष तीर्थङ्कर पूर्व मे महामडलेश्वर थे और दीक्षित होने पर ग्यारह अग के

वेत्ता हुए थे। सभी तीर्थङ्करों ने पूर्वभव मे मुनि अवस्था मे सिंहनिष्क्रीडित व्रत तपकर अन्त मे एक उपवास के साथ प्रायोपगमन संन्यास धारण किया था और सभी यथायोग्य स्वर्गों मे गये थे।"

इन तीर्थङ्करो के पूर्वजन्म के दीक्षा गुरु के नाम क्रमश —१ वज्रसेन २. अरिंदम, ३ स्वयप्रभ, ४ विमलवाहन, ५ सीमधर, ६ पिहितास्रव, ७ अरिन्दम, ८ युगधर, ९ सर्वजनानन्दि, १० उभयानद, ११ वज्रदन्त, १२. वज्रनाभि, १३ सर्वगुप्त, १४ त्रिगुप्त, १५ चित्तरक्ष, १६ विमलवाहन, १७ घनरथ, १८ सवर, १९ वरधर्म, २० सुनद, २१ नद, २२ व्यतीतशोक, २३ दामर और २४ प्रोष्ठिल थे[1]।

पूर्वोक्त वज्रनाभि आदि महापुरुषो ने केवली अथवा श्रुतकेवली के पादमूल मे सोलहकारणभावनाये भाकर तीर्थङ्कर प्रकृति का बध किया था। सो ही कहा है—

"प्रथमोपशम सम्यक्त्व मे अथवा शेष तीन सम्यक्त्व मे से किसी मे स्थित हुए जीव चौथे, पाँचवें, छठें या सातवें गुणस्थान मे किसी भी गुणस्थान मे रहते हुए केवली अथवा श्रुतकेवली के पादमूल मे तीर्थङ्कर प्रकृति का बध करते है।[2]"

एक और बात विशेष है कि तीर्थङ्कर प्रकृति का बध करने वाला कर्मभूमिज मनुष्य ही होना चाहिये।

मिथ्यादृष्टि के अनतानुबधी चतुष्क और एक मिथ्यात्व ये पाँच अथवा सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व सहित सात प्रकृतियो के उपशम से उपशम सम्यक्त्व होता है।

सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से जो तत्त्वश्रद्धान चल, मलिन और अगाढ दोष सहित होता है उसे वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते है।

उपर्युक्त सातो प्रकृतियो के क्षय से होने वाला सम्यक्त्व क्षायिक है। इस सम्यक्त्व को कर्मभूमिया मनुष्यकेवली या श्रुतकेवली के पादमूल मे ही प्राप्त करता है।[3]"

---

१ हरिवश पु० प० ६०, पृ० ७१८।

२ पढमुवसमिये सम्मे सेसतिये अविरदादिचत्तारि।
तित्थयरबधपारभया णरा केवलिदुगते ॥९३॥ —गोम्मटसार कर्म०

३ दसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु।
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ ॥६४८॥
—गोम्मटसार जीव०

सोलहकारण भावना

१ **दर्शनविशुद्धि**—जिनेन्द्र भगवान् अरिहतदेव द्वारा उपदिष्ट निर्ग्रंथ-स्वरूप मोक्षमार्ग में रुचि–श्रद्धा का होना दर्शनविशुद्धि है। इसके निःशकित आदि आठ अग हैं।

२ **विनयसंपन्नता**—सम्यग्ज्ञानादि मोक्षमार्ग और उनके साधन गुरु आदि के प्रति अपने योग्य आचरण द्वारा आदर सत्कार करना विनय है। इससे सहित होना विनयसंपन्नता है।

३ **शीलव्रतानतिचार**—अहिंसा आदि व्रतो मे और इनके पालन हेतु क्रोध आदि के त्यागरूप शील मे निर्दोष प्रवृत्ति करना।

४ **अभीक्ष्णज्ञानोपयोग**—जीवादि पदार्थरूप स्वतत्त्व विषयक सम्यग्ज्ञान मे निरतर लगे रहना।

५. **संवेग**—ससार के दु खो से निरतर डरते रहना।

६ **शक्तितस्त्याग**—आहार, अभय और ज्ञान इन तीनो का शक्ति के अनुसार विधिवत् देना।

धवला मे कहा है कि—"साधुओ के द्वारा विहित प्रासुक अर्थात् निरवद्य ज्ञान, दर्शन आदि के त्याग से तीर्थंकर नामकर्म बँधता है। अर्थात् दयाबुद्धि से साधुओ द्वारा किये जाने वाले ज्ञान, दर्शन व चारित्र के परित्याग या दान का नाम प्रासुकपरित्यागता है। यह कारण गृहस्थो मे सभव नही है। क्योकि, उनमे चारित्र का अभाव है। रत्नत्रय का उपदेश भी गृहस्थो मे सभव नही है, क्योकि दृष्टिवाद आदि उपरिम श्रुत के उपदेश देने मे उनका अधिकार नही है। अतएव यह कारण महर्षियो के ही होता है[1]।"

७ **शक्तितस्तप**—शक्ति को न छिपाकर मोक्षमार्ग के अनुकूल शरीर को क्लेश देना।

८ **साधुसमाधि**—जैसे भाडार मे अग्नि लग जाने पर बहुत उपकारी होने से अग्नि को बुझाया जाता है उसी प्रकार अनेक प्रकार के व्रतो और शीलो से समृद्ध मुनि के तप करते हुए किसी कारण से विघ्न उत्पन्न होने

---

१ दयाबुद्धीए साहूण णाणदसणचरित्तपरिच्चागो दाण पासुअपरिच्चागदा णाम। ण चेदं कारण घरत्थेसु सभवदि, तत्थ चरित्ताभावादो। तिरयणोवदेसो वि ण घरत्थेसु अत्थि, तेसिं दिट्ठिवादादिउवरिमसुत्तोवदेसणे अहियाराभावादो। तदो एद कारण महेसिण चेव होदि।

—धवला पु० ८ पृ० ८७

पर उसका संधारण करना-विघ्नो को शात करना।

९ **वैयावृत्य**—गुणी पुरुष के दुःख मे आ पडने पर निर्दोष विधि से उसका दुःख दूर करना।

१० **अरिहत भक्ति**—अरिहत देव मे भावो की विशुद्धि के साथ अनुराग रखना।

११ **आचार्य भक्ति**—आचार्यों मे भक्ति, पूजा आदि करना।

१२. **बहुश्रुतभक्ति**—उपाध्यायो की भक्ति करना।

१३ **प्रवचनभक्ति**—प्रवचन-जिनागम मे अनुराग रखना।

१४ **आवश्यक अपरिहाणि**—छह आवश्यक क्रियाओ को यथासमय करना।

१५ **मार्ग प्रभावना**—ज्ञान, तप, दान और जिन पूजा के द्वारा धर्म का प्रकाश करना।

१६ **प्रवचनवत्सलत्व**—जैसे गाय अपने बछडे पर स्नेह करती है वैसे ही साधर्मियो पर स्नेह रखना।

'ये सब सोलहकारण भावनायें है। इनमे से दर्शनविशुद्धि सहित किन्ही-किन्ही भावनाओ के चितवन से अथवा समस्त भावनाओ के चितवन से तीर्थंकर प्रकृति का वध हो जाता है।"[1]

विशेष—भरत और ऐरावत क्षेत्र के सभी तीर्थंकर पाच कल्याणक वाले ही होते हैं किंतु विदेह क्षेत्र की १६० कर्मभूमियो मे अधिक-से-अधिक १६० तीर्थंकर भी एक साथ हो सकते है। इनमे सभी पाच कल्याणक वाले ही हो ऐसा नियम नही है। यदि ये गृहस्थावस्था मे तीर्थंकर प्रकृति का वध कर लेते है तो इनके तीन कल्याणक अथवा मुनि होने के बाद तीर्थंकर प्रकृति बाधने पर दो कल्याणक होते है। तीर्थंकर प्रकृति वाले महापुरुष दीक्षा लेकर केवलज्ञान होने तक मौन ही रहते है। तथा सामान्य दिगवर साधुओ के लिये कोई नियम नही है। इस अपेक्षा तीर्थंकर मुनि और सामान्य मुनि मे महान् अतर होता है।

समवसरण के अन्तर्गत सात संघो की अपेक्षा मुनियो में भेद

चौबीसो तीर्थंकरो का चतुर्विध संघ—भगवान् वृषभदेव के समय ऋषियो का प्रमाण चौरासी हजार है। अजितनाथ के समवसरण मे एक लाख मुनि है। चतुर्विध सघ मे इनकी सख्या कही गई है।

१ इन भावनाओ का वर्णन सर्वार्थसिद्धि के आधार से।

प्रत्येक तीर्थङ्करो के समवसरण मे ऋषियो के सात सघ होते है। पूर्वधर, शिक्षक, अवधिज्ञानी, केवली, विक्रियाऋद्धि के धारक, विपुलमति और वादी ये सात प्रकार है।

ऋषभदेव के सात गणो मे से पूर्वधर ४७५०, शिक्षक ४१५०; अवधिज्ञानो ९०००, केवली २००००, विक्रिया ऋद्धिधारी २०६००, विपुलमति १२७५० और वादी १२७५० है। इन सबका जोड ४७५० + ४१५० + ९००० + २००० + २०६०० + १२७५० + १२७५० = ८४००० होता है।

ऐसे सभी तीर्थंकरो के सात सघ होते है।

भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण मे १४००० मुनि है। उनमे सात प्रकार के सघ का विभाजन—पूर्वधर ३०० + शिक्षक ९९०० + अवधिज्ञानी १३०० +, केवली ७०० + विक्रियाधारी ९०० +, विपुलमति ५०० + वादी ४०० = १४००० मुनि है।

चौबीस तीर्थंकरो के चतुर्विध सघ की सख्या—

	मुनि	आर्यिका	श्रावक	श्राविका
१	८४०००	३५००००	३००००००	५००००००
२	१००००००	३२००००	३००००००	५००००००
३	२००००००	३३००००	३००००००	५००००००
४	३००००००	३३०६००	३००००००	५००००००
५	३२००००	३३००००	३००००००	५००००००
६	३३००००	४२००००	३००००००	५००००००
७.	३००००००	३३००००	३००००००	५००००००
८	२५००००	३८००००	३००००००	५००००००
९.	२००००००	३८००००	२००००००	४००००००
१०.	१००००००	३८००००	२००००००	४००००००
११.	८४०००	१३००००	२००००००	४००००००
१२.	७२०००	१०६०००	२००००००	४००००००
१३.	६८०००	१०३०००	२००००००	४००००००
१४.	६६०००	१०८०००	२००००००	४००००००
१५.	६४०००	६२४००	२००००००	४००००००
१६.	६२०००	६०३००	२००००००	४००००००
१७.	६००००	६०३५०	१००००००	३००००००

१८	५००००	६००००	१०००००	३०००००
१९.	४००००	५५०००	१०००००	३ ००००
२०	३००००	५००००	१०००००	३०००००
२१	२००००	४५०००	१०००००	३०००००
२२.	१८०००	४००००	१०००००	३०००००
२३.	१६०००	३८०००	१०००००	३०००००
२४.	१४०००	३६०००	१०००००	३०००००

चौवोसो तीर्थंकरो के समस्त मुनियो का जोड ९५,८०,००० है और आर्यिकाओ का ३,६०,०५,६५० है।

२४ तीर्थङ्करों के गणधर देवों की संख्या

प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर पर्यन्त प्रत्येक के गणधर क्रमश ८४ + ९० + १०५ + १०३ + ११६ + १११ + ९५ + ९३ + ८८ + ८७ + ७७ + ६६ + ५५ + ५० + ४३ + ३६ + ३५ + ३० + २८ + १८ + १७ + ११ + १० + ११ =

सभी तीर्थंकरो के प्रथम गणधरो के नाम—

ऋषभसेन, सिंहसेन, चारुदत्त, वज्रचमर, वज्र, चमर, बलदत्त, वैदर्भ, नाग, कुथु, धर्म, मदिर, जय, अरिष्ट, सेन, चक्रायुध, स्वयभू, कुभ, विशाख, मल्लि, सुप्रभ, वरदत्त, स्वयभू और इन्द्रभूति।

ये सभी गणधर देव आठ ऋद्धियो से सहित होते है। यहाँ उन ऋद्धियो का लवमात्र वर्णन देखिए।

ऋद्धि के आठ भेद—बुद्धि, विक्रिया, क्रिया, तप, बल, औषधि, रस और क्षेत्र। इनमे से भी बुद्धिऋद्धि के १८, विक्रिया के ११, क्रिया के २, तप के ७, बल के ३, औषधि के ८, रस के ६ और क्षेत्रऋद्धि के २ ऐसे अवातर भेद होते है।

बुद्धिऋद्धि के १८ भेद

अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान, केवलज्ञान, बीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि, पदानुसारि बुद्धि, सभिन्नश्रोतृत्व, दूरास्वादनत्व, दूरस्पर्श, दूरघ्राण, दूरश्रवण, दूरदर्शन, दशपूर्वित्व, चौदश पूर्वित्व, निमित्त, प्रज्ञाश्रवण, प्रत्येकबुद्धित्व और वादित्व।

१ **अवधिज्ञान**—यह परमाणु आदि से लेकर अन्तिम स्कध पर्यन्त मूर्तिद्रव्यो का जानने वाला ज्ञान है।

२ **मन:पर्ययज्ञान**—यह ज्ञान चिंतित, अचिंतित या अर्धचिंतित के विषयभूत पदार्थों को नरलोक के भीतर जानता है।

३ **केवलज्ञान**—यह इन्द्रियादि की सहायतारहित सपूर्ण लोकालोक को विषय करता है।

४ **बीजबुद्धि**—जो बुद्धि सख्यात शब्दो के बीच मे बीजभूत पद को परके उपदेश से प्राप्त करके उसके आश्रय सपूर्णश्रुत को जान लेती है।

५. **कोष्ठबुद्धि**—यह ऋद्धि अनेक ग्रन्थो के शब्दरूप बीजो को ग्रहण करके मिश्रण रहित बुद्धिरूपी कोठे मे धारण करती है।

६ **पदानुसारी**—गुरु के उपदेश से आदि, मध्य अथवा अन्त के एक पद को ग्रहण करके यह ऋद्धि सारे ग्रन्थ को ग्रहण कर लेती है।

७ **संभिन्नश्रोतृत्व**—इस ऋद्धि से मुनि श्रोत्रेन्द्रिय के उत्कृष्ट क्षेत्र से बाहर सख्यात योजना प्रमाण मे स्थित मनुष्य-तिर्यञ्चो के अक्षर-अनक्षर शब्दो को सुनकर प्रत्युत्तर दे सकता है।

८ **दूरास्वादित्व**—इसके बल से जिह्वाइन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय से बाहर सख्यातो योजन के विविध रसो को जान लिया जाता है।

९. **दूरस्पर्शत्व**—इससे स्पर्शनेंद्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर सख्यातो योजनो तक आठ प्रकार के स्पर्शो को जान लिया जाता है।

१० **दूरघ्राणत्व**—घ्राणेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर सख्यातो योजनो तक बहुत प्रकार के गधो को ग्रहण कर लेना।

११ **दूरश्रवणत्व**—श्रोत्रेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर सख्यात योजनो पर्यन्त मे स्थित मनुष्य-तिर्यञ्चो के अक्षर-अनक्षररूप शब्दो को श्रवण कर लेना।

१२. **दूरदर्शित्व**—चक्षुइद्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर सख्यात योजनो मे स्थित द्रव्यो को देखना यह दूरदर्शित्व है।

१३ **दशपूर्वित्व**—मुनियो के दशपूर्व के पढने मे पाँच सौ महाविद्या और सात सौ लघुविद्याओ की देवतायें आकर आज्ञा मागती है। उस समय जो मुनि जितेन्द्रिय बने रहते है और उनकी इच्छा नही करके वापस कर देते हैं वे दशपूर्वी है।

१४. **चौदहपूर्वित्व**—जो चौदह पूर्वों के पारगत श्रुतकेवली हैं वे चौदह पूर्वित्व ऋद्धि के स्वामी है।

१५ अष्टांगमहानिमित्त—यह ऋद्धि नभ, भौम, अंग, स्वर-व्यजन, लक्षण, चिह्न और स्वप्न इन आठ भेदो सहित निमित्तज्ञान मे कुशल है।

१६ प्रज्ञाश्रमणत्व—इस ऋद्धि से युक्त महामुनि अध्ययन के विना ही चौदह पूर्वों मे से अतिसूक्ष्म विषय को निरूपण करने मे कुशल होते है।

१७ प्रत्येक बुद्धित्व—इससे गुरु के उपदेश विना ही कर्मों के उपशम मे सम्यग्ज्ञान और तप मे प्रगति होती है।

१८ वादित्व—इस ऋद्धि से मुनि शक्र के पक्ष को भी वहुत वाद से कर सकते हैं।

विक्रिया ऋद्धि के भेद

अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व, अप्रतिघात, अन्तर्धान और कामरूप।

१ अणिमा—अणु प्रमाण शरीर को करना, इसके द्वारा महर्षि अणु प्रमाण छिद्र मे प्रविष्ट होकर चक्रवर्ती के कटक और निवेश की रचना कर सकते हैं।

२ महिमा—इससे मेरु के प्रमाण शरीर वनाया जा सकता है।

३ लघिमा—इसके द्वारा वायु से भी लघु शरीर वन सकता है।

४ गरिमा—इसके द्वारा वज्र से भी अधिक गुरुतायुक्त शरीर वनाया जा सकता है।

५ प्राप्ति—भूमि पर खडे रहकर अगुली से मेरु-सूर्य-चन्द्रादि को छू लेना।

६ प्राकाम्य—इसके वल से जल के समान पृथ्वी पर निमज्जनादि और जल मे पृथ्वी के समान गमन आदि किया जा सकता है।

७ ईशित्व—इसके वल से सव जगत् पर प्रभुता होती है।

८ वशिष्ठ—इससे सभी जीव समूह वश मे हो जाते है।

९ अप्रतिघात—इस ऋद्धि के वल से शैल, शिला या वृक्षादि के मध्य मे होकर आकाश के समान गमन करना।

१० अतर्धान—इसके वल से अदृश्यता प्राप्त होती है।

११ कामरूपित्व—इसके द्वारा युगपत् अनेक रूप वना सकते है।

क्रिया ऋद्धि के २ भेद

आकाशगामित्व और चारणत्व।

१ आकाशगामित्व—इस ऋद्धि से कायोत्सर्ग आसन या अन्य प्रकार

से ऊर्ध्व स्थित होकर या बैठकर आकाश मे गमन किया जाता है।

२ चारणत्व—इस ऋद्धि के जलचारण, जंघाचारण, फलचारण, पुष्पचारण, पत्रचारण, अग्निशिखाचारण, धूम्रचारण, मेघचारण, धाराचारण, मर्कटतंतुचारण, ज्योतिश्चारण और मरुच्चारण आदि अनेको भेद होते है। चार अगुल प्रमाण पृथ्वी को छोडकर घुटने को मोडे बिना जो बहुत योजनो तक आकाश मे गमन करना है, वह जंघाचारण ऋद्धि है। ऐसे ही सभी के लक्षण समझ लेना।

तप ऋद्धि के ७ भेद

उग्रतप, दीप्ततप, तप्ततप, महातप, घोरतप, घोरपराक्रम और अघोर ब्रह्मचारित्व।

१ उग्रतप—इसके भी दो भेद है—उग्रोग्र और अवस्थित।

दीक्षोपवास को आदि करके आमरणात एक-एक अधिक उपवास को बढाकर निर्वाह करना उग्रोग्रतप है।

दीक्षा लेकर एक उपवास करके पारणा करे, पुनः उपवास-पारणा ऐसे एकान्तर से करते-करते कदाचित् बेला हो जाय तो पुन बेला-पारणा ही करते-करते आगे कदाचित् तेला आदि से आगे ही आगे बढता जाय नीचे न गिरे वह अवस्थित उग्रतप है।

उग्रोग्रतप मे छह मास से ऊपर भी उपवास हो सकते है। सो ऋद्धि के बल से छह मास से ऊपर उपवास का विरोध नहीं है। यथा—

'घातायुष्क मुनियो के छह मास उपवास का नियम है किन्तु अघातायुष्क के नही—चूँकि उनका अकाल मे मरण नही होता। अत. छह मासो के ऊपर उपवास का अभाव मान लेने पर उग्रोग्र बन नही सकता[1]।"

२ दीप्ततप—जिसके प्रभाव से मन, वचन, काय से बलिष्ठ ऋषि की बहुत उपवासो द्वारा शरीर काति सूर्यवत् देदीप्यमान होती जाय।

---

१ "घादाउआण मुणीण छम्मासोववासणियमब्भुवगमादो, णाघादाउयाण, तेसिमकाले मरणाभावादो। छम्मासेहिंतो उवरि उववासाभावे उग्गुग्गतवाणुववत्तीदो।"

—धवला पु० ९, पृ०, ८८, ८९

धवला ग्रन्थ मे इस ऋद्धि वाले मुनि को आहार नही माना है। यथा—"उनके केवल दीप्ति ही नही, किन्तु बल भी बढता है इसलिए उनके आहार भी नही होता, क्योकि उसके कारणो का अभाव है। यदि कहो कि भूख के दु ख को शात करने के लिए भोजन करते है, सो भी ठीक नही, क्योकि उनके भूख के दु ख का अभाव है[1]।"

यही कारण है कि गणधर देव के आहार का अभाव कहा है—

"बारह अगो के कर्ता गणधर भट्टारक ग्रथकर्ता है। व पाँच महाव्रतो के धारक, तीन गुप्तियो से रक्षित, पाँच समितियो से युक्त हैं।

दीप्ततप लब्धि के प्रभाव से सर्वकाल उपवास युक्त होकर भी शरीर के तेज से दशो दिशाओ को प्रकाशित करने वाले होते हैं।"

३ तप्ततप—तप्त कढाई मे गिरे हुए जलकण के समान खाया हुआ अन्न धातुओ सहित क्षीण हो जाय—मल-मूत्र रूप परिणमन नही करे वह तप्ततप ऋद्धि है।

४. महातप—जिसके प्रभाव से मुनि चार प्रकार के सम्यग्ज्ञान के बल से मदरपक्ति प्रमुख सब ही महान् उपवासो को कर लेवें।

५ घोरतप—जिसके बल से ज्वर, शूल आदि रोगो से शरीर के अत्यन्त पीडित होने पर भी दुर्द्धर तपश्चरण कर सके।

६ घोरपराक्रम—जिसके प्रभाव से तीनो लोको मे सहार करने की शक्ति से युक्त और अनेको अद्भुत कार्यो को करने की शक्ति से युक्त हो जाते हैं।

७ अघोर ब्रह्मचारित्व—जिस ऋद्धि से मुनि के क्षेत्र मे भी चोर आदि की बाधायें, काल-महामारी और महायुद्ध आदि नही होते है।

बल ऋद्धि के ३ भेद

मनोबल, वचनबल और कायबल ऋद्धि।

१ मनोबल—इस ऋद्धि के बल से मुनि अन्तर्मुहूर्त मात्र मे सम्पूर्ण श्रुत का चितवन कर लेते हैं।

---

१ "तेसिं ण केवल दित्ती चेव वड्ढदि, किन्तु बलो वि वड्ढदि, तेण ण तेसिं भुत्ती वि, तक्कारणाभावादो। ण च भुक्खादुक्खुवसमणट्ठ भुजति, तदभावो"। —धवला पु० ९, पृ० ९०

"दुवालसगाण कारओ गणहरभडारओ गथकत्तारओ त्ति अब्भुवगमणादो। त जहा—पचमहव्वयधारओ तिगुत्तिगुत्तो पचसमिदो दित्ततवलद्धिगुणेण सव्वकालोववासो वि सतो सरीरतेजुज्जोइयदसदिसो"। —धवला पु० ९, पृ० १२७

२ **वचनबल**—इस ऋद्धि के प्रभाव से साधु श्रमरहित और अहीन-कण्ठ होते हुए अन्तर्मुहूर्त के भीतर सम्पूर्ण द्वादशाग रूप श्रुत का उच्चारण कर लेते है।

३ **कायबल**—इस ऋद्धि से ऋषि मास, चारमास आदि रूप कायोत्सर्ग करते हुए भी श्रम रहित रहते है। तथा तीनो लोको को कनिष्ठा अगुली पर उठाकर अन्यत्र स्थापित करने के लिए समर्थ होते है।

औषधि ऋद्धि के ८ भेद

आमर्शौषधि, क्ष्वेलौषधि, जल्लौषधि, मलौषधि, विप्रौषधि, सर्वौषधि मुखनिर्विष और दृष्टिनिर्विष।

१ **आमर्शौषधि**—इस ऋद्धि वाले मुनि के हाथपैरादि के स्पर्शमात्र से प्राणी नीरोग हो जाते है।

२ **क्ष्वेलौषधि**—इस ऋद्धिधारी मुनि का लार, कफ, अक्षिमल और नासिकामल जीवो के रोगो को नष्ट कर देता है।

३ **जल्लौषधि**—इस ऋद्धि वाले मुनि का स्वेद–पसीना जीवो के रोगो का नाश कर देता है।

४ **मलौषधि**—इस ऋद्धि से मुनियो का जिह्वा, ओठ, दाँत, श्रोत्रादि का मल भी जीवो के समस्त रोगो को नष्ट कर देता है।

५ **विप्रौषधि**—इस ऋद्धि वाले मुनियो के मूत्र, विष्ठा भी जीवो के भयानक रोगो का नाश कर देते हैं।

६ **सर्वौषधि**—इस ऋद्धि वाले मुनियो का स्पर्श किया हुआ जल व वायु तथा रोम और नख आदि भी व्याधि के हरने वाले हो जाते है।

७ **मुखनिर्विष**—जिसके प्रभाव से मुनियो के वचन मात्र से तिक्तरस से व विष से युक्त विविध प्रकार का अन्न निर्विषता को प्राप्त हो जाता है। वह वचननिर्विष ऋद्धि है। अथवा ऐसे मुनि के वचनमात्र सुनते ही व्याधियुक्त मनुष्य स्वस्थ हो जाते है।

८ **दृष्टिनिर्विष**—रोग और विष से युक्त जीव जिस ऋद्धि वाले मुनि के द्वारा देखने मात्र से ही नीरोग हो जाते है, वह दृष्टिनिर्विष ऋद्धि है।

रसऋद्धि के ६ भेद

आशीर्विष, दृष्टिविष, क्षीरस्रवी, मधुस्रवी, अमृतस्रवी और सर्पिस्रवी।

आशीविष–जिस शक्ति से दुर्द्धर तप से युक्त मुनि द्वारा 'मर जावो' इस प्रकार कहने पर जीव सहसा मर जाता है वह आशीविष ऋद्धि है।

"अथवा विष से पूर्ण जीवों के प्रति 'निर्विष हो' इस प्रकार निकला हुआ जिनका वचन जीवों को जिलाता है, व्याधिवेदना और दारिद्र्य आदि विनाश हेतु निकला हुआ वचन उन-उन कार्यों को करता है, वे भी आशीविष हैं। तप के प्रभाव से इस प्रकार की शक्ति युक्त होते हुए भी वे साधु जीवों का निग्रह व अनुग्रह नहीं करते हैं।"[1]

२ दृष्टिविष—इस ऋद्धि से रोषयुक्त मुनि के द्वारा सहसा देखने मात्र से जीव मर जाता है। 'अथवा इसमें भी पूर्वोक्त शुभ अर्थ करना कि जिनसे मुनि के प्रेम या करुणा पूर्वक देखने मात्र से जीव जीवित हो जाता है।[2]"

३ क्षीरस्रवी—मुनि के हस्ततल पर आये हुए रूक्ष आहार आदि तत्काल ही दुग्धरूप हो जावें, अथवा जिनके वचन सुनने से मनुष्य-तिर्यंचादि के दुःख शान्त हो जावें।

४ मधुस्रवी—जिनके बल से मुनि के हाथ में रखते ही रूक्ष आहारादि मधुर रस युक्त हो जावें। अथवा जिनके वचन से मनुष्यादिकों के दुःख नष्ट हो जावें।

५ अमृतस्रवी—जिस ऋद्धि से मुनि के हाथ में आये हुए रूक्षाहारादि अमृतमय हो जावें, अथवा जिनके वचन श्रवण से तत्काल ही दुःखादि नष्ट हो जावें।

६ सर्पिःस्रवी—जिसके प्रभाव से हस्ततल में निक्षिप्त आहार घृतरूप हो जावे, अथवा जिनके वचन सुनने से जीवों के दुःखादि शांत हो जावें।

क्षेत्र ऋद्धि के २ भेद

अक्षीणमहानसिक और अक्षीणमहालय।

१. अक्षीणमहानसिक—जिसके प्रभाव से मुनि के आहार से शेष भोजनशाला में रखे हुए अन्न में से जिस किसी भी प्रिय वस्तु को यदि उस दिन चक्रवर्ती का सम्पूर्ण कटक भी जीम जावे तो भी वह लेशमात्र क्षीण-कम नहीं होती है।

---

१ "जेसिं वयणं थावरजंगमविसपूरिदजीवे पडुच्च 'णिव्विसा होतु' त्ति णिस्सरिदं ते जीवावेदि, वाहिवेयणदालिद्दादिविलयं पडुच्च णिप्पडिदं संतं तं तं कज्जं करेदि ते वि आसीविसा त्ति उत्तं होदि। तवोवलेण एवंविहसत्तिसंजुत्तवयणा होदूण जे जीवाणं णिग्गहाणुग्गहं ण कुणंति, ते आसीविसा त्ति घेतव्वा।" —धवला पु० ९, पृ० ८५, ८६

२ "एवं दिट्ठि अमियाणं पि जाणिदूण लक्खणं वत्तव्वं।" —धवला पु० ९, पृ० ८६

२ अक्षीणमहालय—जिस ऋद्धि के प्रभाव से समचतुष्कोण चार धनुषप्रमाण क्षेत्र मे असख्यात मनुष्य-तिर्यंच समा जाते है, वह अक्षीण-महालय है ।

विशेष—"गणधर देवो के ये सपूर्ण ऋद्धियाँ रहती है जैसा कि पहले कहा है"।[1] किंतु घोराघोर तपश्चरण और ध्यान विशेष करने वाले मुनियो के भी इनमे से कोई-कोई ऋद्धियाँ प्रगट होती रहती है। जिनके कि उदाहरण प्रथमानुयोग मे बहुत पाये जाते है। ये सभी ऋद्धियाँ भाव-लिंगी मुनियो के ही हो सकती है द्रव्यलिंगी के नही। इन ऋद्धियो की अपेक्षा भी मुनियो मे भेद हो जाता है।

आहारक ऋद्धि

आहारकऋद्धि के धारक, छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के आहारक शरीर नामकर्म के उदय से आहारक शरीर (पुतला) निकलता है। "यह असयम का परिहार करने के लिए तथा सदेह को दूर करने के लिए निकलता है। अपने क्षेत्र मे केवली या श्रुतकेवली के नही होने पर किंतु दूसरे क्षेत्र मे जहाँ औदारिक शरीर से पहुँचा नही जा सकता, वहाँ पर केवली या श्रुतकेवली विद्यमान रहने पर अथवा तीर्थंकरो के दीक्षा कल्याणक आदि तीन कल्याणको मे से किसी के होने पर तथा जिन, जिनगृह—चैत्य, चैत्यालयो की वदना के लिए भी आहारक शरीर प्रगट होता है[2]"। अर्थात् इस ऋद्धि वाले मुनि के यदि किसी सूक्ष्म पदार्थ मे सदेह हो गया है अथवा दीक्षा कल्याणक आदि के प्रसग मे या चैत्यालयो की वदना करने हेतु भावना विशेष के होने पर मुनि के मस्तक से एक हाथ प्रमाण शुभ अवयववाला श्वेत शरीर निकलता है। यह न किसी से बाधित होता है न किसी को बाधा देता है। यह इतना सूक्ष्म है कि वज्रपटल को भेद कर भी जा सकता है। इसकी स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट भी अन्त-र्मुहूर्तमात्र है। मुनि के सदेह मे, यह पुतला केवली भगवान् के पास जाकर

---

१ गणधरो की सख्या और ऋद्धियो का यह सारा वर्णन तिलोयपण्णत्ति पु० प्र० पृ० २७० से २८६ के आधार से है।

२. आहारस्सुदयेण य, पमत्तविरदस्स होदि आहार।
असजमपरिहरणट्ठ, सदेहविणासणट्ठ च ॥२३५॥
णियखेत्ते केवलिदुगविरहे णिक्कमणपहुदिकल्लाणे।
परखेत्ते सवित्ते जिणजिणघरवदणट्ठ च ॥२३६॥
—गोम्मटसार जीव०

सूक्ष्म पदार्थों का ग्रहण करता है पुन आकर मुनि के शरीर मे वापस प्रविष्ट हो जाता है। और मुनि का सदेह दूर हो जाता है। अथवा वदना आदि से निकलने मे उन्हे वन्दना आदि का आनन्द प्राप्त हो जाता है।

तैजस ऋद्धि—"तपोविशेप से तैजस शरीर भी प्रगट होता है। अर्थात् तपो विशेष से ऋद्धि की प्राप्ति लब्धि है। इस लब्धि के निमित्त से तैजस शरीर भी होता है। इसके दो भेद हैं-नि सरणात्मक और अनि·सरणात्मक[1]।" औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर मे दीप्ति करने वाला नि.सरणात्मक है। नि सरणात्मक तैजस उग्रचारित्रवाले, अतिक्रोधी यति के शरीर से निकलकर जिसपर क्रोध है उसे घेरकर शाक की तरह पका देता है फिर वापस यति के शरीर मे समा जाता है। यदि अधिक देर ठहर जाय तो उसे भस्मसात् कर देता है।

अन्यत्र इस तैजस के शुभ और अशुभ ऐसे दो भेद किये हैं।

"अशुभ तैजस—किसी कारण क्रोध उत्पन्न हो जाने पर सयम के निधान महामुनि के बाएँ कन्धे मे सिन्दूर के ढेर जैसी कातिवाला बारह योजन लम्बा (९६ मील) सूच्यंगुल के संख्यातवें भागमात्र मूलविस्तार और नौ योजन (७२ मील) अग्र विस्तार वाला काहल (बिलाव) के आकार का धारक पुरुष निकल करके बायी प्रदक्षिणा देकर मुनि को जिस पर क्रोध है उस विरुद्ध पदार्थ को भस्म करके और उसी मुनि के साथ आप भी भस्म हो जावे। जैसे द्वीपायन मुनि के शरीर से पुतला निकलकर द्वारिका नगरी को भस्म करके द्वीपायन मुनि को भी भस्म करके आप भी भस्म हो गया। यह अशुभतैजस समुद्घात है।

शुभतैजस—जगत् को रोग, दुर्भिक्ष आदि से दु खी देखकर दया उत्पन्न होने से परम सयम निधान महा ऋषि के मूल शरीर को छोडकर पूर्वोक्त देह प्रमाण, सौम्य आकृति का धारक, पुरुष दायें कधे से निकलकर दक्षिण प्रदक्षिणा करके रोग, दुर्भिक्ष आदि को दूर कर फिर अपने स्थान मे आकर प्रवेश कर जावे वह 'शुभतैजस समुद्घात' है[3]।"

विशेष—इन आहारक ऋद्धि और तैजसऋद्धि की अपेक्षा भी दिगम्बर मुनियो मे भेद हो जाता है।

■

---

१ "तैजसमपि" तत्त्वार्थ सूत्र ४८, अ० २।

२ तद्द्विविध—नि सरणात्मकमितरच्च। —तत्त्वार्थवार्तिक पृ० १५३

३ वृहद्द्रव्यसग्रह, पृ० २५, २६।

७. सरागी और वीतरागी मुनि

जब कोई भी मनुष्य दीक्षा लेता है उस समय उसके परिणाम पहले गुणस्थान से या चौथे गुणस्थान से अथवा पाँचवें गुणस्थान से एकदम सातवें गुणस्थानरूप होते हैं। चूँकि छठा गुणस्थान गिरने से ही होता है, अत'—"जब श्रमण एक सामायिक सयम मे आरूढ होने के कारण जिसमे भेदरूप आचरण सेवन नही है, ऐसी अभेददशा से च्युत होता है तब 'केवल सुवर्ण मात्र के इच्छुक को कुडल, ककण, अगूठी आदि को ग्रहण करना भी श्रेय है किंतु ऐसा नही कि (कुडल आदि ग्रहण न करके) सर्वथा स्वर्ण की ही प्राप्ति श्रेय है।' ऐसे विचार करके वह मूलगुणो मे अपने को स्थापित करता हुआ अर्थात् मूलगुणो मे भेदरूप से आचरण करता हुआ छेदोपस्थापक होता है।"[1] "चूँकि ये अट्ठाईस मूलगुण निर्विकल्प सामायिक सयम के ही भेद है।"[2] अर्थात् सुवर्ण के इच्छुक को यदि सुवर्ण न मिले तो वह सुवर्ण से बनी हुई अगूठी आदि को ही लेता है, उसे छोडकर दोनो तरफ से रिक्त हस्त नही होता है वैसे मुनि अभेदरूप सामायिक सयम मे जब अधिक देर नही रह सकते है तब वे भेदरूप छेदोपस्थापना मे आ जाते हैं।

श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि—"छेद-व्रत का खडन होने पर पुनरपि उनको स्थापित करनेवाला छेदोपस्थापक कहलाता है।[3] निश्चय से मूल

---

१ वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाण ।
खिदिसयणमदतवण ठिदिभोयणमेग भत्त च ॥२०८॥
एदे खलु मूलगुणा समणाण जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥२०९॥ —प्रवचनसार

श्री अमृतचन्द्रसूरि की टीका मे तेषु यदा निर्विकल्पसामायिकसयमाधिरूढत्वेनानभ्यस्तविकल्पत्वात्प्रमाद्यति तदा केवलकल्याणमात्रार्थिन कुडलवलयागुलीयादिपरिग्रह किल श्रेयान्, न पुन सर्वथा कल्याणलाभ एवेति सप्रधार्य विकल्पेनात्मानमुपस्थापयन् छेदोपस्थापको भवति ।

—प्रव० टी० पृ० ५०४

२. एते निर्विकल्पसामायिकसयमविकल्पत्वात् श्रमणाना मूलगुणा एव ।

—प्रव० टी० पृ० ५०४

३ प्रवचनसार टीका पृ० ५०५ ।

अर्थात् आत्मा, उसके केवलज्ञानादि अनंतगुण हैं वे ही मूलगुण कहलाते हैं। वे मूलगुण निर्विकल्प समाधिरूप, परमसामायिक नाम वाले और मोक्ष के लिए बीजभूत ऐसे निश्चयरूप एक व्रत के द्वारा मोक्ष के प्राप्त हो जाने पर ही प्रगट होते हैं। अर्थात् एक निश्चय व्रत के द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होता है उसी समय ये (केवलज्ञानादि) मूलगुण प्रगट होते हैं। इसलिए वही सामायिकव्रत मूलगुणो को व्यक्त करने वाला होने से निश्चय मूलगुण कहलाता है। और जब यह जीव निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान मे स्थिर रहने को समर्थ नही होता है तब वह निश्चय मूलगुणरूप परमसमाधि के अभाव मे सविकल्प रूप छेदोपस्थापनाचारित्र को ग्रहण करता है।

छेद के होने पर उपस्थापना छेदोपस्थापना है। अथवा छेद—व्रत के भेद से उपस्थापना छेदोपस्थापना है। और वह सक्षेप मे पाच महाव्रत-रूप है। उन पाँच व्रतो की रक्षा करने के लिए पुन पाँच समिति इत्यादि के भेद से अट्ठाईस मूलगुणरूप भेद हो जाते है। इन मूलगुणो की रक्षा के लिए बाईस परीपहजय और बारह प्रकार के तपश्चरण के भेद से चौंतीस उत्तरगुण होते हैं और उनकी भी रक्षा के लिए देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतन के द्वारा किये गये चार प्रकार के उपसर्गो का जय और द्वादश अनुप्रेक्षाओ की भावना आदि की जाती है ?"[1]

"जिन उपकरणों से सयम का विनाश न होता होवे ऐसे उपकरण या अन्य वस्तु को काल और क्षेत्र के, अनुसार ग्रहण करने मे साधु को दोप नहीं है। अर्थात् यह पचमकाल है अथवा शीत उष्ण आदि काल है, भरतक्षेत्र अथवा मानुप-जागल आदि क्षेत्र है। उसके अनुरूप जिन उप-करणो से भावसयम और द्रव्यसयम मे बाधा नही आती है उनको स्वीकार करके प्रवृत्ति करना उचित है।' अर्थात् काल की अपेक्षा परमोपेक्षा सयम की शक्ति का अभाव होने से आहार करना, सयमोपकरण, शौचोपकरण

---

१. छेदे सत्युपस्थापन छेदोपस्थापन। अथवा छेदेन व्रतभेदेनोपस्थापन छेदो-पस्थापनम्। तच्च सक्षेपेण पचमहाव्रतरूप भवति। तेपा व्रताना च रक्षणार्थं पचसमित्यादिभेदेन पुनरष्टाविंशतिमूलगुणभेदा भवन्ति। तेपा च मूलगुणाना रक्षणार्थं द्वाविंशतिपरीपहजयद्वादशविधतपश्चरणभेदेन चतुस्त्रिंशदुत्तरगुणा भवति। तेपा च रक्षणार्थंदेवमनुष्यतिर्यगचेतनकृतचतुर्विधोपसर्गजयद्वादशानु-प्रेक्षाभावनादयश्चेत्यभिप्राय।

—प्रव० टी० पृ० ५०६

और ज्ञानोपकरण आदि कुछ भी ग्रहण करना ही उचित है।"[1]

श्रामण्य पर्याय का सहकारी कारण होने से जिसका निषेध नही किया जा सकता ऐसा अत्यन्त मिला हुआ होते हुए भी 'यह शरीर पर द्रव्य होने से परिग्रह है।' यह अनुग्रह योग्य नही है किन्तु उपेक्षा के ही योग्य है ऐसा समझने वाले मुनि शरीर से भिन्न अन्य परिग्रह को ग्रहण कैसे करेंगे ? यह उत्सर्ग मार्ग है और आहार, पिच्छी, कमडलु आदि ग्रहण करना अपवाद मार्ग है। मतलब यह है कि सर्वपरिग्रह का त्याग ही श्रेष्ठ-उत्सर्ग है। जो कुछ उपकरण रखना है वह उपचार है—अशक्यानुष्ठान है—अपवाद है।"

सो ही स्पष्ट कहते है—

"यथाजातरूप लिंग, गुरुवचन, विनय और सूत्र का अध्ययन, जिन-मार्ग मे ये उपकरण है।"[3]

युक्ताहार विहार करने वाले अर्थात् आगम के अनुकूल आहार-विहार मे प्रवृत्ति करने वाले साधु साक्षात् अनाहारी और अविहारी ही हैं।

उत्सर्ग और अपवाद का क्या अर्थ है ?

"शुद्धात्मा से अतिरिक्त अन्य बाह्य और अभ्यन्तर सभी परिग्रह का त्याग कर देना उत्सर्ग है। इसके निश्चयनय, सर्वपरित्याग, परमोपेक्षा-संयम, वीतराग चारित्र और शुद्धोपयोग ये सब पर्यायवाची नाम है।

इस उत्सर्ग सयम मे असमर्थ हुए मुनि शुद्धात्मभावना के लिए सह-कारीभूत प्रासुक आहार, ज्ञानोपकरण आदि कुछ भी ग्रहण करते है। यह अपवाद है। इसके व्यवहारनय, एकदेशपरित्याग, अपहृतसयम, सराग चारित्र और शुभोपयोग ये पर्यायवाची है।"[4]

और भी देखिये—वह चारित्र अपहृतसंयम–उपेक्षासयम भेद से,

---

१ छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स।
समणो तेणिह वट्टदु काल खेत्त वियाणित्ता ॥२२२॥

२. निश्चयेन देहादिसर्वसगपरित्याग एवोचितोऽन्यस्तूपचार एवेति।
—प्रव० टी० पृ० ५३१

३ उपयरण जिणमग्गे लिंग जहजादरूवमिदि भणिद।
गुरुवयण पि य विणओ सुत्तज्झयण च णिद्दिट्ठं ॥२२५॥
—प्रवचनसार

४. प्रव० गा० २३०, टीका।

सराग और वीतराग के भेद से अथवा शुभोपयोग और शुद्धोपयोग के भेद से दो प्रकार का है।

नियमसार मे भगवान् श्री कुदकुददेव ने चतुर्थ अधिकार मे व्यवहार चारित्ररूप तेरह प्रकार के चारित्र का व्याख्यान किया है। पश्चात् निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान, निश्चयआलोचना, शुद्धनिश्चय-प्रायश्चित्त, परमसमाधि, परमभक्ति इनका वर्णन करते हुए निश्चयपर-मावश्यक का विवेचन किया है। अर्थात् निश्चयप्रतिक्रमण आदि शुद्धोप-योगी मुनि के ही सभव हैं ऐसा स्पष्ट किया है चूंकि निर्विकल्प ध्याना-वस्था मे ही घटित होते हैं। देखिये—[2]'परमोपेक्षा सयम धारण करने वाले के निश्चयप्रतिक्रमण का स्वरूप होता है।'

"जो[3] साधु अगुप्ति भाव को छोडकर त्रिगुप्ति से गुप्त–रक्षित है, वे साधु ही प्रतिक्रमण है, क्योकि वे प्रतिक्रमणमय हो चुके है। अर्थात् वे त्रिगुप्ति से गुप्त निर्विकल्प परमसमाधि लक्षण से लक्षित अतिशय अपूर्व आत्मा का ध्यान करते है। इस हेतु से वे प्रतिक्रमणमय परमसयमी हैं और इसीलिए वे निश्चयप्रतिक्रमण स्वरूप है। ऐसे ही सर्वत्र समझना।

"व्यवहारनय[4] की अपेक्षा से समता, स्तुति, वदना, प्रत्याख्यानादि षट् आवश्यक क्रिया से हीन श्रमण चारित्रभ्रष्ट हैं। और शुद्ध निश्चय-नय की अपेक्षा परमअध्यात्मभाषा से उक्त निर्विकल्प समाधिस्वरूप परमावश्यक क्रिया से परिहीन श्रमण निश्चयचारित्रभ्रष्ट है।"

---

१ तच्च चारित्रमपहृतसयमोपेक्षासयमभेदेन सरागवीतरागभेदेन वा शुभोपयोग-शुद्धोपयोगभेदेन च द्विधा भवति।" —प्रव० टी० पृ० २६

२ "परमोपेक्षासयमधरस्य निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप च भवति।" —नियमसार टी० पृ० १६१

३ चत्ता अगुत्तिभाव तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू।
सो पडिकमण उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥ ८८॥
टीका— अगुप्तिभाव त्यक्त्वा त्रिगुप्तिगुप्तनिर्विकल्पपरमसमाधिलक्षणलक्षित अत्यपूर्वमात्मान ध्यायति, यस्मात् प्रतिक्रमणमय. परमसयमी अतएव स च निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपो भवतीति।" —नियमसार

४ अत्र व्यवहारनयेनापि समतास्तुतिवदनाप्रत्याख्यानादिषडावश्यकपरिहीण श्रमणश्चारित्रपरिभ्रष्ट इति यावत्, शुद्धनिश्चयेन परमाध्यात्मभाषयोक्त-निर्विकल्पसमाधिस्वरूपपरमावश्यकक्रियापरिहीणश्रमणो निश्चयचारित्रभ्रष्ट इत्यर्थ.। —नियमसार टीका पृ० २९९

पुन: आचार्य कहते हैं।

'यदि[1] करना शक्य है तो ध्यानमय प्रतिक्रमण आदि करना चाहिये, यदि तुम शक्तिविहीन हो तो तुम्हें तबतक श्रद्धान ही करना चाहिये।' अर्थात् यदि तुम इस दग्धकाल रूप अकाल (पंचमकाल) में शक्तिहीन उत्तमसंहनन से हीन हो तो तुम्हें केवल निजपरमात्मतत्त्व का श्रद्धान ही करना चाहिये।

क्योंकि पद्मप्रभमलधारी देव तो इस काल में शुद्धात्मा के ध्यान का अभाव ही बतला रहे हैं—

इस[2] असार संसार में जिसमें पाप की बहुलता हो रही है ऐसा कलिकाल का विलास होने पर निर्दोष जिनेन्द्रदेव के मार्ग में मुक्ति नहीं है। अत इस काल में अध्यात्म ध्यान कैसे हो सकता है? इसलिये निर्मलबुद्धि वालों ने संसार के भय का नाश करने वाले इस निजात्मा के श्रद्धान को स्वीकार किया है।

इस प्रकार वीतराग चर्या का किंचित् वर्णन किया गया है। यह "सराग[3] चारित्र के अनन्तर ही होता है" अर्थात् सरागचारित्र में कुशल महामुनि ही इसे प्राप्त कर पाते हैं।

परस्पर सापेक्ष ही उत्सर्ग और अपवाद श्रेयस्कर है।

"देशकाल का ज्ञाता साधु यदि आहार विहार आदि में होने वाले अल्पबन्ध के भय से उनमें प्रवृत्ति नहीं करता है और वीतरागता का ही हठ ग्रहण कर लेता है तब वह अतिकठोर आचरण द्वारा अक्रम से ही शरीर को समाप्त करके देवलोक में चला जाता है। इसलिये वह संयमरूपी अमृत को वमन करने वाला है अर्थात् वहां असंयमी हो जाता है, उसे वहां तप का अवकाश नहीं रहने से महान् बन्ध होता है। अत

---

१ जदि सक्कदि कादुं जे पडिक्कमणादि करेज्ज झाणमयं।
सत्तिविहीणो जा जइ सद्दहणं चेव कायव्वं ॥१५४॥

टीका — शक्तिहीनो यदि दग्धकालेऽकाले केवलं त्वया निजपरमात्मतत्त्वश्रद्धानमेव कर्तव्यमिति।

२ असारे संसारे कलिविलसिते पापबहुले।
न मुक्तिर्मार्गेऽस्मिन्ननघजिननाथस्य भवति ॥
अतोऽध्यात्मं ध्यानं कथमिह भवेन्निर्मलधियां।
निजात्मश्रद्धानं भवभयहरं स्वीकृतमिदम् ॥२६४॥ —नियमसार

३ "सरागचारित्रानन्तरं वीतरागचारित्रं जातमिति।"
—समयसार, टी० पृ० २४३

अपवाद (सराग) निरपेक्ष उत्सर्ग (वीतराग चारित्र) श्रेयस्कर नही है।[1]

इसी प्रकार से अपवाद मार्ग द्वारा अल्पलेप को न गिनकर उसमे यथेष्ट प्रवृत्ति करने से उत्सर्ग रूप ध्येय से चूककर अपवाद मे स्वच्छन्दतया प्रवृत्ति करता है तो भी असयतजन के समान तप को अवकाश न मिलने से महान् लेप होता है, अत उत्सर्ग निरपेक्ष अपवाद भी श्रेयस्कर नही है।

जयसेनाचार्य भी इसी को बडे सरल ढग से कहते है—

यदि कोई कथचित् औषधि, पथ्य आदि सावद्य के भय से व्याधि पीडा आदि का प्रतीकार न करके शुद्धात्मा की भावना नही करता है तो उसके महान् कर्मबन्ध होता है। अथवा कोई प्रतीकार—इलाज मे प्रवृत्ति करते हुए भी 'हरड के बहाने गुड खाने के समान' इन्द्रियसुख की लम्पटता से सयम की विराधना करता है तब भी उसके महान् कर्मबन्ध होता है। इसलिये विवेकी साधु उत्सर्ग निरपेक्ष अपवाद को छोड देता है और शुद्धात्मभावनारूप अथवा शुभोपयोगरूप सयम की विराधना न करके औषधि पथ्य आदि के निमित्त से उत्पन्न हुए अल्पसावद्य को भी बहुत गुणो के समूहरूप ऐसा जो उत्सर्ग से सापेक्ष अपवाद है उसको स्वीकार करता है।

अभिप्राय यह है कि सराग और वीतराग दोनो चारित्र तभी तक होते रहते है जब तक पूर्णतया कषाय का अभाव होकर पूर्णतया वीतरागता नही आती है। इसलिये इन दोनो को परस्पर सापेक्ष रूप से धारण करना श्रेयस्कर है।

सरागी मुनि की चर्या

"सकल परिग्रह के त्यागस्वरूप श्रामण्य के होने पर भी जो कषायाश के आवेश के निमित्त से केवल शुद्धात्मा मे ही स्थित होने मे असमर्थ है ऐसा श्रमण यदि अर्हंत भगवान् आदि मे भक्ति करता है और प्रवचन मे रत हुए जीवो के प्रति वात्सल्य करता है तो उसकी यह शुभयुक्तता ही शुभोपयोगी चारित्र है। यह शुभोपयोगी साधु श्रमणो के प्रति वन्दन-नमस्कार, पूर्वक खड़ा हो जाना और पीछे चलना, विनय करना तथा उनकी थकान दूर करना आदि करता है। यह सब राग-

---

१. देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेपभयेनाप्रवर्तमानातिकर्कशचरणीभूयाक्रमेण शरीर पातयित्वा सुरलोक प्राप्योद्वान्तसमस्तसयमामृतभारस्य तपसोऽनवकाशतया महान् लेपो भवति। तन्न श्रेयानपवादनिरपेक्ष उत्सर्ग।—प्रवचनसार गा० २३१, अमृत च० टी० पृ० ५५३।

चर्या मे निषिद्ध नही है। दर्शन ज्ञान का उपदेश देना, शिष्यों का ग्रहण करना और उनका पोषण करना अर्थात् उनके अशन, शयन आदि की चिन्ता रखना और जिनेन्द्रदेव की पूजा का उपदेश देना यह सरागी-मुनियो की चर्या है। जो श्रमण हमेशा चतुर्विध श्रमण सघ का जीवो की विराधना से रहित (प्रासुक वस्तुओ से) उपकार करता है वह मुनि भी राग की प्रधानता वाला है। अर्थात् सघ के उपकार की यह प्रवृत्ति शुभोपयोगी मुनियो मे ही होती है शुद्धोपयोगी मुनियो मे कदापि नही। यदि कोई साधु अन्य साधुओ की वैयावृत्य के निमित्त जीवघात (आरम्भ या अप्रासुक औपधि आदि देना) करता है तो वह साधु नही है किन्तु अगारी हो जाता है क्योकि आरम्भ आदि कार्य श्रावको का ही धर्म है।[1]"

यद्यपि वैयावृत्ति आदि मे अल्प लेप (अल्पसावद्य) होता है तो भी सागार-अनागार चर्यायुक्त जैनो का निरपेक्षता अनुकम्पा—बुद्धिपूर्वक उपकार करो। अर्थात् सागार और अनगारचर्या से युक्त जो श्रावक और तपोधन है, उनका दयाभाव अर्थात् धर्मवात्सल्य पूर्वक उपकार करना चाहिये। यदि उसमे अल्पसावद्य भी हो तो 'सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ' बहुत सी पुण्य की राशि मे किंचित् मात्र सावद्य दूषित नही है जैसे कि एक कणिका विष बहुत बडे समुद्र मे कुछ बिगाड़ नही कर सकता है।

---

१ अरहतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥२४६॥

टीका—सकलसगसन्यासात्मनि श्रामण्ये सत्यपि कपायलवावेशवशात् स्वय शुद्धात्मवृत्तिमात्रेणावस्थातुमशक्तस्य शुभोपयोगि चारित्र स्यात्।

वदणणमसणेहि अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रायचरियम्हि ॥२४७॥
दसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहण च पोषण तेसि।
चरिया हि सरागाणा जिणिंदपूजोवदेसो य ॥२४८॥

टीका— तेषामेव पोषणमशनशयनादिचिंता ।

उवकुणदि जो वि णिच्च चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स।
कायविराधणरहिद सो वि सरागप्पधाणो से ॥ २४९॥

टीका—"' सा सर्वापि रागप्रधानत्वात् शुभोपयोगिनामेव भवति न कदाचिदपि शुद्धोपयोगिनाम्।

जदि कुणदि कायखेद वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाण से ॥२५०॥

रोग से, क्षुधा से, तृषा से अथवा थकावट से पीडित साधु को देखकर साधु अपनी शक्ति के अनुसार उनकी वैयावृत्ति आदि करें। अर्थात् निजात्म-भावना के विघातक ऐसे रोगादि का प्रसग आ जाने पर साधु साधु की वैयावृत्ति करें। शेष काल मे अपना चारित्र पाले ऐसा अभिप्राय है।

रोगी या गुरु या बाल अथवा वृद्ध साधुओ की वैयावृत्ति के निमित्त शुभोपयोगी मुनि लौकिक जनो के साथ वार्तालाप कर सकता है इसका निषेध नहीं है। यह प्रशस्त भूतचर्या साधुओ की होती है और गृहस्थो के लिये तो मुख्यरूप ही है (क्योकि वे पूर्णतया विरत—महाव्रती न होने से शुद्धात्मतत्त्व को प्रगट नही कर सकते है।) इस चर्या से ही परम सौख्य प्राप्त होता है।"

इस प्रकार से जो अशुभोपयोग से रहित हैं तथा शुद्धोपयोग अथवा शुभोपयोग से युक्त हैं वे श्रमण भव्यजनो को ससार से पार कर देते हैं और उनके प्रति भक्ति करने वाला भक्त प्रशस्त—पुण्य को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् जो साधु मोह, द्वेष और अप्रशस्तराग से रहित हैं, सम्पूर्ण कषायो के उदय का अभाव होने मे कदाचित् शुद्धोपयोगी हैं। प्रशस्तराग के उदय मे कदाचित् शुभोपयोग मे लगे हुए हैं वे ही भव्यजनो को ससार से पार करने वाले है।

जयसेन स्वामी भी कहते हैं—निर्विकल्प समाधि के बल से शुभ और अशुभ इन दोनो उपयोग से रहित काल मे कदाचित् वीतरागचारित्र-लक्षण शुद्धोपयोग से युक्त हैं और कदाचित् पुन मोह, द्वेष तथा अशुभ-

१ जेण्हाण णिरवेक्ख सागारणगारचरियजुत्ताण।
अणुकपयोवयार कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ॥२५१॥

टीका—" सावद्यलेशो बहुपुण्यराशी"

पूज्य जिन त्वार्चयतो जनस्य, सावद्यलेशो बहुपुण्यराशी।
दोषाय नाल कणिका विषस्य, न दूषिका शीतशिवाम्बुराशी ॥
रोगेण वा क्षुधाए तण्हाए वा समेण वारूढ।
दिट्ठा समण साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए ॥२५२॥
वेज्जावच्चणिमित्त गिलाणगुरुवालवुड्ढसमणाण।
लोगिगजणसभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा ॥२५३॥
एसा पसत्थभूदा समणाण वा पुणो घरत्थाण।
चरिया परेत्ति भणिदा ता एव पर लहदि सोक्ख ॥२५४॥

टीका— गृहिणा तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्मप्रकाशनस्याभावात् ।

राग से रहित काल मे सराग चारित्ररूप शुभोपयोग से मुक्त है वे ही साधु भव्यो को पार करने वाले हैं। उनकी भक्ति करने वाले भव्य जीव प्रशस्तफलभूत स्वर्ग को प्राप्त करते है। पुनः परंपरा से मोक्ष को भी प्राप्त कर लेते है[1]।"

निष्कर्ष यह निकला कि साधु छठे और सातवें गुणस्थान मे बारंबार परिवर्तन किया करते है। चूँकि छठें से लेकर बारहवें गुणस्थान तक प्रत्येक का काल अन्तर्मुहूर्तमात्र ही है जो आगे-आगे छोटा होता गया है। ऐसी स्थिति मे वे छठें गुणस्थान मे अट्ठाईस मूलगुणो का पालन करते हुए सघ सचालन आदि व्यवस्था भी सँभालते है और कदाचित् सप्तम-गुणस्थान मे शुद्धोपयोगी भी हो जाते है। सप्तम गुणस्थान के दो भाग है—एक स्वस्थान अप्रमत्त और दूसरा सातिशय अप्रमत्त।

इसमे से पहले स्थान मे सविकल्प अर्थात् भेदचारित्र ही सुनने मे आता है। यथा—"परमभावदर्शी मुनियो को शुद्धनय उपदेश करने वाला शुद्धनय ही जानने योग्य है और जो अपरम भाव मे स्थित हैं उनके लिये व्यवहार नय का उपदेश है।

टीका मे श्रीजयसेनाचार्य कहते है—

यहा पर भूतार्थ—निश्चयनय निर्विकल्प समाधि मे रत हुए जीवों के लिये प्रयोजनीभूत है, केवल इतनी ही बात नही है किन्तु निर्विकल्प समाधि से रहित जो कोई प्राथमिक शिष्य है उनके लिये कदाचित् सविकल्प अवस्था मे मिथ्यात्व विषय और कषायरूप दुर्ध्यान को हटाने के लिये व्यवहारनय भी प्रयोजनवान् है ऐसा प्रतिपादन करते है। शुद्ध द्रव्य

---

१ असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुदा सुहोवजुत्ता वा।
णित्थारयति लोग तेसु पसत्थ लहदि भत्तो ॥२६०॥
टीका— मोहद्वेषाप्रशस्तरागोच्छेदादशुभोपयोगवियुक्ता सन्तः सकल-कषायोदयविच्छेदात् कदाचित् शुद्धोपयुक्ता प्रशस्तरागविपाकात्कदाचिच्छु-भोपयुक्ता स्वय मोक्षायतनत्वेन लोक निस्तारयति।
तात्पर्यवृत्ति— निर्विकल्पसमाधिबलेन शुभाशुभोपयोगद्वयरहितकाले कदा-चित् वीतरागचारित्रलक्षणशुद्धोपयोगयुक्ता कदाचित्पुनर्मोह द्वेषाशुभराग-रहितकाले सरागचारित्रलक्षणशुभोपयोगयुक्ता सतो भव्यलोक निस्तारयति तेषु च भव्यो भक्तो भव्यवरपुडरीक प्रशस्तफलभूत स्वर्ग लभते परपरया मोक्ष चेति।"

—प्रवचनसार गा० २६०

का कथन करने वाला शुद्धनय, शुद्धात्मभावदर्शी महामुनियो को अभेद-रत्नत्रयस्वरूप समाधि के समय प्रयोजनवान् है और व्यवहार, विकल्प, भेद और पर्याय ये एकार्थ नाम हैं, इस व्यवहार से अर्थात् भेदरूप से जिसमें कथन किया जाता है वह व्यवहारनय है। जो अपरम भाव मे स्थित हैं अर्थात् अशुद्ध भाव मे—असयतसम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से अथवा श्रावक की अपेक्षा से सरागसम्यग्दृष्टि लक्षण शुभोपयोग मे अथवा प्रमत्त तथा अप्रमत्त संयत की अपेक्षा से भेदरत्नत्रय लक्षण शुभोपयोग मे स्थित हैं उनके लिए वह व्यवहार नय प्रयोजनवान् है[1]।"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे आचार्य सातवें गुणस्थान मे भी भेदरत्नत्रय मानते हैं।

आगे समयसार मे ही श्रीजयसेनाचार्य ने छठे तक सरागचारित्र मानकर सातवें मे वीतरागचारित्र माना है जो कि अभेदरत्नत्रय की अपेक्षा से ही है। यथा—

छठे गुणस्थानरूप सरागचारित्र के साथ अविनाभावीसरागसम्यक्त्व की अन्यथानुपपत्ति है। अर्थात् छठे गुणस्थान मे सरागचारित्र है और जहाँ तक सरागचारित्र है वहीं तक सरागसम्यक्त्व है।

शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव परमात्मा को उपादेय मान लेने पर उसके योग्य स्वकीय शुद्धात्म समाधि से उत्पन्न सहजानद एक रूप स्वलक्षण सुखानुभूति मात्र स्वरूप ऐसे अप्रमत्त आदि गुणस्थानवर्ती जीवो के वीतरागचारित्र के साथ अविनाभावी वीतराग सम्यक्त्व की अन्यथानुपपत्ति है अर्थात् सातवें आदि गुणस्थानो मे उस-उस गुणस्थान के योग्य निर्विकल्पध्यान मे वीतरागचारित्र और वीतराग सम्यक्त्व होता है[2]।"

---

१ सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जेदु अपरमे ठिदा भावे ॥१२॥
टीका— **अपरमे** अशुद्धे असयतसम्यग्दृष्टय।क्षया श्रावकापेक्षया वा सरागसम्यक्त्वलक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्तसयतापेक्षया च भेदरत्नत्रये वा **ठिदा** स्थिता ।

२ षष्ठगुणस्थानरूपसरागचारित्राविनाभाविसरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति ·· शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मोपादेयत्वे सति तद्योग्यस्वकीयशुद्धात्मसमाधि-सजातसहजानदैकस्वलक्षणसुखानुभूतिमात्रस्वरूपऽप्रमत्तादिगुणस्थानवर्तिचारित्राविनाभूतवीतरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति ।

—समयसार, टी० पृ० २४५

निष्कर्ष यही निकलता है कि छठे तक शुभोपयोग अवस्था ही है उसे सरागचारित्र कहते है। उससे आगे सातवें से लेकर बारहवें तक शुद्धोपयोग अवस्था है। तेरहवें और चौदहवे गुणस्थान मे शुद्धोपयोग का फल है[1]।"

सरागचारित्र की विशेषता

जयधवला मे प्रश्न यह हुआ है कि "पुण्यकर्म के बांधने के इच्छुक देशव्रतियो को मगल करना युक्त है किन्तु कर्मक्षय के इच्छुक मुनियो को मगल करना युक्त नही है। आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि पुण्यवध के कारणो के प्रति उन दोनो मे कोई विशेषता नही है। अर्थात् पुण्यबध के कारणभूत कार्यो को जैसे देशव्रती करते हैं वैसे ही मुनि भी करते है। यदि ऐसा न माना जाय तो जिस प्रकार यहाँ आप मगल के परित्याग की बात कह रहे है वैसे ही उनके सरागसयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होगा, क्योकि देशव्रत के समान सरागसयम भी पुण्यबध का कारण है।

यदि आप कहे कि सरागसयम के परित्याग का प्रसग प्राप्त है सो हो जावे, सो भी बात नही है, क्योकि मुनियो के सरागसयम के त्याग का प्रसग प्राप्त होने से उनको मुक्तिगमन के अभाव का प्रसंग भी प्राप्त हो जावेगा।

यदि आप कहे कि सरागसयम गुणश्रेणी निर्जरा का कारण है, क्योकि उससे कर्मबध की अपेक्षा कर्मों की निर्जरा असंख्यातगुणी अधिक होती है। अत. सरागसयम मे मुनियो की प्रवृत्ति का होना योग्य है, सो ऐसा भी निश्चय नही करना चाहिये, क्योकि अरहत नमस्कार भी तत्कालीन बंध की अपेक्षा असख्यातगुणी निर्जरा का कारण है, इसलिये सरागसयम के समान उसमे भी मुनियो की प्रवृत्ति होती है[2]।"

निष्कर्ष यह निकला कि सरागसयम भी मुनियो के लिये उपादेय है और असख्यात गुणी निर्जरा का कारण है। और भी कहा है—

---

१ तदनतरमसयतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयतगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोग तदनतरमप्रमत्तादिक्षीणकषायातगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोग, तदनतर सयोग्ययोगीजिनगुणस्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति।

—प्रवचन० टी० पृ० २०

२. जयधवला प्र० पु० पृ० ७, ८।

"जब महाव्रती मुनियो के प्रति समय घटिकायन्त्र के जल के समान असख्यातगुणित श्रेणी रूप से कर्मो की निर्जरा होती रहती है तब उनके पाप कैसे सभव है[1] ?"

विशेष—वर्तमान मे छठे, सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि ही होते है। इससे ऊपर के नही अत इस समय साधुओ मे सरागचर्या ही प्रधान है। हाँ उनके लिए ध्येय वीतराग चारित्र है। इस तरह सरागता और वीतरागता की अपेक्षा भी भेद हो जाता है।

संयम की अपेक्षा साधु में भेद

"ईर्यासमिति आदि मे प्रवृत्ति करने वाले मुनि उनका प्रतिपालन करने के लिए जो एकेन्द्रिय आदि प्राणियो की पीडा का परिहार करते हैं वह प्राणिसयम है और इन्द्रियो के विषय शब्द आदिको मे राग का अभाव होना इन्द्रियसयम है[2]।" सयम के दो भेद है—उपेक्षासयम और अपहृतसंयम।

अपहृतसंयम

अपहृत सयम के तीन भेद है—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य।

"ज्ञान और चारित्र की क्रियाओ को अपने आधीन रखने वाला और उनके वाह्य साधन प्रासुक वसतिका तथा अन्न पुस्तक आदि मात्र को ही ग्रहण करने वाला जो सयमी उन प्रासुक वसतिका आदि मे दैवात् आ जाने वाले जीव जन्तुओ के वियोग या उपघात आदि का विचार न करके स्वयं अपने को ही उनसे अलग रखकर उनकी रक्षा करता है वही उत्तम प्राणिपरिहाररूप अपहृतसयमी कहा जाता है। ऐसे सयमी की साधुजन भी पूजा करते हैं[3]।"

"जो साधु स्वय अपने को ही उन जीवो से पृथक् न रखकर अपने शरीरादि के ऊपर आकर पडने वाले उन जीवो को शास्त्रकथित पाँच गुणो से कोमल पिच्छी आदि के द्वारा मार्जन करके उनकी रक्षा करता है वह मध्यमप्राणिपरिहाररूप अपहृत सयमी होता है। उसको भी सत्पुरुष

---

१. घडियाजल व कम्मे अणुसममसखगुणियसेढीए।
णिज्जरमाणे सते वि महव्वईण कुदो पाव ॥६०॥

—जय० ध०, प्र० पृ० ९८

२. तत्त्वार्थ वा० पृ० ५९६।

३, अनगार धर्मा० पृ० ४०८।

बडी प्रेम की दृष्टि से देखते है।"

"जो साधु उस तरह की पीछी न मिलने पर उसके समान किसी भी दूसरी कोमल वस्तु से उन जीवो को शोधन करता है वह जघन्य प्राणि-परिहाररूप अपहृत सयमी कहा जाता है। वह भी सत्पुरुषो के द्वारा आदरणीय है।[२]"

यही बात अन्यत्र भी है—"मृदु उपकरण से परिमार्जन करके जन्तुओ का परिहार करना मध्यम है और अन्य उपकरणो की इच्छा रखना जघन्य अपहृत सयम है[३]।"

"इस अपहृत सयम के प्रतिपादनार्थ आठ प्रकार की शुद्धि का उपदेश दिया गया है। अर्थात् इन शुद्धियो के निमित्त से ही सयम की वृद्धि होती है।

भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, प्रतिष्ठापन शुद्धि, शयनासनशुद्धि और वाक्यशुद्धि ये आठ शुद्धियाँ है[४]।"

भावशुद्धि—कर्म के क्षयोपशम से जन्य, मोक्षमार्ग की रुचि से जिसमे विशुद्धि प्राप्त हुई है और जो रागादि उपद्रवो से रहित है वह भावशुद्धि है। इसके होने से आचार उसी तरह चमक उठता है जैसे स्वच्छ दीवाल पर आलेखित चित्र।

कायशुद्धि—यह समस्त आवरण और आभरणो से रहित, शरीर संस्कार से शून्य, यथाजात मल को धारण करने वाली, अगविकार से रहित और सर्वत्र यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्तिरूप है। यह मूर्तिमान प्रशम सुख सदृश है। इसके होने पर न दूसरो को अपने से भय होता है और न अपने से दूसरो को अर्थात् उपर्युक्त नग्नमुद्रा ही कायशुद्धि है।

विनयशुद्धि—अर्हंत आदि गुरुओ मे यथायोग्य विनय रखना, गुरुओ के प्रति सर्वत्र अनुकूल[५] वृत्ति रखना यह सब विनयशुद्धि है।

---

१ पिच्छादीना प्रागुक्तपचगुणेन। —अन० पृ० ४०८

२ यथोक्तप्रतिलेखनाऽलाभे तत्तुल्येन। —अन० पृ० ४०८

३ "मृदुना प्रमृज्य जतून् परिहरतो मध्यम, उपकरणान्तरेक्षया जघन्य।
—तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ५९६

४ तस्य अपहृतसयमस्य प्रतिपादनार्थ शुद्ध्यष्टकोपदेशो द्रष्टव्य। तद्यथा, अष्टौ शुद्धय—भावशुद्धि कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, प्रतिष्ठापनशुद्धि, शयनासनशुद्धि वाक्यशुद्धिश्चेति। —तत्त्वार्थवा० पृ० ५९७

५. गुरौ सर्वत्रानुकूलवृत्तिः। —तत्त्वा० पृ० ५९७

ईर्यापथशुद्धि—सूर्यप्रकाश और इन्द्रिय प्रकाश मे अच्छी तरह देखकर गमन करना, इधर-उधर देखते हुए अर्थात् शीघ्रतापूर्वक गमन नही करना आदि ईर्यापथशुद्धि है।

भिक्षाशुद्धि—आचारसूत्र कथित आहार को ग्रहण करना, लोकगर्हित[1] कुलो का वर्जन करते हुए, प्रासुक आहार ढूँढना। दीन वृत्ति से रहित, दीन अनाथ, दानशाला, विवाह, यज्ञ आदि के भोजन का परिहार करना, तथा निर्दोष आहार ग्रहण करना भिक्षाशुद्धि है।

प्रतिष्ठापनशुद्धि—मल, मूत्र, नख, रोम, नाकमल, थूक आदि शरीरमल को निर्जन्तुक जगह का विलोकन करके क्षेपण करना प्रतिष्ठापनशुद्धि है।

शयनासनशुद्धि—स्त्री, क्षुद्र, चोर, जुआरी आदि जनो से वर्जित और श्रृंगार, विकार, सगीत, वाद्य, नृत्य आदि से रहित स्थान मे रहना। प्राकृतिक गिरि गुफा, वृक्ष की खोह, तथा शून्य मकानो मे स्वय छोडे गये या छुडाये गये मकानो मे रहना जो कि अपने उद्देश्य से नही बने हुए है और अपने लिए कोई आरम्भ नही किया गया हो, ऐसे वसतिका आदि मे सोना बैठना शयनासनशुद्धि है[2]।

वाक्यशुद्धि—पृथ्वीकायिक आदि सम्बन्धी आरम्भ की प्रेरणा से वर्जित, परुष, निष्ठुर और परपीडाकारी प्रयोगो से रहित तथा व्रतशील आदि का उपदेश देने वाले, सर्वत योग्य हितमित मधुर और मनोहर वचन प्रयोग करना ही वाक्यशुद्धि है।

वर्तमान काल मे अपहृत सयम के पालन करने वाले ही साधु होते हैं वे सयम की वृद्धि के लिए यथायोग्य इन शुद्धियो का पालन करते है।

उपेक्षा सयम

देशकाल के विधान को जानने वाला और आत्मा तथा शरीर के भेदविज्ञान से युक्त उपेक्षा सयम का धारक यति मानसिक वाचिक और कायिक तीनो ही प्रकार के व्यापारो का अच्छी तरह निरोध करके तथा शरीर से सर्वथा ममत्व का त्याग करके उपद्रव करने वाले अथवा हिंस्र आदिक क्रूर जन्तुओ के द्वारा उपसर्ग किये जाने पर भी उनको किसी तरह का क्लेश न देते हुए समता परिणामो को ही धारण करता है। किसी भी पदार्थ को वह इष्ट या अनिष्ट समझकर उसमे रागद्वेष नही

---

१ लोकगर्हितकुलवर्जनपरा। —तत्त्वा० पृ० ५९७

२, कृत्रिमाश्च शून्यागारादयो मुक्तमोचितावासा । —तत्त्वा० पृ० ५९७

करता, क्योकि वह सोचता है जो ये व्याघ्र आदि मेरे शरीर का भक्षण कर रहे हैं सो ये समझते है कि मै इस जीव को खा रहा हूँ किन्तु ये तो मेरे शरीर का ही भक्षण कर रहे है आत्मा तो अमूर्तिक और ज्ञानस्वरूप है। तथा इस उपसर्ग मे इनका कोई भी अपराध नही है क्योकि ये मेरे ही पूर्व सचित उपघात आदि कर्मोदय के निमित्त से ही फल मे कारण बन रहे है। किन्तु शुद्ध द्रव्य दृष्टि से यदि देखा जाय तो इनमे और मुझमे कोई अन्तर नही है। अथवा ये मेरे उपकारी मित्र ही हैं क्योकि इनके निमित्त से असातावेदनीय उदीर्ण होकर जल्दी फल देकर झड़ जायेगी। इत्यादि रूप से उपसर्गकर्ताजनो पर क्रोध न करके पूर्ण क्षमा धारण करते हुए वे मुनिराज शरीर से भिन्न अपनी आत्मा के स्वरूप का चिन्तवन करते हैं। यह आत्मा टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव है उसका चिन्तवन करते हुए उसमे तन्मय हो जाते हैं तब उन्हे बाह्य दु खो का आभास भी नही हो पाता है। इस प्रकार से उपेक्षा सयम के द्वारा ये मुनि केवलज्ञान आदि अनतचतुष्टय लक्ष्मी को प्राप्त कर लेते है।

विशेष—इस प्रकार से अपहृत सयम और उपेक्षा सयम धारक मुनियो की अपेक्षा भी भेद देखा जाता है। वर्तमान मे अपहृत सयमधारक ही मुनि हो सकते है।

पॉच प्रकार का चारित्र

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसापराय और यथाख्यात यह पाच प्रकार का चारित्र है। इसे सयम भी कहते है।

सामायिक चारित्र—अभेद रूप से सम्पूर्ण सावद्ययोग का त्याग करके जो होता है अथवा अवधृत-नियत काल होता है वह सामायिक चारित्र है। इसमे पांच महाव्रत आदि रूप से भेद की विवक्षा नही रहती है। सम्पूर्ण सावद्य-सदोष-हिंसादि प्रवृत्ति का त्याग हो जाता है। "प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के सिवाय बाईस तीर्थङ्करो ने इसी का ही उपदेश दिया था।[1]"

छेदोपस्थापना—त्रस और स्थावर जीवो की उत्पत्ति और हिंसा के स्थान छद्मस्थ के अप्रत्यक्ष है अत निरवद्य क्रियाओ मे प्रमादवश दोष लगने पर उसका सम्यक् प्रतीकार करना छेदोपस्थापना है। 'अथवा सावद्य कर्म हिसादि के भेद से पाँच प्रकार के है, इत्यादि विकल्पो का होना

---

१. इसका स्पष्टीकरण आवश्यक क्रिया मे हो चुका है।

छेदोपस्थापना है[1]।" यथा—

'सर्वसावद्य त्याग लक्षण वाले सामायिक की अपेक्षा से व्रत एक है, और वही छेदोपस्थापना की अपेक्षा से पाँच प्रकार का होता है[2]।"

अन्यत्र भी कहा है—

"व्रत, समिति और गुप्तिरूप तेरह प्रकार के चारित्र मे भेद वा दोप लगने पर उन दोषो को छेद करना—नाश करना और फिर अपनी आत्मा मे स्थापन करना, अपने आत्मस्वरूप चारित्र को अपने आत्मा मे ही स्थिर रखना सो छेदोपस्थापना चारित्र है[3]।"

तात्पर्य यह है कि यह चारित्र छठे गुणस्थान से नवमे गुणस्थान तक पाया जाता है और आठवें से श्रेणी मे ध्यानमग्न अवस्था होने से वहाँ पर यह छेद–दोषो के प्रायश्चित्त रूप नही है किन्तु अपनी आत्मा को अन्तर्जल्पो से भी छुडाकर अपने मे स्थापित करने रूप है।

परिहारविशुद्धिचारित्र—"जिसमे प्राणिवध के साथ-साथ विशिष्ट शुद्धि हो वह परिहारविशुद्धिचारित्र है[4]।" जो तीस वर्ष की आयु वाला, वर्ष पृथक्त्व (३ से ९ तक) पर्यंत तक तीर्थंकर के पादमूल की सेवा करनेवाला, प्रत्याख्यान पूर्व का पारगत ही इस चारित्र को प्राप्त कर सकता है। अर्थात् "जन्म से लेकर तीस वर्ष तक सदा सुखी रहकर अनन्तर दीक्षा ग्रहण करके श्री तीर्थंकर भगवान् के पादमूल मे आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक नवमे पूर्व का अध्ययन करने वाले के यह सयम होता है। इस सयम वाला जीव तीन सध्याकालो को छोडकर प्रतिदिन दो कोश पर्यंत गमन करता है, रात्रि को गमन नही करता। और इसके वर्षाकाल मे गमन करने का या न करने का कोई नियम नही है[5]।"

---

१ अथवा सावद्य कर्म हिंसादिभेदेन विकल्पनिवृ (वृं) त्ति छेदोपस्थापना।
—तत्त्वार्थवा० पृ० ६१७

२ "सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एक व्रत, तदेव छेदोपस्थापनापेक्षया पचविधमिहोच्यते।" —सर्वार्थसिद्धि अ० ७, पृ० २५८

३ "व्रतसमितिगुप्तिगै पचपचत्रिभिर्मतै।
छेदैर्भेदैरुपात्यर्थं स्थापन स्वस्थितिक्रिया ॥६॥
छेदोपस्थापन प्रोक्त —आचारसार पृ० १०३

४ परिहारेण विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिस्तत्परिहारविशुद्धिचारित्रम् ॥ —६१७

५ तीस वासो जम्मे, वासपुधत्त खु तित्थयरमूले।
पच्चक्खाण पढिदो, सझूणदुगाउयविहारो ॥४७३॥—गोम्मटसार जीवकाड

सूक्ष्मसापरायचारित्र—दशवें गुणस्थान मे उपशमश्रेणी अथवा क्षपकश्रेणी चढने वाले जीव सूक्ष्म लोभ का वेदन करते है। वह सूक्ष्मसापरायचारित्र है।

यथाख्यातचारित्र—चारित्रमोहनीय के सर्वथा उपशम हो जाने से ग्यारहवें गुणस्थान मे अथवा क्षय हो जाने से बारहवें मे तथा तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान मे यथाख्यातचारित्र होता है।

इनमे से सामायिक और छेदोपस्थापनाचारित्र छठे गुणस्थान से नवमे तक पाये जाते है। परिहारविशुद्धि छठे और सातवें मे तथा सूक्ष्मसापराय दसवें मे और यथाख्यात चारित्र ग्यारहवें से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक होता है।

विशेष—वर्तमान मे सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्र के धारक ही मुनि हो सकते है। इनकी अपेक्षा भी मुनियो मे भेद हो जाता है।



८. पुलाक आदि मुनि

मुनियो के पाँच भेद—पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक।

"पुलाक—जिनका चित्त उत्तरगुणो की भावना से रहित है, और व्रतो मे भी क्वचित् कदाचित् परिपूर्णता को प्राप्त नही कर पाते है अर्थात् पाँच महाव्रतो मे भी दोष लग जाते है। विना शुद्ध हुए (किंचित् लालिमा सहित) धान्य सदृश होने से वे पुलाक कहलाते है।[1]"

इनके सामायिक और छेदोपस्थापना ये दो सयम पाये जाते है। श्रुतज्ञान की अपेक्षा उत्कृष्ट रूप मे ये अभिन्नदशपूर्वी हो सकते हैं और जघन्य से आचार वस्तु मात्र है।

"ये दूसरो की जवरदस्ती से पाँच महाव्रत और रात्रिभोजनत्याग ऐसे छठे अणुव्रत इनमे से किसी एक की विराधना कर लेते है, इसीलिए पुलाक कहलाते है।[2]" इस प्रसग मे तत्त्वार्थवृत्ति मे प्रश्न किया है कि—

"प्रश्न—रात्रिभोजनत्याग का विराधक कैसे हो जाता है?

उत्तर—'श्रावक आदिको का इससे उपकार होगा' ऐसा सोचकर अपने छात्र आदि को रात्रि मे भोजन करा देते है, इसलिए विराधक हो जाते है[3]।"

वकुश—'जो निर्ग्रन्थ अवस्था को प्राप्त है, मूलगुणो को अखडित-निरतिचार पालते हैं, शरीर और उपकरण की शोभा के अनुवर्ती हैं, ऋद्धि

---

१ उत्तरगुणभावनापेतमनसो व्रतेष्वपि क्वचित् कदाचित् परिपूर्णतामपरिप्राप्नुवन्त अविशुद्धपुलाकसादृश्यात् पुलाकव्यपदेशमर्हति।

—तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ६३६

२ "पचाना मूलगुणाना रात्रिभोजनस्य च पराभियोगात् बलादन्यतम प्रतिसेवमान पुलाको भवति।"

—तत्त्वार्थ वा० पृ० ६३८, तथा सर्वार्थसिद्धि पृ० ४६१

और तत्त्वार्थवृत्ति पृ० ३१६

३ "रात्रिभोजनवर्जनस्य विराधक कथमिति चेत्? उच्यते—श्रावकादीनामुपकारोऽनेन भविष्यतीति छात्रादिक रात्रौ भोजयतीति विराधक स्यात्।"

—तत्त्वार्थवृत्ति पृ० ३१६

और यश की कामना रखते है, सात और गौरव के आश्रित हैं, 'परिवार-शिष्यो से घिरे हुए है और छेद से जिनका चित्त शबल-चित्रित है, वे मुनि वकुश कहलाते है। **श्री पूज्यपाद स्वामी** ने "इन्हे विविध प्रकार के मोह से युक्त कहा है।"[२] तत्त्वार्थवृत्ति मे—'अविविक्तपरिवारा' पद का अर्थ असयत शिष्यादि किया है। अर्थात् "जो निर्ग्रन्थ पद मे स्थित हैं, व्रतो मे दोष नही लगाते हैं, किन्तु शरीर, उपकरण—पिच्छी, कमडलु, पुस्तक आदि की शोभा चाहते है, ऋद्धि, यश, सुख और वैभव की आकाक्षा रखते है, असयत परिवार—शिष्यो से सहित हैं, अनुमोदना आदि विविध भावो से शबलचित्त है वे वकुश कहलाते है।[३]"

इनके सामायिक और छेदोपस्थापना ये दो सयम होते हैं। उत्कृष्ट से इनका ज्ञान अभिन्नदश पूर्व तक हो सकता है और जघन्य से अष्टप्रवचन-मातृका'(पाँच समिति, तीन गुप्ति) मात्र का ज्ञान रह सकता है।

"वकुश मुनि के दो भेद है—उपकरण वकुश और शरीर वकुश। उपकरणो में जिनका चित्त आसक्त है जो नाना प्रकार के विचित्र परि-ग्रहो से युक्त है, बहुत विशेषता से युक्त उपकरणो के आकाक्षी है, उनके सस्कार और प्रतीकार को करने वाले है ऐसे साधु उपकरण वकुश कह-लाते है। तथा शरीर के सस्कार को करने वाले शरीर वकुश है।"[४]

---

१ "नैर्ग्रन्थ्य प्रस्थिता अखडितव्रता शरीरोपकरणविभूषानुवर्तिन ऋद्धियश-स्कामा सातगौरवाश्रिता अविविक्तपरिवारा छेदशबलयुक्ता वकुशा। शबलपर्यायवाची वकुशशब्द।

—तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ६३६

२ 'मोहशबलयुक्ता'

—सर्वार्थसिद्धि पृ० ४६०

३ निर्ग्रन्थत्वे स्थिता अविध्वस्तव्रता शरीरोपकरणर्द्धिभूषणयश सुखविभूत्या-काक्षिण अविविक्तपरिच्छदानुमोदनशबलयुक्ता ये ते वकुशा उच्यन्ते। अवि-विक्तशब्देन असयत परिच्छदशब्देन परिवार अनुमोदनमनुमति शबल-शब्देन वुर्रत्व तद्युक्ता वकुशा इत्यर्थ।

—तत्त्वार्थ वृत्ति पृ० ३१५

४ वकुशो द्विविध —उपकरणवकुश शरीरवकुशश्चेति। तत्र उपकरणाभिष्वक्त-चित्तो विविधविचित्रपरिग्रहयुक्त बहुविशेषयुक्तोपकरणकाक्षी, तत्सस्कार-प्रतीकारसेवी भिक्षुरूपकरणवकुशो भवति। शरीरसस्कारसेवीशरीरवकुश।

—तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ६३८

कुशील—कुशील मुनि के दो भेद है। कैसे ? प्रतिसेवना और कषाय के उदय के भेद से। अर्थात् प्रतिसेवना कुशील और कषाय कुशील ये दो भेद हैं।

जो परिग्रह से अविविक्त—मुक्त नही हुए है, मूलगुण और उत्तरगुणो मे परिपूर्ण हैं किन्तु जिनके कथचित्—किसी अपेक्षा से उत्तरगुणो की विराधना भी हो जाती है वे प्रतिसेवना कुशील है।

जो ग्रीष्मऋतु मे जंघाप्रक्षालन आदि कर लने से अन्य कषायोदय के वशीभूत हैं सज्वलनमात्र कषाय के आधीन है वे कषाय कुशील मुनि हैं[1]।"

प्रतिसेवना कुशील के सामायिक और छेदोपस्थापना ये दो ही सयम होते हैं। किन्तु कषाय कुशील के सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसापराय ये चार सयम होते ह।

प्रतिसेवना कुशील मुनियो का भी उत्कृष्ट ज्ञान अभिन्नदशपूर्वतक है और जघन्य ज्ञान आठ प्रवचनमाता का ही है।

ये मूलगुणो मे विराधना न करते हुए उत्तरगुणो मे किंचित् विराधना कर सकते है।

कषाय कुशील मुनियो का उत्कृष्ट ज्ञान चौदहपूर्व है और जघन्य आठ प्रवचनमातृका ही है। इनके द्वारा मूलोत्तर गुणो मे विराधना सम्भव नही है।

निर्ग्रन्थ

"जैसे जल मे डडे की लकीर तत्क्षण मिट जाती है वैसे ही जिनके कर्मो का उदय व्यक्त नही है, मुहूर्त के अनन्तर ही जिनको केवलज्ञान[2] और केवलदर्शन प्रगट होने वाले है वे निर्ग्रन्थ साधु है।"

इनके यथाख्यात सयम ही होता है। उत्कृष्ट से इनका श्रुतज्ञान चौदहपूर्व है और जघन्य से वही अष्ट प्रवचनमातृका पर्यन्त है। इनके मूलोत्तर गुणो मे विराधना असम्भव है, चूँकि शुक्ल ध्यान मे स्थित है।

---

१ कुशीला द्विविधा भवन्ति। कुत ? प्रतिसेवनाकषायोदयभेदात्। अविविक्तपरिग्रहा परिपूर्णोभया कथचिदुत्तरगुणविराधिन प्रतिसेवनाकुशीला। ग्रीष्मे जघाप्रक्षालनादिसेवनाद्वशीकृतान्यकषायोदया सज्वलनमात्रतन्त्रत्वात् कषायकुशीला। —तत्त्वार्थवा० पृ० ६३६

२ उदये दण्डराजिर्यथा आश्वेव विलयमुपयाति तथाऽनभिव्यक्तोदयकर्माण ऊर्ध्वं मुहूर्तादुद्भिद्यमानकेवलज्ञानदर्शनभाजो निर्ग्रंथा। —तत्त्वा० वा० पृ० ६३६

स्नातक—ज्ञानावरण आदि घातिकर्मों के क्षय से जिनके केवलज्ञानादि अतिशय विभूतियाँ प्रगट हो चुकी है, जो सयोगी सम्पूर्ण-अठारह हजार शीलो के स्वामी है, कृतकृत्य हो चुके हैं ऐसे केवली भगवान् स्नातक कहलाते है।

इनके भी एक यथाख्यात संयम ही है। इनके श्रुतज्ञान का सवाल ही नही है क्योकि पूर्ण—केवलज्ञान प्रगट हो चुका है।

ये पांचो प्रकार के मुनि प्रत्येक तीर्थंकरो के समय होते है। "ये पांचो प्रकार के भी भावलिंगी है"[1]।

इनमे से पुलाक मुनियो के तीन शुभलेश्यायें ही होती है। किन्तु "वकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनियो के छहो लेश्यायें भी हो सकती है[2]।" सर्वार्थसिद्धि की टिप्पणी मे इस बात को स्पष्ट किया है कि—"कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्यायें भी इन दोनो मुनियो के कैसे सम्भव है? ऐसा प्रश्न होने पर कहते है—इन दोनो प्रकार के मुनियो मे उपकरण की आसक्ति सम्भव होने से कदाचित् आर्तध्यान सम्भव है और आर्तध्यान से ये अशुभलेश्यायें सम्भव है[3]।"

तत्त्वार्थवृत्ति मे भी इसी बात को स्पष्ट किया है—

"शंका—कृष्ण, नील और कापोत ये तीन लेश्यायें वकुश और प्रतिसेवना कुशील मे कैसे सम्भव है?[4]

समाधान—आपका कहना सत्य है, किन्तु इन दोनो प्रकार के मुनियो के उपकरणो मे आसक्ति से उत्पन्न होने वाला आर्तध्यान कदाचित्—किसी काल मे सम्भव है। और आर्तध्यान सम्भव होने से कृष्ण आदि

---

१ भावलिंग प्रतीत्य सर्वे पच निर्ग्रंथलिंगिनो भवन्ति।

२ "वकुशप्रतिसेवनाकुशीलयो षडपि"। —तत्त्वार्थ वा० पृ० ६३८, सर्वार्थ० पृ० ४६२

३ षडपि। कृष्णलेश्यादित्रितय तयो कथमिति चेदुच्यते—तयोरुपकरणासक्तिसभवादार्तध्यान कदाचित्सभवति आर्तध्यानेन च कृष्णादिलेश्यात्रितय सभवतीति। —कषाय—मु०।

४ ननु कृष्णनीलकापोतलेश्यात्रय वकुशप्रतिसेवनाकुशीलयो कथ भवति? सत्य, तयोरुपकरणासक्तिसभवमार्त्तध्यान कादाचित्क सभवति, तत्सभवादादिलेश्यात्रय सभवत्येवेति। मतातरम्—परिग्रहसस्काराकाक्षाया स्वयमेवोत्तरगुणविराधनायामार्त्तसभवादार्ताविनाभावि च लेश्याषट्क। पुलाकस्यार्तकारणाभावान्न षट् लेश्या। किंतूत्तरास्तिस्र एव।

—तत्त्वार्थवृत्ति पृ० ३१६

तीनो लेश्यायें सम्भव ही है। दूसरे मत की अपेक्षा परिग्रह[1] के सस्कार की आकाक्षा होने से और स्वय ही उत्तरगुणो की विराधना हो जाने से आर्त-परिणामो मे पीडा-क्लेश सम्भव है और उस आर्त से अविनाभावो छहो लेश्यायें भी सम्भव है।

पुलाक मुनियो के आर्त के कारणो का अभाव होने से छह लेश्यायें नही है। किन्तु तीन शुभ ही है, अर्थात् अशुभ लेश्याये नही है।"

"कषाय कुशील मुनियो मे और परिहार विशुद्धि सयमी के कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये चार लेश्यायें है[2]।"

"इनमे भी कापोत इस अशुभ लेश्या के होने का मतलब पूर्वोक्त ही है, क्योकि इनमे सज्वलन मात्र अन्तरग कषाय का सद्भाव होने से और परिग्रह की आसक्ति मात्र का सद्भाव होने से यह लेश्या मानी है[3]।"

सूक्ष्मसापराय, निर्ग्रन्थ और स्नातक के केवल एक शुक्ल लेश्या ही है।

पुलाक मुनि उत्कृष्ट रूप से यदि स्वर्ग मे जाते है तो बारहवें मे उत्कृष्ट स्थितिवाले देवो मे जन्म ले सकते है। वकुश और प्रतिसेवना-कुशील बावोससागर की उत्कृष्ट स्थिति लेकर आरण और अच्युतकल्प जा सकते है। कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ (ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती) तेंतीससागर की आयु लेकर सर्वार्थसिद्धि मे जन्म ले सकते है। स्नातक केवली तो मोक्ष ही जाते है। स्नातक से अतिरिक्त सभी प्रकार के मुनि जघन्य—कम-से-कम सौधर्म स्वर्ग मे दो सागर की आयु वाले ऐसे देव अवश्य होते है।

इन पाच प्रकार के मुनियो के स्वरूप को अच्छी तरह से समझकर यह निर्णय करना चाहिये कि चतुर्थकाल मे भी मूलगुणो मे दोष लगाने वाले साधु हो सकते थे और आज भी पुलाक आदि मुनि विद्यमान है।

---

१ यहाँ परिग्रह शब्द से शिष्य परिकर पिच्छी, कमडलु, पुस्तक आदि ही समझना। न कि धन धान्यादि।

२ कपायकुशीलस्य परि ारविशुद्धेश्चतस्र (श्च चतस्र) उत्तरा। 'कपायकुशीलस्य चतस्र उत्तरा" —सर्वार्थसिद्धि पृ० ४६२, तत्त्वार्थ वा० पृ० ६३८

३ "कपायकुशीलस्य या कापोतलेश्या दीयने सापि पूर्वोक्तन्यायेन वेदितव्या तस्या सज्वलनमात्रातरगकपायासद्भावात्। परिग्रहासक्तिमात्रसद्भावात्। —तत्त्वार्थवृत्ति पृ० ३१६

जघा प्रक्षालन या उपकरण की सुदरता मे आसक्त हुए साधु को चारित्र-हीन द्रव्यलिगी कह देना उचित नही है।

श्री अकलकदेव इसी बात को और भी स्पष्ट कहते है—

"सम्यग्दर्शन और भूषा, वेश तथा आयुध से विरहित निर्ग्रंथरूप, यह सामान्यतया पुलाक आदि सभी मे पाया जाता है, यही कारण है कि सभी को निर्ग्रंथ शब्द से कहना युक्त है। अर्थात् ये पाँचो ही निर्ग्रंथ कहे जाते है चूँकि इनमे सम्यक्त्व और वस्त्राडबर रहित निर्ग्रंथ रूप विद्यमान है।

प्रश्न—यदि भग्नव्रत-खडितव्रत मे भी निर्ग्रंथ शब्द का प्रयोग होता है तो श्रावक मे भी करना चाहिए ?

उत्तर—नही, ऐसा दोष नही आ सकता है।

प्रश्न—क्यो ?

उत्तर—क्योकि उनमे—श्रावको मे निर्ग्रंथ रूप का अभाव है। हम लोगो को यहाँ पर निर्ग्रंथरूप प्रमाण है, और वह श्रावक मे है नही, इसलिए अतिप्रसग नही आ सकता है।

प्रश्न—यदि निर्ग्रंथ रूप ही आपको प्रमाण है तो अन्य भी किसी सरूप—सदृश अर्थात् नगे मे निर्ग्रंथ सज्ञा हो जावेगी ?

उत्तर—ऐसा नही है।

प्रश्न—क्या कारण है ?

उत्तर—क्योकि हर किसी नगे मे सम्यक्त्व का अभाव है। सम्यग्दर्शन के साथ जहा पर रूप है वही पर निर्ग्रंथ यह नाम आता है किंतु रूपमात्र—नगे मात्र मे नही।

प्रश्न—तो फिर यह पुलाक आदि नाम क्यो रखे है ?

उत्तर—चारित्र गुण की उत्तरोत्तर प्रकर्ष मे वृत्ति—रहना विशेष बतलाने के लिए ही ये पुलाक आदि भेदो का उपदेश किया गया है।[1]"

---

१ सम्यग्दर्शन निर्ग्रंथरूप च भूषावेशायुधविरहित तत्सामान्ययोगात् सर्वेषु हि पुलाकादिषु निर्ग्रंथशब्दो युक्त । यदि भग्नव्रतेऽपि निर्ग्रंथशब्दो वर्तते श्रावकेऽपि स्यादिति अतिप्रसग , नैष दोष , कुत ? रूपाभावात्, निर्ग्रंथरूपाभावात् निर्ग्रंथरूपमत्र न प्रमाणम् । न च श्रावके तदस्तीति नातिप्रसग । यदि रूप प्रमाणमन्यस्मिन्नपि सरूपे निर्ग्रन्थव्यपदेश प्राप्नोतीति; तन्न, किं कारणम् ? दृष्ट्यभावात् । दृष्ट्या सह यत्र रूप तत्र निर्ग्रन्थव्यपदेश न रूपमात्रे इति । अथ-किमर्थं पुलाकादिव्यपदेश । चारित्रगुणस्योत्तरोत्तरप्रकर्षे वृत्तिविशेषख्यापनार्थं पुलाकाद्युपदेश क्रियते ।—तत्त्वार्थवा० पृ० ६३७

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये पुलाक आदि मुनि सदोषी शिथिलाचारी नही है किन्तु भावलिगी होने से पूज्य ही है । चूँकि ये यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले है ।

प्रश्न होता है कि—

"साधु को किस प्रकार ये प्रवृत्ति करना चाहिये ? कैसे खडे होना चाहिए ? कैसे बैठना चाहिए ? कैसे सोना चाहिए ? कैसे भोजन करना चाहिए और कैसे बोलना चाहिए ? कि जिससे पाप का बध नही होवे ।"

उत्तर मे—"यत्न से–ईर्यापथ शुद्धिपूर्वक गमन करना चाहिए । यत्न से खड़े होना चाहिए। यत्न से–सावधानीपूर्वक–जीवो को बाधा न देते हुए उन्हे पिच्छिका से हटाकर पद्मासन आदि से बैठाना चाहिए । यत्न से—सोते समय भी सस्तर का सशोधन करके अर्थात् चटाई फलक आदि को उलट-पुलट कर देखकर रात्रि मे गात्र सकुचित करके सोना चाहिए । यत्न से—छयालीस दोष वर्जित आहार ग्रहण करना चाहिए । यत्न से—भाषा समिति से बोलना चाहिए । इस प्रकार की प्रवृत्ति से पापबध नही होता है ।[1]"

क्योकि जो साधु यत्नाचार से प्रवृत्ति करता है, दयाभाव से सतत प्राणियो का अवलोकन करता है । उसके नवीन कर्मों का बध नही होता है और पुराना कर्म भी नष्ट हो जाता है । "जो मुनि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और सहनन की अपेक्षा करके चारित्र मे प्रवृत्त होता है वह क्रम से बध—हिंसा से रहित हो जाता है ।[2]"

विशेष—ये पुलाक आदि मुनि सभी दिगबर है । इनकी अपेक्षा भी मुनियो मे भेद होता है ।



---

१ कध चरे कध चिट्ठे कधमासे कधसये ।
कध भुजेज्ज भासेज्ज कध पाव ण बज्झदि ॥१५०॥
जद चरे जद चिट्ठे जदमासे जद सये ।
जद भुजेज्ज भासेज्ज जदो पाव ण वज्झइ ॥१५१॥
जद तु चरमाणस्स दयापेक्खिस्स भिक्खुणो ।
णव ण बज्झदे कम्म पोराण च विधूयदि ॥१५२॥

२ दव्व खेत्त काल भाव च पडुच्च तह य सघडण ।
चरणम्हि जो पवट्टइ कमेण सो विरवहो होइ ॥१५८॥

—मूलाचार पृ० ४७९ से ४८१

९. जिनकल्पी और स्थविरकल्पीमुनि

"जिनेंद्रदेव ने जिनकल्प और स्थावर कल्प ऐसे दो भेद किए है।

जिनकल्प—जो उत्तम सहननधारी हैं। जो पैर मे काटा चुभ जाने पर अथवा नेत्र मे धूलि आदि पड जाने पर स्वय नही निकालते है। यदि कोई निकाल देता है तो मौन रहते है। जलवर्षा होने पर गमन रुक जाने से छह मास तक निराहार रहते हुए कायोत्सर्ग से स्थित हो जाते है। जो ग्यारह-अगधारी है, धर्म अथवा शुक्लध्यान मे तत्पर है, अशेप कपायो को छोड चुके है, मौनव्रती है और कदरा मे निवास करने वाले हैं। जो बाह्य और अभ्यतर परिग्रह से रहित, स्नेहरहित, नि स्पृही यतिपति 'जिन' के समान हमेशा विचरण करते है वे ही श्रमण जिनकल्प मे स्थित है।

स्थविरकल्प—जिनेंद्रदेव ने अनगार साधुओ का स्थविरकल्प भी बताया है। पाँच प्रकार के चेल—वस्त्र का त्याग करना, अकिंचनवृत्ति धारण करना और प्रतिलेखन—पिच्छिका ग्रहण करना, पाँच महाव्रतो को धारण करना, स्थितिभोजन और एक भक्त करना, भक्ति सहित श्रावक के द्वारा दिया गया आहार करपात्र मे ग्रहण करना, याचना करके भिक्षा नही लेना, बारह प्रकार के तपश्चरण मे उद्युक्त रहना, छह प्रकार की आवश्यक क्रियाओ का हमेशा पालन करना, क्षितिशयन करना, शिर के केशो का लोच करना, जिनवर की मुद्रा को धारण करना, सहनन की अपेक्षा से इस दुषमा काल मे पुर, नगर और ग्राम मे निवास करना। ऐसी चर्या करने वाले साधु स्थविरकल्प मे स्थित है। ये वही उपकरण ग्रहण करते है कि जिससे चर्या—चारित्र का भग नही होवे, अपने योग्य पुस्तक आदि को ही ग्रहण करते है। ये स्थविरकल्पी साधु समुदाय-सघ सहित विहार करते है। अपनी शक्ति के अनुसार धर्म की प्रभावना करते हुए भव्यो को धर्मोपदेश सुनाते है और शिष्यो का सग्रह तथा उनका पालन भी करते है।

इस समय सहनन अतिहीन है, दु षमकाल है और मन चचल है फिर भी वे धीर वीर पुरुष ही है जो कि महाव्रत के भार को धारण करने मे उत्साही है।

पूर्व मे—चतुर्थ काल मे जिस शरीर से एक हजार वर्ष मे जितने र्मो की निर्जरा की जाती है, इस समय हीनसहनन वाले शरीर से एक

वर्ष मे उतने ही कर्मो की निर्जरा हो जाती है।[1]"

इस प्रकार से जिनकल्प मे स्थित साधु जिनकल्पी और स्थविरकल्प मे स्थित स्थविरकल्पी कहलाते है। आज के युग मे स्थविरकल्पी मुनि ही होते है, चूँकि उत्तमसहनन नही है।

अन्यत्र भी कहा है—

---

१ दुविहो जिणेहिं कहिओ जिणकप्पो तह य थविरकप्पो य।
जो जिणकप्पो उत्तो उत्तमसहणणधारिस्स ॥११९॥
जत्थ ण कटयभग्गो पाए णयणम्मि रयपविट्ठम्मि।
फेडन्ति सय मुणिणो परावहारे य तुण्हिक्का ॥१२०॥
जलवरिसणवा याई गमणे भग्गे य जम्म छम्मास।
अच्छन्ति णिराहारा काओसग्गेण छम्मास ॥१२१॥
एयारसगधारी एआई धम्मसुक्कझाणी य।
चत्तासेसकसाया मोणवई कदरावासी ॥१२२॥
बहिरतरगथचुवा णिण्णेहा णिप्पिहा य जइवइणो।
जिण इव विहरति सया ते जिणकप्पे ठिया सवणा ॥१२३॥
थविरकप्पो विकहिओ अणयाराण जिणेण सो एसो।
पचच्चेलच्चाओ अकिंचणत्त च पडिलिहण ॥१२४॥
पचमहव्वयधरण ठिदिभोयण एयपत्त करपत्तो।
भत्तिभरेण य दत्त काले य अजायणे भिक्ख ॥१२५॥
दुविहतवे उज्जमण छव्विहआवासयेहिं अणवरय।
खिदिसयण सिरलोओ जिणवरपडिरूवपडिगहण ॥१२६॥
सहणणस्स गुणेण य दुस्समकालस्स तवपहावेण।
पुरणयरगामवासी थविरे कप्पे ठिया जाया ॥१२७॥
उवयरण त गहिय जेण ण भगो हवेह चरियस्स।
गहिय पुत्थयदाण जोग्ग जस्स त तेण ॥१२८॥
समुदायेण विहारो धम्मस्स पहावण ससत्तीए।
भवियाण धम्मसवण सिस्साण य पालण गहण ॥१२९॥
सहणण अइणिच्च कालो सो दुस्समो मणो चवलो।
तह विहु धीरा पुरिसा महव्वयभरधरण उच्छरिया ॥१३०॥
वरिससहस्सेण पुरा ज कम्म हणइ तेण काएण।
त सपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीणसहणणे ॥१३१॥

—भावसग्रह

जिनकल्पसंयमी

"जो जितेन्द्रिय साधु सम्यक्त्व रत्न से विभूषित है, एकाक्षर के समान एकादशाग के ज्ञाता है, पाँव मे लगे हुए काटे को और लोचन मे गिरी हुई रज को न स्वय निकालते है न दूसरों को निकालने के लिए कहते है। निरतर मौन रहते है, वज्रवृषभनाराचसहनन के धारक है, गिरि की गुफाओ मे, वनो मे, पर्वतो पर तथा नदियो के किनारे रहते है, वर्षाकाल मे मार्ग को जीवो से पूर्ण समझकर षट्मास पर्यंत आहार रहित होकर कायोत्सर्ग धारण करते है, परिग्रह रहित, रत्नत्रय से विभूषित, मोक्षसाधन मे निष्ठ और धर्म तथा शुक्ल ध्यान मे निरत रहते है, जिनके स्थान का कोई निश्चय नही है तथा जो जिन भगवान् के समान विहार करने वाले होते है ऐसे जिनकल्प—जिनेंद्रदेव के सदृश सयम धारण करने वालो को जिनेन्द्रदेव ने जिनकल्पी कहा है[1]।" यहाँ पर 'कल्पप्रत्यय[2]' ईषत् असमाप्ति—किंचित् अपूर्णता के अर्थ मे हुआ है।

स्थविरकल्पसंयमी

जो जिनलिंग—नग्नमुद्रा के धारक है, सम्यक्त्व से जिनका हृदय क्षालित है, अट्ठाईस मूलगुणो के धारक है, ध्यान और अध्ययन मे निरत है, पचमहाव्रत और दर्शनाचार पाँच आचारो के पालन करने वाले है, दशधर्म से विभूषित, ब्रह्मचर्य मे निष्ठ, बाह्य तथा अभ्यन्तर परिग्रह से विरक्त है, तृण-मणि शत्रु-मित्र आदि मे समानभावी है, मोह अभिमान और उन्मत्तता से रहित हैं, धर्मोपदेश के समय तो बोलते है और शेष समय मौन रहते है, शास्त्र समुद्र के पारगत हैं, इनमे से कितने ही अवधिज्ञान के धारक होते हैं, तथा कितने ही मन पर्यय ज्ञानी भी होते है। अवधिज्ञान के पहले पाच गुणवाली सुन्दर पिच्छी प्रतिलेखन के लिए धारण करते है सघ के साथ-साथ विहार करते हैं, धर्मप्रभावना तथा उत्तम-उत्तम

---

१ अथाभिधीयते तावज्जिनकल्पाख्यसयमः।
मुक्तिकातापरिष्वगसौख्य भुक्ते यतो मुनि ॥१०४॥
॥१०५ से १२४ तक॥ —भद्रबाहुचरित परि० ८

२ 'ईषदसमाप्तौ कल्पदेश्यदेशीया' ॥५५६॥
ईषदपरिसमाप्तौ अर्थे कल्पदेश्यदेशीया एते प्रत्यया भवन्ति। ईषदपरिसमाप्त पटु पटुकल्प। —कातन्त्ररूपमाला पृ० ११८

शिष्यो के रक्षण और वृद्ध साधुओ के रक्षण तथा पोषण मे सावधान रहते हैं। इसीलिए इन्हे महर्षि लोग स्थविरकल्पी कहते है।

"इस भीषण कलिकाल मे हीन सहनन के होने से साधु स्थानीय नगर ग्राम आदि के जिनालय मे रहते हैं। यद्यपि यह काल दुस्सह है, शरीर का सहनन हीन है, मन अत्यन्त चचल है, और मिथ्यात्व सारे ससार मे विस्तीर्ण हो गया है। तो भी ये साधु संयम के पालन करने मे तत्पर रहते हैं[1]।"

जो कर्म पूर्वकाल मे हजार वर्ष मे नष्ट किये जा सकते हैं, वे कलियुग मे एक वर्ष मे ही नष्ट किये जा सकते हैं।

इसी से मोक्षाभिलाषी साधु सयमियो के योग्य पवित्र तथा सावद्य-रहित पुस्तक आदि ग्रहण करते हैं। इस प्रकार सर्वपरिग्रहादि रहित स्थविरकल्प कहा जाता है। और जो यह वस्त्र दण्ड पात्र कम्बल आदि धारण करना है वह स्थविरकल्प नही है किन्तु वह गृहस्थकल्प है। अत. यह श्वेताबरो की वस्त्रादि कलपना मोक्ष हेतु न होकर इन्द्रिय सुखानुभव हेतु ही है।

विशेष—वर्तमान मे उत्तम सहनन का अभाव होने से जिनकल्पी साधु हो ही नही सकते है अत सभी दिगम्बर साधु स्थविरकल्पी ही होते हैं। इन दो भेदो की अपेक्षा भी दिगम्बर मुनियो मे भेद हो जाते हैं।



---

१ साम्प्रत कलिकालेऽस्मिन् हीनसहननत्वत ।
स्थानीयनगरग्रामजिनसद्मनिवासिनः ॥११९॥
कालोऽय दुःसहो हीन शरीर तरल मन ।
मिथ्यामतमतिव्याप्त तथापि सयमोद्यता ॥१२०॥ —भद्रबाहु च० परि० ४

१०. चातुर्वर्ण्यसंघ

चतुर्वर्ण

श्रमण सघ से ऋषि, मुनि, यति और अनगार ऐसे चार भेद रूप साधु लिए जाते है।

१ ऋषि—ऋद्धि को प्राप्त हुए साधु ऋषि कहलाते है। इनके भी चार भेद है—राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि। विक्रिया ऋद्धि और अक्षीण ऋद्धिधारी राजर्षि है। बुद्धि ऋद्धि और औषधि ऋद्धिधारी ब्रह्मर्षि है। गगन गमन ऋद्धि से सपन्न साधु देवर्षि कहलाते है। केवलज्ञानी भगवान् परमर्षि कहे जाते है।

२ अवधिज्ञानी, मन.पर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी मुनि कहलाते है।

३ उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी कर आरोहण करने वाले यति कहलाते है।

४ सामान्य साधु अनगार कहे जाते है।

नैगमनय की अपेक्षा से इन सभी को अनगार मुनि, यति, भिक्षुक, साधु, सयमी, तपस्वी और निर्ग्रन्थ आदि शब्दो से कहते हैं।

आज के युग मे उपर्युक्त चार प्रकार के साधुओ मे मे मात्र अनगार साधुओ का ही अस्तित्व है।

विशेष—यद्यपि ये सभी दिगम्बर मुनि होते है फिर भी इन भेदो की अपेक्षा भी मुनियो मे भेद हो जाते है।

चतुर्विधसंघ

मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इनको चतुर्विध सघ कहते है।

मुनि—आचार्य, उपाध्याय, साधु ये सभी मुनि शब्द से कहे जाते है।

आर्यिका—ये पूर्वोक्त अट्ठाईस मूलगुण और समाचार विधि का पालन करनेवाली है। साडी मात्र परिग्रह धारण करती है। अर्थात् एक बार

---

१ चारित्रसार

'उवकुणदि जो वि णिच्च चादुव्वण्णस्स समणसघस्स।
॥२४९॥ —प्रवचन० गा० २४९

टीका— श्रमणशब्देन श्रमणसघवाच्या ऋषिमुनियत्यनगारा ग्राह्या। अथवा श्रमणधर्मानुकूलश्रावकादिचतुर्वर्णसघ। —प्र० टी० पृ० ५९५

मे एक साडी ही पहनती है ऐसे दो[1] साडी का परिग्रह रहता है। इसलिए उपचार से महाव्रती है। आतापन योग आदि के सिवाय बाकी सभी क्रियायें मुनियो के समान करती है और बैठकर एक बार करपात्र मे आहार लेती है। इन्हे शास्त्रो मे सयतिका, सयता, सयमिनी श्रमणी और महाव्रतिनी शब्दो से भी सम्बोधित किया है। यथा—

"त्यक्ताशेषगृहस्थवेपरचना मदोदरी सयता[2]।"
"साहृ दु खक्षयाकाक्षा दीक्षा जैनेश्वरी[3] भजे।"
"महाव्रतव्रतपवित्रांगा महावैराग्यसगता।"
"श्रीमती श्रमणी[4] पार्श्वे बभूवु परमार्यिका।"
"समीपे चदनार्याया जगृहु संयमं[5] पर।"

प्रथमानुयोग मे ऐसे अनेको उदाहरण पाये जाते है।

श्रावक-श्राविका

पहली प्रतिमा मे लेकर ग्यारहवी प्रतिमा तक श्रावक के ११ स्थान होते है[6]। उनके दर्शन प्रतिमा आदि नाम है—

१ **दर्शन प्रतिमा**—शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारी संसार, शरीर और भोगो से विरक्त पचपरमेष्ठी का उपासक, वास्तविक मार्ग मे चलने वाला श्रावक दर्शन प्रतिमाधारी है।

२ **व्रत प्रतिमा**—अतिचाररहित पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतो को पालन करने वाला द्वितीय व्रत प्रतिमाधारी है।

३ **सामायिक प्रतिमा**—विधिवत् त्रिकाल सामायिक करने वाला सामायिक प्रतिमाधारी है।

४ **प्रोषध प्रतिमा**—प्रत्येक मास की दोनो अष्टमी और दोनो चतुर्दशी को उत्कृष्ट प्रोपधोपवास या उपवास या जघन्य रूप से एकाशन करने वाला चतुर्थ प्रतिमाधारी है।

---

१ वस्त्रयुग्म सुबीभत्सलिंगप्रच्छादनाय च।
आर्याणा सकल्पेन तृतीये मूलमिष्यते ॥११९॥ —प्राय० स०

२ पद्म पु० पर्व ।

३ पद्म पु० पर्व ।

४ पद्म पु० पर्व ।

५ उत्तर पु० पृ० ५२७।

६ रत्नकरडश्रावकाचार के आधार से।

५ **सचित्तत्यागप्रतिमा**—मूल, फल, शाक आदि को प्रासुक करके खाने वाला एव जल को प्रासुक करके पीने वाला पचम प्रतिमाधारी है।

६ **रात्रिभुक्तिविरत प्रतिमा**—रात्रि मे अन्न आदि चारो प्रकार के आहार का त्याग करने वाला छठी प्रतिमाधारी है।

७ **ब्रह्मचर्य प्रतिमा**—पूर्णतया मैथुन से विरक्त होकर ब्रह्मचर्य पालन करने वाला सातवी प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी है।

८ **आरंभत्याग प्रतिमा**—सेवा, कृषि व्यापार आदि आरभ का त्याग करने वाला आठवी प्रतिमाधारी है।

९ **परिग्रहत्याग प्रतिमा**—अपने उपयोग मे आने वाले परिग्रह के सिवाय बाकी धन धान्यादि परिग्रह का त्याग करने वाला नवमी प्रतिमाधारी है।

१० **अनुमतित्याग प्रतिमा**—गृह सम्बन्धी विवाह या व्यापार सम्बन्धी अनुमति को नही देने वाला दशवी प्रतिमाधारी है।

११ **उद्दिष्टत्याग प्रतिमा**—गृह का त्याग करके मुनियो के सघ मे जाकर व्रतो को ग्रहण कर भिक्षावृत्ति से भोजन करने वाला, खडवस्त्र-धारी, उत्कृष्ट श्रावक ग्यारहवी प्रतिमाधारी है।

इस ग्यारहवी प्रतिमाधारी के दो भेद है—क्षुल्लक और ऐलक।

क्षुल्लक—इसके हाथ मे मयूरपिच्छिका[1] और काष्ठ का कमण्डलु रहता है। लँगोटी और चादर रहती है। चादर खडवस्त्र रूप अर्थात् कुछ छोटी रहती है। ऐसे दो लगोटी और दो चादर रूप परिग्रह इनके पास रहता है। ये चाहे तो केशलोच करें अथवा कैंची या उस्तरा आदि से केश निकाल सकते है। गुरु के पीछे जो गोचरी वृत्ति से जाकर श्रावक के यहाँ पडगाहन विधि से पहुँचकर अर्घ्य आदि चढाने के बाद बैठकर कटोरी अथवा थाली मे भोजन करते है। अन्य विधि भी कही गई है—

"गुरु की आज्ञा से ग्रहण किये हुए अपने पात्र को स्वच्छ कर चर्या के लिये श्रावक के घर मे प्रवेश करते है आँगन मे ठहरकर 'धर्मलाभ' कहकर भिक्षा लेते है। ऐसे मौनपूर्वक एक दो, या पाँच सात आदि घर से भिक्षा लेकर पश्चात् किसी एक के घर मे बैठकर आहार करके अपना पात्र प्रक्षालन करके गुरु के पास आ जाते है। यदि ऐसी प्रवृत्ति नही

---

१ मयूरपिच्छिका क्षुल्लक अभयरुचि और क्षुल्लिका अभयमती के पास थी।
—यशस्तिलक चपू पृ० १३७

रुचती है तो गुरु की गोचरी चर्या के अनन्तर श्रावक के घर मे गोचरी वृत्ति से जाकर ग्रहण करते हैं[1]।"

ऐलक—उपर्युक्त व्रतो को पालते हुए लगोटी मात्र (दो लगोटी) परिग्रह रखते है। नियम से केशलोच करते है और पाणिमात्र—अपने हाथ की अजुलियो मे ही आहार करते है।

"इन क्षुल्लक, ऐलक को भी दिन मे प्रतिमायोग, सिद्धान्त शास्त्र और प्रायश्चित्त शास्त्रो का अध्ययन वीरचर्या और त्रिकाल योग करने का अधिकार नही है[2]।"

स्त्रियो मे क्षुल्लिका ही एक भेद रहता है दो भेद नही है। ये क्षुल्लिकायें भी एक धोती और एक चादर रखती है। अर्थात् दो धोती दो चादर मात्र परिग्रह रहता है। मयूर पख की पिच्छी और कमडलु रखती है। क्षुल्लक के समान व्रतो का पालन करते हुए आर्यिकाओ के पास मे रहती है। और प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रियाओ मे तत्पर रहती है।

पहली प्रतिमा से छठी तक गृहस्थ कहलाते है। सातवी प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी गृहविरत और गृहनिरत के भेद से दो प्रकार के होते है। आगे के प्रतिमाधारी मुनि सघो मे रहते है या मन्दिर आदि मे भी रहते है।

पहली प्रतिमा से छठी तक जघन्य, सातवी से नवमी तक मध्यम और दशवी, ग्यारहवी प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक कहलाते है। आचार्यों ने इन्हे उपासक भी कहा है। यथा—

"सम्पूर्णरूप पाँचो पापो का त्याग करने वाले यति समयसार स्वरूप है और जो एकदेश त्याग करने वाले है वे उपासक होते है।[3]"

श्रावक के पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक ऐसे भी तीन भेद माने है। उनमे से जिसके हिंसादि पाँच पापो का त्यागरूप पक्ष है, तथा जो अभ्यासरूप से श्रावकधर्म का पालन करता है वह पाक्षिक है।

जो निरतिचार श्रावक धर्म का पालन करता है अर्थात् पहली प्रतिमा से लेकर दशवी प्रतिमा तक के पालने वालो मे से कोई भी हो नैष्ठिक है।

---

१. वसुनन्दिश्रावकाचार, पृ० १११।

२ वसुनन्दिश्रावकाचार पृ० ११२।

३ निरत कार्त्स्न्यनिवृत्तौ भवति यति समयसारभूतोऽयम्।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥४१॥
—पुरुषार्थसिद्धयुपाय

जिसका देशसंयम पूर्ण हो चुका है और जो आत्मध्यान मे लीन होकर समाधिमरण करता है वह साधक कहलाता है ।

इन श्रावक के व्रतो को पालन करने वाले पुरुष और स्त्री श्रावक और श्राविका कहलाते हैं।

विशेष—इन चतुर्विध सघ मे प्रथम भेद रूप मुनि ही दिगम्बर होते हैं। उनमे भी सघ की अपेक्षा आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर ऐसे पाँच[1] भेद माने गये हैं। इनकी अपेक्षा भी मुनि मे भेद हो जाते हैं।



१ तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पच आधारा ।
आइरियउवज्झायापवत्तथेरागणवरा च ।।१५५।।—मूलाचार

११. सदोषमुनि

पार्श्वस्थ, कुशील, ससंक्त, अवसंज्ञ और मृगचारित्र ये मुनि दर्शन, ज्ञान, चारित्र मे नियुक्त नही है और मन्दसंवेगी हैं[1]।"

पार्श्वस्थ—'पार्श्वे तिष्ठतीति पार्श्वस्थ' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो सयत के गुणो की अपेक्षा पास मे-निकट मे रहता है वह पार्श्वस्थ है। "जो मुनि वसतिकाओ मे आसक्त रहता है, मोह की बहुलता है, रात-दिन उपकरणो के बनाने मे लगा रहता है, असयतजनो की सेवा करता है और सयतजनो से दूर रहता है वह पार्श्वस्थ है।[2]" अर्थात् यह सयम मार्ग के समीप ही रहता है, यद्यपि यह एकान्त से असयमी नही है परन्तु निरतिचार सयम मार्ग का पालन भी नही करता है। निषिद्ध स्थानो मे आहार लेता है, हमेशा एक ही वसतिका मे रहता है, एक ही सस्तर मे हमेशा शयन करता है, एक ही क्षेत्र मे रहता है। गृहस्थो के घर मे अपनी बैठक लगाता है। गृहस्थोपकरणो से अपनी शौचादि क्रिया करता है, जिसका शोधन अशक्य है अथवा बिना शोधी हुई वस्तु को ग्रहण करता है। सूई, कैंची, नख छेदने का शस्त्र, चीमटा, उस्तरा तीक्ष्ण करने का पत्थर रखता है। कर्णमल निकालने का साधन इन वस्तुओ को जो ग्रहण करता है, सीना, धोना, रगाना इत्यादि कार्यों मे तत्पर रहता है वह पार्श्वस्थ मुनि है।[3]"

कुशील—जिसका आचरण अथवा स्वभाव कुत्सित है वह कुशीलमुनि हैं। यह क्रोधादि कषायो से कलुषित रहता है, व्रत, गुण और शील से हीन रहता है, और सघ का अपयश करने मे कुशल होता है।

- **संसक्त**—जो असयत के गुणो मे अतिशय आसक्त रहता है, वह ससक्त है। यह आहार आदि की लम्पटता से वैद्यक, मन्त्र, ज्योतिषी

---

१ पासत्थो य कुसीलो ससत्तो सण्ण मिगचरित्तो य।
दसणणाणचरित्ते अणिउत्ता मदसवेगा ॥११३॥

२. सयतगुणेभ्य पार्श्वे अभ्यासे तिष्ठतीति पार्श्वस्थ । वसतिकादिप्रतिबद्धो मोह-बहुलो रात्रिंदिवमुपकरणाना कारकोऽसयतजनसेवी सयतेभ्यो दूरीभूतः।
—मूला० टी० पृ० ४५०

३ मूलाचार।—हिन्दी० पृ० ३०५

आदि द्वारा अपनी कुशलता दिखाने मे लगा रहता है, राजादिको की सेवा करने मे तत्पर रहता है।

अवसंज्ञ—जिनके सम्यग्दर्शन आदि सज्ञा अपगत—विनष्ट हो गई है वह अवसज्ञ मुनि है। यह चारित्र आदि गुणो से शून्य है, जिनवचनो का भाव न समझने से यह चारित्रादि से भ्रष्ट है। तेरह प्रकार की क्रियाओ मे आलसी है, इनके मन मे सासारिक सुख की इच्छा लगी हुई है।

मृगचरित्र—मृग के समान-पशु के समान जिनका आचरण है वे मृगचरित्र कहलाते है। यह मुनि आचार्य के उपदेश को नहीं मानता है, स्वच्छदप्रवृत्ति करता है, अकेला विचरण करता है, जिनसूत्र मे दूषण लगाता है, तप सूत्रादि मे अविनीत है, और धैर्यरहित है[1]।" अर्थात् "जिनसूत्र मे दूषण लगाते है—कैंचो से केश निकालना हो योग्य ऐसा कहते है। केशलोच करने से आत्मविराधना होती है। सचित्त तृण पर बैठने पर भी मूलगुण पाला जाता है। उद्देशादिक दोषसहित भोजन करना दोषास्पद नही है, ग्राम मे आहार के लिये जाने से जीवविराधना होती है अत वसतिका मे ही भोजन करना चाहिये। इस प्रकार उत्सूत्र भाषण करनेवाले को मृगचरित्र कहते है[2]।"

ये पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकार के मुनि दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे स्थिर नही रहते है। इनको ससार का भय नही है, ये तीर्थ और धर्म आदि मे हर्षयुक्त नही होते है अत ये वन्दनीय नही है।

सो ही कहा है—

---

१ कुत्सित शील स्वभावो वा यस्यासौ कुशील क्रोधादिकलुषितात्मा व्रतगुणशीलैश्च परिहीन' सघस्यायश करणकुशलः।
ससम्यगसयतेष्वासक्त ससक्त आहारादिगृद्धया वैद्यमत्रज्योतिपादिकुशलत्वेन प्रतिवद्धो राजादिसेवातत्पर।
ओसण्णोऽपगतसज्ञश्चारित्राद्यपहीनो जिनवचनमजानञ्चारित्रादिप्रभ्रष्टः करणालस सासारिकसुखमानस।
मृगस्येव पशोरिव चारित्रमाचरण यस्यासौ मृगचरित्र परित्यक्ताचार्योपदेश' स्वच्छन्दगतिरेकाकी जिनसूत्रदूषणस्तप सूत्राद्यविनीतो धृतिरहितश्चेत्येते पच पार्श्वस्था तीर्थधर्माद्यकृतहर्षा सर्वदा न वदनीया।
मूलाचार० टी० पृ० ४५०

२. मूलाचार कुन्दकुन्दकृत पृ० ३०६।

"ये पार्श्वस्थ आदि साधु दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनकी विनय से हमेशा 'पार्श्वस्थ'—दूर रहते है, इसलिए ये वन्दनीय नही है। ये हमेशा गुणधरो के छिद्रो को देखने वाले है—सयतजनो के दोषो को प्रगट करने वाले है, इसीलिये ये अवद्य है। तथा इनसे अतिरिक्त अन्य पाखडी साधु भी वन्दनीय नही हैं[1]।"

विशेष—ये पाँचो प्रकार के मुनि दिगम्बर होते हुए भी दोषसहित चारित्र वाले हैं। इसलिए ये नमस्कार के लिये या सगति के लिये निषिद्ध माने गये हैं।



---

१ दसणणाणचरित्ते तवविणए णिच्चकाल पासत्था।
एदे अवदणिज्जा छिद्दप्पेही गुणधराण ॥९७॥
छिद्रप्रेक्षिण सर्वकाल गुणधराणा च छिद्रान्वेपिण सयतजनस्य दोपोद्भाविनो यतो न वदनीया एतेऽन्ये च। —मूला० पृ० ४५१

तृतीय खण्ड

पंचमकाल के दिगम्बर मुनि

१. पंचमकाल में गौतमस्वामी आदि

"जिस दिन भगवान् महावीर सिद्ध हुए उसी दिन गौतम गणधर केवलज्ञान को प्राप्त हुए। ये बारह वर्षो तक केवलीपद मे रहकर सिद्धपद को प्राप्त हुए उसी दिन सुधर्मस्वामी केवली हुए, ये भी बारह वर्षों तक केवली रहकर मुक्त हुए तब जबूस्वामी केवली हुए, ये अड़तीस वर्षो तक केवली रहे अनतर मुक्त हो गये। पुन कोई अनुबद्ध केवली नही हुए। यह १२ + १२ + ३८ = ६२ वर्ष का काल अनुबद्ध केवलियो के धर्म प्रवर्तन का माना गया है।

केवलियो मे अन्तिम केवली 'श्रीधर' कुडलगिरी से सिद्ध हुए है। और चारण ऋपियो मे अन्तिम ऋषि सुपार्श्व नामक हुए है। प्रज्ञाश्रमणो मे अन्तिम वज्रयश नामक प्रज्ञाश्रमण मुनि और अवधिज्ञानियो मे अतिम श्री नामक ऋषि हुए है। मुकुटधरो मे अतिम चद्रगुप्त ने जिन दीक्षा धारण की। इससे पश्चात् मुकुटधारी राजाओ ने जैनेश्वरी दीक्षा नही ली है।'

अनुबद्ध केवली के अनतर नदी, नदिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पॉच श्रुतकेवली हुए है। इनका काल 'सौ वर्ष' प्रमाण है। पुन विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गगदेव और सुधर्म ये ग्यारह आचार्य दशपूर्व के धारी हुए है। इन सबका काल 'एक सौ तिरासी' वर्ष है। अनंतर नक्षत्र, जयपाल, पाडु, ध्रुवसेन, और कस ये पांच आचार्य ग्यारह अग के धारी हुए है। इनका काल 'दो सौ बीस' वर्ष है। पुन सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये चार आचार्य आचाराग के धारक हुए है। ये चारो आचार्य ग्यारह अग और चौदह पूर्वो के एकदेश के भी ज्ञाता थे। इनका काल 'एक सौ अठारह' वर्ष है।

इस प्रकार गौतमस्वामी से लेकर आचाराग धारी आचार्यो तक का काल ६२ + १०० + १८३ + २२० + ११८ = ६८३ छह सौ तिरासी वर्ष प्रमाण है। इसके अनतर २०३१७ वर्षो तक धर्म प्रवर्तन के लिए कारण-भूत ऐसा श्रुततीर्थ चलता रहेगा, पुन काल दोप से व्युच्छेद को प्राप्त हो जायेगा। इतने मात्र समय मे अर्थात् ६८३ + २०३१७ = २१००० इक्कीस हजार वर्षो के समय मे चातुर्वर्ण्य सघ जन्म लेता रहेगा। किन्त लोक

प्राय अविनीत, दुर्बुद्धि, असूचक सात भय व आठ मदो से सयुक्त शल्य एवं गारवो से सहित, कलहप्रिय, रागिष्ठ, क्रूर एव क्रोधी होगे[1] ।"

शक राजा की उत्पत्ति

" वीर भगवान् के मोक्ष चले जाने के बाद छह सौ पाँच वर्ष, पाँच मास के अनन्तर शक राजा उत्पन्न हुआ[2] ।"

अन्यत्र भी कहा है—"श्री वीर प्रभु के मोक्ष जाने के बाद छह सौ पाँच वर्ष पाँच माह बीत जाने पर विक्रम नाम का शक राजा उत्पन्न हुआ और इसके बाद ३९४ वर्ष ७ माह बीत जाने पर प्रथम कल्की उत्पन्न हुआ है[3] ।" अर्थात् (६०५,५ + ३९४,७)१००० वर्ष बाद कल्की की उत्पत्ति हुई है।

अन्य ग्रन्थो मे भी यही है—"भगवान् महावीर के मोक्ष जाने के पश्चात् छह सौ पाँच वर्ष पाँच मास बीत जाने पर शक राजा होगा और हजार-हजार वर्ष बाद एक-एक कल्की राजा होता रहेगा जो जैनधर्म का विरोधी होगा[4] ।"

[चूँकि भगवान् वीर के निर्वाण के पश्चात् ६०५ वर्ष ५ माह बीत जाने पर शक राजा हुआ है। और इस समय शक सवत् १८९८ चल रहा है अत. इस मतानुसार वीर प्रभु को मोक्ष गये आज (६०५,५ + १८९८) २५०३ पच्चीस सौ तीन वर्ष और ५ माह व्यतीत हुए है।

अभी वीर प्रभु के धर्मतीर्थ काल मे कुल ढाई हजार वर्ष व्यतीत हुआ है और साढे अठारह हजार वर्ष बाकी है, तब तक यह धर्मतीर्थ चलता ही रहेगा।]

---

१. तिलोयपण्णत्ति के आधार से पृ० ३३८ से ३४०।

२. णिव्वाणे वीरजिणे छव्वासपदेसु पचवरिसेसु।
पणमासेसु गदेसु सजादो सगणिओ अहवा ॥१४९९॥
तिलोयपण्णत्ति मे यह तृतीय पाठातर का मत है। —तिलोयप० पृ० ३४१

३ पणछस्सयवस्स पणमासजुद गमिय वीर णिव्वुइदो।
सगराजो तो कक्की चदुणवतियमहियसगमास ॥८५०॥ —त्रिलोकसार

४ वर्षाणा षट्शती त्यक्त्वा पचाग्र मासपचकम्।
मुक्ति गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत् ॥५५१॥
मुक्ति गते महावीरे प्रतिवर्षसहस्रकम्।
एकैको जायते कल्की जिनधर्मविरोधक ॥५५२॥
—हरिवश पु० प० ६० पृ० ७५१

राज्य परम्परा—"जिस काल में वीर भगवान् ने नि श्रेयस सम्पत्ति को प्राप्त किया उसी समय 'पालक' नामक अवन्तिसुत का राज्याभिषेक हुआ। ६० वर्ष तक पालक का, १५५ वर्ष विजयवंशियो का, ४० वर्ष मुरुण्डवंशियो का और ३० वर्ष तक पुष्यमित्र का राज्य रहा। पुन· ६० वर्ष तक वसुमित्र-अग्निमित्र, १०० वर्ष गधर्व, ४० वर्ष नरवाहन, २४२ वर्ष भृत्य-आंध्र और २३१ वर्ष तक गुप्तवंशियो ने राज्य किया। अनन्तर इन्द्र नामक राजा का पुत्र कल्की उत्पन्न हुआ। इसका नाम चतुर्मुख, आयु ७० वर्ष और राज्यकाल ४२ वर्ष प्रमाण रहा है। ये सब ६० + १५५ + ४० + ३० + ६० + १०० + ४० + २४२ + २३१ + ४२ = १००० वर्ष हो जाते हैं[1]।"

आचारागज्ञानियो के पश्चात् (६८३ वर्ष पश्चात्) २७५ वर्षों के व्यतीत होने पर कल्की नरपति को पट्ट बाधा गया था और इसका राज्य काल ४२ वर्ष प्रमाण था। ६८३ + २७५ + ४२ = १००० वर्ष।

यह कल्की अपने योग्य जनपदो को सिद्ध करके लोभ को प्राप्त हुआ मुनियो के आहार मे से भी अग्रपिंड को शुल्करूप मे मागने लगा। तब श्रमण अग्रपिंड को देकर 'यह अन्तरायो का काल है' ऐसा समझ कर निराहार चले जाते हैं। उस समय उनमें से किसी एक को अवधिज्ञान उत्पन्न हो जाता है। पश्चात् कोई असुरदेव अवधिज्ञान से मुनिगणो के उपसर्ग को जानकर उस धर्मद्रोही कल्की को मार डालता है। तब अजितजय नामक पुत्र 'रक्षा करो' ऐसा कहकर देव की शरण लेता है और देव 'धर्मपूर्वक राज्य करो' इस प्रकार कहकर उसकी रक्षा करता है। इसके पश्चात् दो वर्ष तक लोगो मे समीचीन धर्म की प्रवृत्ति रही है पुनः काल के माहात्म्य से दिन प्रतिदिन हीन होती चली गई है।

इस प्रकार एक-एक हजार वर्षों के पश्चात् एक-एक कल्की, तथा पाँच सौ वर्षों के पश्चात् एक-एक उपकल्की होते है। प्रत्येक कल्की के समय एक-एक दु षमकालवर्ती साधु को अवधिज्ञान प्राप्त होता है और उस समय चातुर्वर्ण्य सघ भी अल्प हो जाते हैं। अनतर अत मे अन्तिम कल्की के समय वीरागद मुनि होगे। उनके हाथ के आहार को शुल्क मे माँगने पर वे चतुर्विध सघ सहित सल्लेखना ग्रहण कर लेंगे और उसी दिन से धर्म का, राजा का और अग्नि का अभाव हो जावेगा। पुन. छठा काल प्रवेश करेगा।

---

१. तिलोयपण्णत्ति पृ० ३४२-३४३।

विशेष—जब भगवान् महावीर स्वामी मोक्ष पधारे है तब इस चतुर्थ काल के अन्त मे तीन वर्ष आठ महीने और पद्रह दिन बाकी थे। उसी दिन गौतम स्वामी को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया, वे बारह वर्ष तक केवली रहे, मतलब आठ वर्ष और साढे तीन महीने तक वे पचम काल मे केवलीपद मे विहार करते है। "वास्तव मे चतुर्थ काल के जन्मे हुए पचम काल मे मोक्ष जा सकते है किन्तु पञ्चम काल के जन्मे हुए पचम काल मे मोक्ष नही जा सकते है[1]।"



१ "दु षमसुपमाया जात दु षमाया सिद्धयति न तु दु पमाया जात ।"
—तत्त्वार्थरा० अ० ९ सूत्र ९।

२. गुर्वावली

(मूलसंघ के अन्तर्गत नंदिसंघ के आचार्यों की नामावली)

"[1]समस्त राजाओ से जिनके पादकमल पूजित हैं, जो मुनिवर भद्रबाहु के पदकमल को विकसित करने मे सूर्य हैं ऐसे 'श्रीगुप्तिगुप्त' इस नाम से प्रसिद्ध श्रीमान् महामुनि आप लोगो के निर्मल संघ की वृद्धि को करें।

श्री मूलसघ मे नंदिसघ हुआ है उसमे अतिरमणीय बलात्कार गण प्रसिद्ध है। उस गण मे पूर्वों के अश को जानने वाले मनुष्य और देवो से वदनीय ऐसे 'श्रीमाघनदी' स्वामी हुए है। उनके पट्ट पर श्रेष्ठ मुनि 'जिनचद्र' हुए और इनके पट्ट पर पांच नाम के धारक मुनियो मे चक्रवर्ती ऐसे 'श्री पद्मनदी' स्वामी हुए। कुदकुद, वक्रग्रीव, एलाचार्य, गृद्धपिच्छ और पद्मनदी ये पाँच नाम उनके प्रसिद्ध है। उनके पट्टधर 'उमास्वाति'=उमास्वामी आचार्य हुए जो कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता हैं और मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्य के समान हैं। उनके पट्ट पर देवो से

---

१. श्रीमानशेषनरनायकवदिताघ्रि', श्री 'गुप्तिगुप्त' इति विश्रुतनामधेय ।
यो भद्रबाहुमुनिपुगवपट्टपद्म सूर्य स वो दिशतु निर्मलमघवृद्धिम् ॥१॥
श्रीमूलसघेऽजनि नन्दिसघस्तस्मिन् बलात्कारगणोऽतिरम्य ।
तत्राभवत्पूर्वपदाशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववन्द्य ॥२॥
पट्टे तदीये मुनिमान्यवृत्तो जिनादिचन्द्रस्समभूदतन्द्र ।
ततोऽभवत्पचसुनामधामा, श्री 'पद्मनदी' मुनिचक्रवर्ती ॥३॥
आचार्य 'कुन्दकुदाख्यो' 'वक्रगीवो' महामुनि ।
'एलाचार्यो' 'गृद्धपिच्छ' 'पद्मनदीति तन्यते ॥४॥
तत्त्वार्थसूत्रकर्तृत्वप्रकटीकृतसन्मत,
'उमास्वाति' पदाचार्यो मिथ्यात्वतिमिराशुमान् ॥५॥
लोहाचार्यस्ततो जातो जातरूपधरोऽमरै ।
सेवनीय समस्तार्थ-विबोधनविशारद. ॥६॥
तत पट्टद्वयी जाता प्राच्युदीच्युपलक्षणात् ।
तेषा यतीश्वराणा स्युर्नामानीमानि तत्त्वत ॥७॥
यश कीर्ति यशोनदी देवनदी महामति ।
पूज्यपादापराख्येयो गुणनदी गुणकार ॥८॥

पूज्य जातरूपधारी 'लोहाचार्य' हुए जो कि समस्त अर्थ का बोध करने मे विशारद थे।

यहाँ से इस नदीसघ मे पूर्व और उत्तर के भेद से दो पट्ट[1] हो गए है। उन यतीश्वरो के नाम को अनुक्रम से कहता हूँ। यश कीर्ति, यशोनदी देवनदी अपरनाम पूज्यपाद और गुणनन्दी। तार्किकशिरोमणि और वज्र के सदृश कठोर चर्या के धारक ऐसे वज्रनदी, कुमारनंदी, लोकचन्द्र, वचनो की निधि ऐसे प्रभाचन्द्र, नेमिचन्द्र, भानुनदी, सिहनदी, जटाधर, वसुनदी, वीरनदी, कामदेव के भेदन करने वाले ऐसे रत्ननदी, माणिक्यनन्दी, मेघचन्द, महायशस्वी शातिकीर्ति, मेरुकीर्ति, महाकीर्ति, विद्वानो मे श्रेष्ठ विष्णुनन्दी, श्रीभूषण, शीलचन्द्र, श्रीनन्दी, देशभूषण, अनंतकीर्ति और शासन को वृद्धिगत करने वाले ऐसे धर्मनन्दी हुए।

विद्यानदी रामचन्द्र, निर्दोषभाषी ऐसे रामकीर्ति, अभयचन्द्र, नरचद्र, स्थिरव्रती नागचन्द्र, नयनन्दी, हरिश्चन्द्र, मलदोषो से रहित महीचन्द्र-माधवचन्द्र, लक्ष्मीचन्द्र, गुणो के आश्रयभूत ऐसे गुणकीर्ति, गुणचन्द्र, वासवचन्द्र, सुतत्त्वो के वेत्ता लोकचन्द्र, त्रैविद्य और वैयाकरण भास्वर ऐसे श्रुतकीर्ति, भावचन्द्र, महाचन्द्र, क्रियाओ मे अग्रणी माघचन्द्र, विश्वनन्दी शिवनन्दी, तपोधन के धारक विश्वचन्द्र, सिद्धातवेत्ता हरिनन्दी, भावनन्दी सुरकीर्ति, विद्याचन्द्र (विद्यानन्द) और लक्ष्मी के भडार ऐसे सूरचन्द्र आचार्य हुए।

माघनन्दी, ज्ञाननन्दी, गगनन्दी, सिहकीर्ति, हेमकीर्ति, मनोज्ञबुद्धि वाले चारुनन्दी, नेमिनन्दी, नाभिकीर्ति, नरेन्द्रकीर्ति, श्रीचन्द्र, पद्मकीर्ति, वर्धमानमुनीश्वर, अकलकचन्द्र, ललितकीर्ति, त्रैविद्यज्ञानी केशवचन्द्र, चारुकीर्ति, महातपस्वी अभयकीर्ति और सिद्धातपारगत वनवासी, व्याघ्र सर्प आदि से सेवित शील के सागर ऐसे वसतकीर्ति आचार्य हुए।

वनवासी इन वसतकीर्ति सूरि के शिष्य विशालकीर्ति हुए जिनकी कीर्ति भवन मे विख्यात हो गई, ये अनेक गुणो के आलय थे, शम-दम, ध्यानरूपी नदियो के सागर, परवादी रूपी हाथियो के मदवारण करने मे सिहतुल्य, त्रैविद्यविद्या के आस्पद अति प्रसिद्ध हुए हैं। इनके पट्ट पर शुभकीर्ति आचार्य हुए जो चरित्र मूर्ति थे, एकातर आदि उग्र तपश्चरण के विधाता थे और सन्मार्गविधि के विधान मे ब्रह्मा के समान थे।

---

१ अर्थात् यहाँ से लोहाचार्य की पट्टावली का क्रम काष्ठसघ मे चला गया और यह अनुक्रम नदिसघ का रहा है जो कि कहा जा रहा है।

इनके पट्ट पर हमीर राजा से पूजित श्री धर्मचन्द्र हुए जो कि संयम समुद्र की वृद्धि मे चन्द्रमा के समान, सैद्धांतिक और परयात माहात्म्य के अवतार स्वरूप थे।

इनके पट्ट पर 'रत्नकीर्ति' आचार्य हुए जो स्याद्वादविद्या के समुद्र थे, जिनके शिष्य अनेक देशों मे फैले हुए थे, धर्म कथाओ मे आगवन मतिवाले, पाप समूह के बाधक बालब्रह्मचारी थे। तपस्या के प्रभावपूजित और कारुण्य के पूर्ण आशय वाले थे। समस्त सघों मे तिलक श्री नदिसघ है उसमे विशाल कीर्तिवाला सरस्वती गच्छ है। उसमे जिनकी शुभकीर्ति के बखान से आकाश तल व्याप्त हो रहा है, चन्द्रमा के समान निर्मल कीर्ति के धारक ऐसे ये रत्नकीर्ति आचार्य जयवत रहे।

इनके पट्ट पर प्रभाचद्र आचार्य हुए। इनके पट्ट पर जिनप्रतिमाओ की प्रतिष्ठा कराने वाले श्री 'पद्मनदी' हुए। ये निर्ग्रन्थ महामुनि अनेको गुणो से विभूषित[1] थे।

उनके पट्ट पर शुभचंद्रसूरि हुए उनके पट्ट पर पद्मनदी पुन उनके पट्ट पर जिनचंद्र सूरि हुए पुन उनके पट्ट पर प्रभाचद्राचार्य हुए।

'श्री पद्मनदी' गुरु बलात्कार गण मे अग्रणी हुए है। इन्होने ऊर्जयंतगिरि पर पाषाण से बनी हुई सरस्वती को मूर्ति को बुलवा दिया था। इसी हेतु से सारस्वत गच्छ (सरस्वती गच्छ) प्रसिद्ध हुआ है इसलिए मैं श्री पद्मनदी मुनीन्द्र को नमस्कार करता हूं।"[2]

---

१ गुर्वावली की चार प्रतियां हैं। उनमें से दो में 'पद्मनदी' के बाद सकलकीर्ति, भुवनकीर्ति, ज्ञानभूषण आदि की शाखा जुदी-जुदी चली हैं ऐसा वर्णन है और उसमें ६३ श्लोको में वर्णन है और दो प्रतियां ऐसी हैं जिनमें 'पद्मनदी' के बाद शुभचद्राचार्य की परपरा चली है इसमें श्लोक ३७ हैं। यहा पर इसी ३७ श्लोक वाली गुर्वावली का वर्णन किया गया है।

२ 'पद्मनदी' गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी।
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती ॥
ऊर्जयतगिरौ तेन गच्छ सारस्वतोऽभवत्।
अतस्मै मुनीन्द्राय नम श्रीपद्मनदिने ॥३७॥

इति श्रीमूलसघ भट्टारक श्री भद्रबाह्वादिगुरूणा नामावली समाप्ता। यहाँ भट्टारक शब्द से वस्त्रधारी भट्टारक की बात नही है। ये सभी दिगवर आचार्य थे। वस्त्रधारी भट्टारक परपरा बहुत दिन बाद चली है। वास्तव में आचार्यों ने ग्रन्थो में जगह-जगह भट्टारक शब्द का प्रयोग भगवान् के लिये और पूज्य महान् आचार्यों के लिये भी किया है।

और भी अनेक गुर्वावलियो मे और प्रशस्तियो मे परपरागत अनेको आचार्यों के नाम हैं। इनके अतिरिक्त न जाने कितने मुनि हुए है। जिनकी सख्या को जानने के लिए अपने पास कोई साधन नही है। तमाम आचार्यों के ग्रन्थो से उनमे लिखी हुई प्रशस्तियो से और शिलालेखो से बहुत से साधुओ के नाम और परिचय जानने को मिल भी रहे है।

गुणधर धरसेन और कुदकुद आदि आचार्यों ने ताडपत्रो पर कितने श्रम से ग्रन्थ लिखे है। अपने ध्यान से समय निकाल कर महान् परोपकार की भावना को हृदय मे धारण करते हुए ही इन आचार्यो ने परम करुणा बुद्धि से हम लोगो के लिए तमाम ग्रन्थो का सृजन किया है।

श्री इन्द्रनदि आचार्य के श्रुतावतार मे 'लोहार्य' तक की गुरुपरपरा के पश्चात् विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त इन चार आचार्यों का उल्लेख किया है। ये सभी आचार्य अगो और पूर्वो के एकदेश ज्ञाता थे। इनके पश्चात् 'अर्हद्वलि आचार्य' का उल्लेख किया है।

अर्हद्वलि आचार्य बहुत बडे सघ के नायक थे। इन्होने भिन्न-भिन्न रूप से सघ व्यवस्था की थी। यथा—

"पूर्व देश के श्री पुड्रवर्धनपुर मे श्री अर्हद्वलि नाम के मुनि हुए, ये आचार्य प्रसारणा, धारणा आदि सत्क्रियाओ मे उद्युक्त, अष्टाग महानिमित्तज्ञानी सघ के अनुग्रह और निग्रह मे समर्थ थे। ये पाँच वर्ष के अनतर युगप्रतिक्रमण करते थे। इसमे सौ योजन के अतर्गत सभी मुनि सम्मिलित होते थे। एक समय इस युगप्रतिक्रमण के समय भगवान् अर्हद्वलि ने मुनिसमुदाय को पूछा कि क्या सभी साधु आ गये ?' उन साधुओ ने भी कहा 'हाँ, भगवन्! हम लोग अपने-अपने सघ सहित आ गये।' इस उत्तर को सुनकर आचार्यदेव ने विचार किया कि इस पचमकाल मे अब से लेकर यह जैनधर्म गण के पक्षपात रूप भेदो से ही रह सकेगा उदासीनभाव से नही।

ऐसा सोचकर गुरुदेव ने 'गुफा' से आये हुए यतीश्वरो मे से कुछ को 'नदि' और कुछ को 'वीर' ऐसा नाम किया। 'अशोकवाटिका' से जो मुनीश्वर आये थे उनमे से कुछ को 'अपराजित' और कुछ को 'देव' यह नाम दिया। जो पचस्तूप्य, निवास से आये हुए अनगारी थे उनमे से किन्ही का 'सेन' और किन्ही का 'भद्र' यह नाम रखा। जो यति शाल्मली महावृक्ष' के नोचे से आये हुए थे उनमे से किन्ही को 'गुणधर' और किन्ही को 'गुप्त' ऐसा नाम दिया तथा जो मुनि खडकेशर वृक्षो के तले

पर बारह हजार श्लोक प्रमाण मे परिकर्म नाम की टीका रची है। श्री समन्तभद्र स्वामी ने इन ग्रन्थो का अध्ययन करके षट्खंडागम के पाँच खंडो पर अडतालीस हजार श्लोक प्रमाण मे विस्तृत टीका लिखी हैं। इस श्रुतावतार मे इन दोनो सिद्धान्त ग्रन्थो के विषय मे और भी टीकाकारो के नाम आये हुए है। पुनः श्री ऐलाचार्य गुरु के निकट सकल सिद्धान्त का अध्ययन करके श्री वीरसेन आचार्य ने षट्खडागम सिद्धात पर धवला टीका रची और चूर्णिसूत्रसमन्वित कषायप्राभृत ग्रन्थ पर जयधवला टीका रची है।"

वर्तमान मे कतिपय विद्वान् आचार्य परपरा के विषय मे अन्वेषण करते हुए ऐसा लिखते हैं कि 'कसायपाहुड' ग्रन्थ के प्रणेता श्री गुणधर आचार्य 'अर्हद्बलि' आचार्य से पूर्व हुए हैं। तथा षट्खडागम के व्याख्याता श्रीधरसेनाचार्य से भी दो सौ वर्ष पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। इस तरह आचार्य गुणधर का समय वि० पू० प्रथम शताब्दी सिद्ध हो जाता है। इसलिए सूत्ररूप से ग्रन्थ के रचयिता ये आचार्य इस युग मे सबसे प्रथम माने जाते है।

नीतिसार मे आचार्य श्री इन्द्रनदि ने चार सघ के नामो का उल्लेख किया है। यथा—"अर्हद्बलि गुरु ने सिंहसघ, नदिसघ, सेनसघ और देवसघ इस प्रकार से चार सघ व्यवस्थापित किये। स्थान-स्थिति की विशेषता से उनमे से गण, गच्छादि भेद हो गये जो कि स्वपर को सौख्यदायी थे। इनमे दीक्षा आदि क्रियाओ, प्रतिक्रमण विधि आदि मे किसी भी प्रकार का भेद-भाव नही है। कुछ काल के बाद श्वेताम्बर मत उत्पन्न हुआ। द्राविड, यापनीय और काष्ठासघ भी हुए।

गोपुच्छिक, श्वेताम्बर, द्राविड, यापनीय और नि पिच्छिक ये पाँच जैनाभास माने गये हैं। इन लोगो ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार गलत सिद्धान्त रच करके जिनेन्द्रदेव के मार्ग मे भेद डाल दिया है।

उपर्युक्त सिंह, नदि आदि चार प्रकार के सघो मे जो भेद भावना करते है वे सम्यग्दर्शन से रहित हुए ससार मे ही भ्रमण करते है।[1]"

---

१ अर्हद्बलिगुरुश्चक्रे सघसघट्टन पर ॥६॥
सिंहसघो नदिसघ सेनसघो महाप्रभ ।
देवसघ इति स्पष्ट स्थानस्थितिविशेषतः ॥७॥
गणगच्छादयस्तेभ्यो जाता' स्वपरसौख्यदा ।
न तत्र भेद' कोप्यस्ति प्रव्रज्यादिषु कर्मसु ॥८॥

मूलसघ के बारे मे कोई उल्लेख नही मिलता है कि यह कब कायम हुआ। ऐसा मालूम पड़ता है कि भगवान् महावीर का सघ, जो उनके समय और उनके वाद मे निर्ग्रन्थ महाश्रमण के रूप मे प्रसिद्ध था। वही निर्ग्रन्थ सघ ही अनेक भेद-प्रभेदो के हो जाने पर स्वय 'मूलसघ' इस नाम से लोक मे प्रसिद्ध हुआ।

उपर्युक्त चारो संघ मूलसघ के अन्तर्गत है। "इस सघ के अन्तर्गत सात गणो के नाम मिलते है—देवगण, सेनगण, देशोगण, सूरस्थगण, बलात्कारगण, क्राणूरगण और निगमान्वय। इन गणो के नामकरण मुनियो के नामान्त शब्दो से तथा प्रान्त और स्थान विशेष के कारण हुए हैं।[1]"

नीतिसार मे कहा है कि—

"श्री भद्रबाहु, श्रीचन्द्र, जिनचन्द्र, गृद्धपिच्छाचार्य, लोहाचार्य, एलाचार्य, पूज्यपाद, सिंहनदी, जिनसेन, वीरसेन, गुणनदी, समंतभद्र, श्रीकुभ, शिवकोटि, शिवायन, विष्णुसेन, गुणभद्र, अकलकदेव, सोमदेव, प्रभाचन्द्र और नेमिचन्द्र इत्यादि मुनि पुगवो के द्वारा रचित शास्त्र ही ग्रहण करने योग्य है और इनके अतिरिक्त (उपर्युक्त चार सघ के आचार्यो से अतिरिक्त) विसघ्य-परम्परा विरुद्ध जनो के द्वारा रचित ग्रन्थ साधु—अच्छे होकर भी प्रमाण नही है।

क्योकि परम्परागत पूर्वाचार्यो के वचन सर्वज्ञ भगवान् के वचनो के सदृश हैं। उन्ही से ज्ञान प्राप्त करता हुआ अनगार साधु अखिल जनो मे

कियत्यपि ततोऽतीते काले श्वेतावरोऽभवत्।
द्राविडो यापनीयश्च काष्ठासघश्च मानत ॥९॥
गोपुच्छिक श्वेतवासा द्राविडो यापनीयक।
नि पिच्छश्चेति पचैते जैनाभासा: प्रकीर्तिता ॥१०॥
स्वस्वमत्यनुसारेण सिद्धात व्यभिचारिण।
विरचय्य जिनेन्द्रस्य मार्गं निर्भेदयति ये ॥११॥
चतु सघे नरो यस्तु कुरुते भेदभावना।
स सम्यग्दर्शनातीत ससारे सचरत्यय ॥१२॥

—नीतिसार

१. जैनधर्मका प्रा० इतिहास, द्वि० भाग
—ले० परमानद शास्त्री, पृ० ५६।

पूज्य होता है।[1]"

वृन्दावन कवि ने गुर्वावली वन्दना मे कुछ गुरुओ के नाम और उनके बनाये हुए ग्रन्थो का वर्णन बहुत ही मधुर ढग से किया है। उसमे भी उन्होने "भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद से लेकर हरिवशपुराण के कर्ता जिनसेन स्वामी तक अनेको आचार्यों के ग्रन्थो का नामोल्लेख किया है और उन्हे भक्तिपूर्वक नमस्कार किया है।"[2]

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने दिगम्बर आरातीयो की परम्परा को निम्नलिखित पाँच[3] भागो मे विभक्त करके विवेचन किया है—

१ श्रुतधराचार्य।

२ सारस्वताचार्य।

३ प्रबुद्धाचार्य।

४. परम्परापोषकाचार्य।

५. कवि और लेखक—आचार्यतुल्य।

१ जिन्होने दिगम्बर मुनि अवस्था मे केवली और श्रुतकेवलियो की परम्परा को प्राप्त कर अग या पूर्वो का एकदेश ज्ञान प्राप्त किया था।

१. श्रीभद्रबाहु' श्रीचद्रो जिनचद्रो महामतिः।
गृद्धपिच्छगुरु श्रीमान् लोहाचार्यो जितेद्रिय ॥६७॥
एलाचार्यः पूज्यपाद सिंहनदी महाकविः।
जिनसेनो वीरसेनो गुणनदी महातपा ॥६८॥
समतभद्र श्रीकुभः शिवकोटि शिवकर।
शिवायनो विष्णुसेनो गुणभद्रो गुणाधिक ॥६९॥
अकलंको महाप्राज्ञ सोमदेवो विदावर'।
प्रभाचद्रो नेमिचद्र इत्यादिमुनिसत्तमैः ॥७०॥
यच्छास्त्र रचित नून तदेवादेयमन्यकै।
विसघ्य रचित नैव प्रमाण साध्वपि स्फुट ॥७१॥
पूर्वाचार्यवच श्रीमत्सर्वज्ञवचनोपमम्।
तज्जानन्ननगारोऽत्र पूज्यः स्यादखिलैर्जनै. ॥७२॥
—नीतिसार

२ जैवत दयावत सुगुरुदेव हमारे। ससारविषयखार से प्रभु पार उतारे।
जिनवीर के पीछे यहा निर्वाण के थानी। बासठवरस में तीन भये केवलज्ञानी।
.... . . ।

३. "तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परपरा" द्वि० पु० पृ० २५।

उन्ही आचार्यों को इन्होने श्रुतधर आचार्य की परम्परा मे लिया है। ये आचार्य मूलगुण और उत्तरगुणो मे युक्त थे और परम्परा को जीवित रखने की दृष्टि से ग्रन्थ प्रणयन मे सलग्न रहते थे। श्रुत की यह परम्परा अर्थश्रुत और द्रव्यश्रुत के रूप मे ईस्वी सन् पूर्व की शताब्दियो से आरम्भ होकर ई० सन् को चतुर्थ-पचम शताब्दी तक चलती रही है। इन आचार्यो मे क्रम से आचार्य गुणधर, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतवलि, आर्यमक्षु, नागहस्ति, वज्रयश, चिरतनाचार्य, यतिवृषभ, उच्चारणाचार्य, वप्पदेव, कुंदकुंद, वट्टकेर, शिवार्य, स्वामि कुमार (कार्तिकेय), गृद्ध-पिच्छाचार्य, समतभद्र, सिद्धसेन, देवनदि-पूज्यपाद, पात्रकेसरी, जोइन्दु-योगीद्रदेव, विमलसूरि, ऋपिपुत्र, मानतुग, रविपेण, जटासिहनदि अक-लकदेव, एलाचार्य, वीरसेन, जिनसेन, विद्यानद, देवसेन, अमितगति प्रथम, अमितगति द्वितीय, अमृतचद्रसूरि, नेमिचद्रसिद्धातचक्रवर्ती, नरेन्द्र-सेन और नेमिचद्र मुनि। इतने आचार्यो का परिचय, सवत् और उनके द्वारा रचित ग्रन्थो का वर्णन किया है।

२ जिन्होने श्रुतपरपरा का मौलिक ग्रन्थप्रणयन, और टीका साहित्य द्वारा प्रचार और प्रसार किया। इन आचार्यो मे आचार्य सिहनदि, सुमति, कुमारनंदि, श्रीदत्त, कुमारसेन गुरु, वज्रसूरि, यशोभद्र आदि का वर्णन किया है।

३ प्रबुद्धाचार्यो मे जिनसेन, गुणभद्र, वादीभसिह, वीरनदि, इन्दुनदि आदि लगभग ४० आचार्यो का वर्णन किया है।

४ परपरापोपकाचार्यों के नाम से बृहत्प्रभ.चद्र, भास्कग्नदि आदि लगभग ५० आचार्यों का वर्णन है।

५ कवि और लेखको मे महाकवि धनजय, चामुंडराय, आशाधर आदि लगभग १५० कवि और लेखको का वर्णन किया है।[1]"

प० परमानद शास्त्री ने ईसापूर्व तृतीय शताब्दी से लेकर "ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक के विद्वान् आचार्यो मे आचार्य दौलामस (धृतिसेन), मुनिकल्याण, आचार्य गुणधर, अर्हद्वली, धरसेन, माघनन्दी सैद्धातिक, पुष्पदत, भूतवली, भद्रबाहु (द्वितीय), कुन्दकुन्दाचार्य, गुणवीर पडित, उमास्वाति, समंतभद्र, शिवार्य और सिद्धसेन इन पन्द्रह आचार्यों को लिया है।

पुनः पाँचवी शताब्दी से आठवी शताब्दी तक आचार्यो मे गुहनन्दि तुंबुलूराचार्य, वीरदेव, चन्द्रनन्दि, श्रीदत्त, यशोभद्र, देवनन्दि (पूज्यपाद), आदि लगभग ५८ आचार्यों का इतिवृत्त कहा है।

---

१ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परपरा—द्वि० पु०, पृ० २५।

नवमी शताब्दी और दशवी शताब्दी के आचार्यों मे विजयदेव, महासेन, सर्वनन्दि आदि ८९ आचार्यो का परिचय दिया है।

ग्यारहवी और बारहवी शताब्दी के विद्वान् आचार्यो मे अर्हनन्दि, धर्मसेनाचार्य, वादिराज, दिवाकरनन्दि आदि १४७ मुनियो के जीवन पर और उनकी रचनाओ पर प्रकाश डाला है।

तेरहवी और चौदहवी शताब्दी के आचार्यों, विद्वानो एव कवियो के परिचय मे कनकचद्रमुनीद्र आदि ९१ विद्वानो का वर्णन किया है। और उनकी रचनाओ पर प्रकाश डाला है।

पुन १५वी, १६वी, १७वी और १८वी शताब्दी के आचार्य, भट्टारक तथा कवियो का परिचय देते हुए कवि रइधू, भट्टारक पद्मनन्दी आदि ९० विद्वानो का इतिहास बताया है और उनके द्वारा रचित रचनाओ का वर्णन किया है।

भट्टारको की परपरा को बतलाते हुए सेनगण के कालानुक्रम से प्रारभ किया है। उसमे चन्द्रसेन, आर्यनन्दि, वीरसेन आदि से प्रारम्भ किया है। ये वीरसेनाचार्य स० ८७३ मे हुए है। इन्होने शक सं० ७३८ धवला टीका को पूर्ण किया हे।

अत स० ८७३ से भट्टारको की परम्परा प्रारम्भ करके सं० १९९५ तक ५२ आचार्यो का उल्लेख किया है।

पुन बलात्कार गण को प्राचीन सिद्ध करते हुए श्रीनन्दि, श्रीचन्द्र आदि को लेकर धर्मभूषण पर्यन्त २७ भट्टारको (आचार्यो) का वर्णन किया है।

७ इनको स० १०७० से १४४२ तक मे घटित किया है। आगे चलकर अमरकीर्ति आदि को लेकर देवेंद्रकीर्ति तक भट्टारको का वर्णन किया है। इनको स० १५९८ से लेकर स० १९७३ तक मे घटित किया है। आगे और भी तमाम भट्टारको का वर्णन किया है।[1]"

भट्टारको के नाम से आप यह न समझिये कि ये सभी वस्त्रधारी ही थे। ये परपरागत गुरु के पट्ट पर आसीन आचार्यशिरोमणि थे। हाँ, आगे कुछ वस्त्रधारी भट्टारक भी हुए हैं।

प्रवचनसार आदि ग्रन्थो मे भगवान् को भट्टारक कहा है। श्रीवीरसेन स्वामी कषायप्राभृत के कर्ता 'गुणधर' आचार्य को भट्टारक कहते है। "जिन्होने[2] इस आर्यावर्त मे अनेक नयो से युक्त, उज्ज्वल और अनन्त

---

१ 'जैनधर्म का प्राचीन इतिहास' द्वि० भाग।

२ जेणिह कसायपाहुडमणेयणयमुज्जल अणतत्थ।
गाहाहिविवरिय त गुणहरभट्टारय वदे ॥६॥—कसायपा० पु० प्र० पृ० ४

अर्थो से व्याप्त कषायप्राभृत का गाथाओ द्वारा व्याख्यान किया है उन गुणधर भट्टारक को मैं वीरसेन आचार्य नमस्कार करता हूँ।" और भी अनेको उदाहरण आगम मे भरे हुए हैं।

"स० १२६४ मे वसतकीर्ति आचार्य हुए है। शायद इन्होने वस्त्र धारण की प्रथा डाली है ऐसा कथन भट्टारक सप्रदाय पुस्तक मे आया है।"[1]

"पुन॰ आगे स्पष्टतया कहा है कि स० १५७२ मे पद्मनंदी के शिष्य यश कीर्ति हुए है जो कि नैर्ग्रन्थ्य रूप आर्हत मुद्रा को धारण करने वाले थे।[2]"

कहने का अभिप्राय यही है कि अंतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु के अनंतर आचार्य गुणधर आदि से लेकर आज तक दिगबर मुनि होते आये हैं और पचम काल के अत तक वीरागज नाम के मुनि होगे। श्री गौतम स्वामी भी पचम काल मे ही मोक्ष गये है। ऐमा नियम है कि पंचम काल मे जन्म लेनेवाले जीव पचमकाल मे मोक्ष नही प्राप्त कर सकते हैं किन्तु चतुर्थ काल मे जन्मे हुए पुरुष पंचम काल मे मोक्ष जा सकते हैं। क्योकि पचम काल के प्रारभ होने मे जब तीन वर्ष आठ माह और एक पक्ष मात्र काल बाकी रह गया था तब भगवान् महावीर मोक्ष गये है। और उसी दिन गौतम स्वामी को केवलज्ञान हुआ था अनतर बारह वर्ष बाद वे मोक्ष गये हैं।

वर्तमान मे कुन्दकुन्दान्वय का अतीव महत्त्व है प्रशस्ति या गुरुपरपरा मे "कुन्दकुन्दाम्नाये मूलसघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे" इत्यादि रूप से ही मूर्तियो मे या ग्रन्थो मे प्रशस्तियाँ रहती है। वे कौन है ? पढ़िये—



---

१ भट्टारकसप्रदाय पृ० ९३।

२ तत्पट्टे परमाख्यया मुनियश कीर्तिश्च भट्टारको।
नैर्ग्रन्थ्य पदमार्हत श्रुतबलादादाय नि शेषत ॥
सर्पिर्दुग्धदधीक्षुतैलमखिल पचापि यावद् रसान्।
त्यक्त्वा जन्ममथ तदुग्रमकरोत् कर्मक्षयार्थं तप. ॥६८॥
—भट्टारक स० पृ० २३०

३. कुन्दकुन्द आदि आचार्य

भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य

मंगल भगवान् वीरो मगल गौतमो गणी।
मगलं कुदकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मगलम्॥

श्री कुन्दकुन्द स्वामी मूलसघ के अग्रणी आचार्य है यही कारण है कि वर्तमान मे मगलहेतु कुदकुद का नाम गौतमस्वामी के अनतर लिया जाता है। विद्वानो के निर्णयानुसार इनका जन्म दक्षिण भारत मे माना गया है। 'कौण्डकुन्दपुर' नामक ग्राम मे कर्मण्डु की पत्नी श्रीमती के गर्भ से इनका जन्म हुआ है। इनके समय के बारे मे विद्वानो मे काफी मतभेद है।

"नदीसघ की पट्टावली मे लिखा है कि कुन्दकुन्द वि० स० ४९ मे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। ४४ वर्ष की अवस्था मे उन्हे आचार्य पद मिला। ५१ वर्ष १० महीने तक उस पद पर प्रतिष्ठित रहे। उनकी आयु ९५ वर्ष १० महीने १५ दिन की थी।"

"कुदकुद स्वामी की परम्परा वाले मूलसघ को अर्हद्बलि आचार्य ने चार सघ मे विभक्त किया, ऐसा भी एक शिलालेख मे कथन है[1]।"

तथा कुन्दकुन्दस्वामी ने अपने बोधपाहुड मे स्वय को भद्रबाहु का शिष्य कहकर उनका जयघोष किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये भद्रबाहु श्रुतकेवली के अनन्तर ही हुए है। यथा—

"जिनेन्द्रदेव—भगवान् महावीर ने अर्थरूप से जो कथन किया है वह भाषा सूत्रो मे शब्द विकार को प्राप्त हुआ—शब्दो मे ग्रथित हुआ। भद्रबाहु के मुझ शिष्य ने उन भाषा सूत्रो को उसी रूप से जाना है और उसी रूप से कहा है जो द्वादश अग के ज्ञानी है, चौदह पूर्वो का विपुल विस्तार करने वाले है। ऐसे श्रुतकेवली भद्रबाहु गमकगुरु भगवान् जयवत होवें[2]।"

---

१ य पुष्पदतेन च भूतबल्याख्येनापि शिष्यद्वितयेन रेजे।
फलप्रदानाय जगज्जनाना प्राप्तोकुराभ्यामिव कल्पभूज॥
अर्हद्बलिस्सघचतुर्विध स श्रीकोडकुदान्वयमूलसघम्।
कालस्वभावादिह जायमानद्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे॥

—श्रवणबेलगुल के १०५ न० का शिलालेख

२. षट्प्राभृत पृ० १२७।

"नंदीसंघ की पट्टावली मे भी—१ भद्रबाहु द्वितीय (४), २ गुप्तिगुप्त (२६), ३ माघनदी (३६), ४ जिनचंद्र (४०), ५ कुदकुदाचार्य (४९), ६ उमास्वामी (१०१), इत्यादि। इसमे भी भद्रबाहु का परम्परा शिष्य कुन्द-कुन्द को कहा है[1]।" "इनकी परम्परा व समय के विषय मे विशेष जिज्ञासु विद्वानो की कृतियो का अवलोकन करें[2]।"

इसके विषय मे विदेह क्षेत्र मे गमन, चारण ऋद्धि प्राप्ति, पाषाण की देवी को बुलवाना आदि कई बातें प्रसिद्ध हैं। और पट्टावली मे इनके पाँच नाम माने है उनका भी कई जगह समर्थन है। पाँच नाम—

आचार्य कुदकुदाख्यो वक्रग्रीवो महामति ।
एलाचार्यो गृध्रपिच्छ पद्मनदीति तन्नुति ॥

कुंदकुद, वक्रगीव, एलाचार्य, गृध्रपिच्छ और पद्मनदी ये पाँच नाम है।

वि० स० ९९० मे विद्यमान देवसेन आचार्य ने दर्शनसार मे इनके विदेहगमन की बात कही है। यथा—

"यदि पद्मनदी स्वामी सीमधर स्वामी के दिव्यज्ञान से सम्बोधन न प्राप्त करते तो श्रमण सुमार्ग को कैसे जानते[3] ?"

श्री जयसेनाचार्य ने पचास्तिकाय प्राभृत के प्रारम्भ मे कहा है—

"जो श्री कुमारनदि सैद्धातिक देव के शिष्य है, प्रसिद्ध कथा के न्याय से पूर्वविदेह मे जाकर, वीतराग, सर्वज्ञ, सीमधरस्वामी तीर्थंकर परमदेव का दर्शन करके और उनके मुख कमल से विनिर्गत दिव्यध्वनि के श्रवण से अवधारित पदार्थ समूहो से ज्ञान को प्राप्त कर आत्मतत्त्व आदि सारभूत अर्थ को ग्रहण करके पुन यहाँ आये ऐसे श्रीमान् कुन्दकुन्दाचार्य

---

१ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा।
—पु० ४, पृ० ४४१।

२ आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार।
—डा० लालबहादुर शास्त्री एम०ए०

तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा।
—डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य

जैनधर्म का प्राचीन इतिहास द्वि० भाग।
—प० परमानन्द शास्त्री

३ जइ पउमणदिणाहो सीमधरसामिदिव्वणाणेण ।
ण विवोहइ तो समणा कह सुमग्ग पयाणति ॥४२॥
—दर्शनसार

देव, जिनका अपर नाम पद्मनदी है[1] ।"

यहाँ इनके गुरु का नाम कुमारनदी दिया है। नंदिसघ की पट्टावली मे इनके गुरु का नाम 'जिनचन्द्र' कहा है। यथा—"मूलसघ मे नदिसघ हुआ, उसमे बलात्कार गण है। उसमे पूर्वपदो के अश के ज्ञाता माघनदी आचार्य के पट्ट पर जिनचन्द्र हुए पुन. उनके पद पर पाँच नाम को धारण करने वाले पद्मनदी मुनि हुए[2] ।"

श्री श्रुतसागर सूरि ने भी षट्प्राभृत की टीका मे प्रत्येक प्राभृत की समाप्ति मे विदेहगमन की बात कही है। यथा—"श्री पद्मनदी कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, ऐलाचार्य, गृध्रपिच्छाचार्य इन पाँच नामो से विराजित चतुरगुल आकाशगामी ऋद्धिधारी, पूर्वविदेह की पुडरीकिणी नगरी मे सीमधर स्वामी अपरनाम स्वयप्रभजिनदेव की वदना करने वाले, उनके द्वारा श्रुतज्ञान से भारतवर्ष के भव्यजनो को सम्बोधित करने वाले श्री जिनचन्द्र सूरि भट्टारक के पट्ट के आभरण स्वरूप और कलिकाल सर्वज्ञ[3]" इत्यादि।

इस प्रकार देवसेनाचार्य, जयसेनाचार्य और श्रुतसागरसूरि इन तीन आचार्यो ने श्री कुन्दकुन्ददेव के विदेहगमन की बात कही है।

चारणऋद्धि के विषय मे देखिए—

---

१ अथ श्री कुमारनदिसैद्धान्तिकदेवशिष्यै प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेह गत्वा वीतरागसर्वज्ञसीमधरस्वामितीर्थंकरपरमदेव दृष्ट्वा च तन्मुखकमलविनिर्गत-दिव्यवर्णश्रवणादवधारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्त्वादिसारार्थ गृहीत्वा पुनरप्यागतै श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवै पद्मनद्यपरनामधेयै । —पचा० पृ० ३

२ श्रीमूलसघेऽजनि नन्दिसघस्तस्मिन् बलात्कारगणोऽतिरम्य. ।
तत्राभवत्पूर्वपदाशवेदी श्रीमाघनदी नरदेववद्य ॥
पदे तदीये मुनिमान्यवृत्तौ जिनादिचन्द्र' समभूदतन्द्रः ।
ततोऽभवत्पचसुनामधामा श्री पद्मनदी मुनिचक्रवर्ती ॥
—नदिसघ पट्टावली

३ इति श्री पद्मनदिकुदकुदाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृध्रपिच्छाचार्यनामपचक-विराजितेन चतुरगुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुडरीकिणीनगरवदित-सीमधरापरनामकस्वयजिनेन तच्छ्रुतसतबोधितभरतवर्षभव्यजनेन श्रीजिनचद्र-सूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन' इत्यादि।
—षट्प्राभृत टीका पृ० ३७९

तस्यान्वये[1] भूविदिते बभूव य. पद्मनन्दी प्रथमाभिधान. ।
श्री कुन्दकुन्दादिमुनीश्वराख्य. सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः ॥५॥

श्री श्रुतसागर सूरि ने षट्प्राभृत ग्रन्थ के प्रत्येक पाहुड की टीका की समाप्ति में कहा ही है—

ऐसा प्रसिद्ध है कि "श्री कुन्दकुन्दस्वामी संघ सहित यात्रा हेतु गिरनार पहुँचे। वहाँ पर श्वेताबर साधुओं का भी संघ पहुँचा। पहले वंदना कौन करे इस पर विवाद होने पर कुन्दकुन्ददेव ने वहाँ पर स्थित सरस्वतीदेवी की मूर्ति को मंत्र के बल पर बुलवा दिया[2]।"

यथा—"बलात्कारगण के अग्रणी श्री पद्मनन्दिगुरु हुए हैं, जिन्होंने पाषाण से निर्मित श्री सरस्वती को बुलवा दिया[3]।"

"जिन्होंने इस कलिकाल में ऊर्जयन्त गिरि के ऊपर पाषाण से घटित ब्राह्मी देवी को बुलवा दिया। वे कुंदकुंदगणी हमारी रक्षा करें[4]।"

बहुत सी प्रशस्तियों में भी श्री कुन्दकुन्द देव की ऋद्धि आदि का वर्णन आता है। यथा—

"श्रीपद्मनंदीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्द ।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चारित्रसंजातसुचारणर्द्धि. ॥४॥"

"वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्द.
कुन्दप्रभाप्रणयिकीर्तिविभूषिताशः ॥
यश्चारुचारणकराम्बुजचचरीकश्चक्रे
श्रुतस्य भरते प्रयत. प्रतिष्ठाम्[5] ॥५॥"

---

१ (श्रवणबेलगोला के ६५ वें शिलालेख में)

२ संघसहित श्री कुंदकुंदगुरु वंदन हेतु गये गिरनार ।
वाद परयो जहाँ संशयमति सो साक्षी वदी अंबिकाकार ॥
"सत्य पंथ निर्ग्रन्थ दिगंबर" कही सुरी तहँ प्रगट पुकार ।
सो गुरुदेव वसो उर मेरे विघन हरण मंगल करतार ॥
—कवि वृन्दावन

३ पद्मनंदीगुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी ।
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती ॥ —गुर्वावली

४ कुन्दकुन्दगणी येनोर्ज्जयतगिरिमस्तके ।
सोऽवदाद्वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ ॥१४॥ —पाडव पु० पृ० २

५ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पु० ४ पृ० ३६८ ।

६ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पु० ४, पृ० ३७३ ।

"श्री कोण्डकुदादिमुनीश्वराख्यस्सत्सयमादुद्गतचारणर्द्धि[1] ॥४॥"

"तद्वशाकाशदिनमणिसीमंधरवचनामृत-
सतुष्टचित्तश्रीकुन्दकुन्दाचार्याणाम्[2] ॥५॥"

'तत्पट्टोदयाद्रिदिवाकरश्रीएलाचार्यगृध्रपिच्छ-
वक्रग्रीवपद्मनदिकुन्दकुन्दाचार्यवर्याणाम्[3] ॥२॥

इस सब प्रमाणो से यह निष्कर्ष निकलता है कि कुन्दकुन्द स्वामी महान् तपस्वी, गणनायक और मन्त्रो के विशेष ज्ञाता थे तथा विदेहक्षेत्र मे जाकर सोमन्धर भगवान् का साक्षात् दर्शन करके आये थे।

शंका—चन्द्रगुप्त के स्वप्न के फल मे पचम काल मे ऋद्धिधारी के आने का निषेध है—यथा—

"देवताओ के विमान को वापस जाता हुआ देखने से पचमकाल मे देवता विद्याधर तथा चारणमुनि नही आवेंगे[4]।"

समाधान—इस कथन से ऋद्धि होने का सर्वथा निषेध नही है। अत पचमकाल के प्रारम्भ मे श्री कुन्दकुन्ददेव को चारण ऋद्धि मानना बाधित नही है।

इन महिमाशाली आचार्य की अनेको रचनायें आज हमे सर्वज्ञ भगवान् के वचनो का अमृतपान करा रही है। चूँकि वीरसेन विद्यानन्द आदि आचार्यो ने सूत्रकारो को सर्वज्ञवचन तुल्य प्रमाणीक कहा है।

श्री कुन्दकुन्द की रचनायें—चौरासी पाहुड,[5] षट्खडागम टीका, दशभक्ति, अष्टपाहुड, प्रवचनसार, पचास्तिकाय, नियमसार, रयणसार, बारसअणुपेक्खा, समयसार, मूलाचार और कुरलकाव्य।

मूलाचार को कुछ विद्वान् कुन्दकुन्द की कृति नही मानते है। किन्तु कुछ विद्वानो ने इसके बारे मे प्रमाण प्रस्तुत किये है।—

"मूलाचार की एक टीका श्री मेघचन्द्राचार्य कृत "मुनिजनचिन्तामणि" नाम की है जो कि कर्नाटक भाषा मे है। जिसमे प्रत्येक अध्याय

---

१ जैन शिलालेख, अभिलेख स० ४०।

२ तीर्थंकर म० और उनकी आचार्य परम्परा पु० ४, पृ० ४०४।

३ तीर्थंकर म० और उनकी आचार्य परम्परा पु० ४, पृ० ४३१।

४ व्याघुट्यमान गीर्वाणविमान वीक्षित ततः।
कालेऽस्मिन्नागमिष्यति सुरखेचरचारणा ॥३६॥ —भद्रबाहु च० परि० २

५ आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार पृ० १२३।

की समाप्ति मे इसे 'श्री कुदकुदाचार्य कृत' लिखा है। तथा कर्नाटकटीका के प्रारम्भ मे भी श्लोक के अनन्तर गद्य मे—'कोण्डकुन्दाचार्य' नाम दिया है[1]।"

"दूसरी टीका सस्कृत मे है जो कि सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री वसुनन्दि आचार्य द्वारा बनाई हुई है[2]।' इसके प्रारम्भ मे टीकाकार ने 'श्रीवट्टकेराचार्य' ऐसा कहा है और टीका के अन्त मे "इति मूलाचारविवृतौ द्वादशोऽध्याय । कुदकुदाचार्यप्रणीतमूलाचाराख्यविवृत्ति । कृतिरिय वसुनन्दिन श्रीश्रमणस्य।" ऐसा उल्लेख है अत इन्ही कुदकुदाचार्य को ही 'वट्टकेराचार्य' नाम से वसुनन्दि आचार्य ने कहा है ऐसा स्पष्ट है। चूँकि इन्होने षट्खडागम के तीन खडो पर 'परिकर्म' नाम की वृत्ति लिखी है। मालूम होता है, इसी हेतु से इनका 'वृत्तिकार'—वट्टकेर नाम प्रसिद्ध हो गया है। कुछ भी हो यह मूलाचार कृति श्रीकुन्दकुन्दाचार्य कृत ही है।

वर्तमान युग मे इन आचार्यों के ये ग्रन्थ ही हम लोगो के लिये मोक्ष-मार्ग प्रदर्शक हैं। कहा भी है—

इस कलिकाल मे भरत क्षेत्र मे सर्वज्ञ देव नही हैं किन्तु उनकी वाणी मौजूद है और उसके अनुसार प्रवृत्ति करने वाले सच्चे दिगम्बर साधु भी मौजूद हैं जो कि मोक्षमार्ग को प्रशस्त किये हुए हैं[3]।"

यतिवृषभाचार्य

"यतिवृषभ कषायपाहुड की चूर्णिसूत्रो के कर्ता है और तिलोय-पण्णत्ति के भी कर्ता हैं। अतएव इनका समय वि० स० ५२६ से पूर्व होना सुनिश्चित है। ये आर्यमक्षु और नागहस्ति के अन्तेवासी कहे है[4]।"

१ मप्प श्रीकोण्डकुन्दाचार्यं स० ॥

—मूलाचार प्रस्तावना, मूलाचार हिन्दी, फलटण से प्रकाशित

२ मुद्रित हो चुकी है (माणिकचद्र दि० जैन ग्रन्थमाला)

३ सप्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूडामणि
तद्वाच परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्द्योतिका ।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तासा समालवन
तत्पूजा जिनवाचि पूजनमत साक्षाज्जिन पूजित ॥

—पद्मनदिपचविंशतिका पृ० ३०

४, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परपरा, पु० पृ०८०।

उनमे आर्यमक्षु का समय ई० सन् प्रथम शताब्दी और नागहस्ति का समय ई० सन् १००-१५० तक माना गया है। यही इनका समय निश्चित होता है। कुन्दकुन्द का समय विक्रम की तीसरी शताब्दी मानने वालो ने यतिवृषभ को कुन्दकुन्द से पूर्व का माना है[1]।"

शिवकोटि आचार्य

शिवार्य (शिवकोटि आचार्य) भगवती आराधना के कर्ता है। इनका समय कुछ विद्वान् उमास्वामी के पूर्व का निर्णय करते है।

उमास्वामी आचार्य

इन्होने तत्त्वार्थसूत्र की रचना की है। मूलसघ की पट्टावली में कुन्द-कुन्दाचार्य के बाद उमास्वामी ४० वर्ष ८ दिन तक नन्दिसघ के पट्ट पर रहे है। श्रवणबेलगोल के ६५ वें शिलालेख मे इन्हे कुन्दकुन्द के पट्ट पर माना है।

तस्यान्वये भूविदिते बभूव य पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः।
श्रीकुन्दकुन्दादिमुनीश्वराख्य सत्सयमादुद्गतचारर्णाद्धि. ॥५॥
अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छ. ।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी[2] ॥६॥

इन्ही का अपरनाम गृध्रपिच्छाचार्य भी है। अन्यत्र पट्टावली मे भी कहा है।—"श्री कुन्दकुन्द के पवित्र आम्नाय मे उमास्वाति आचार्य हुए। प्राणी रक्षा मे तत्पर इन्होने गृध्र के पखो को धारण किया तभी से ये गृध्रपिच्छाचार्य कहलाये है। इनकी परम्परा मे (पट्टपर) महर्द्धिशाली तपस्वी बलाकपिच्छ हुए है। इनके शरीर के ससर्ग से विषमयी हवा भी उस समय अमृत (निर्विष) हो जाती थी[3]।"

---

१ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पु० २, पृ० १०७।

२ जैनधर्म का प्राचीन इतिहास भाग २, पृ० ८७।

३ • सकुन्डकुन्दोदितचडदड ।
अभूदुमास्वातिमुनि पवित्रे वशे तदीये ॥
स प्राणिसरक्षणमावधानो वभार योगी किल गृध्रपक्षान्।
तदा प्रभृत्येव वुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छ ॥१२॥
तस्मादभूद्योगिकुलप्रदीपो वलाकपिच्छ स तपोमहर्द्धि ।
यदगसस्पर्शनमात्रतोऽपि वायुर्विपादीनमृतीचकार ॥१३॥
—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा पु० ४, पृ० ४११

समन्तभद्राचार्य

श्री समन्तभद्र स्वामी को श्रुतमुनि की पट्टावली मे उमास्वामी के शिष्य के पट्ट पर माना है। इसके बाद श्री समन्तभद्र स्वामी हुए हैं[1]।

श्रवणबेलगोल के अभिलेखो से भी ज्ञात होता है कि—"भद्रबाहु श्रुतकेवली के शिष्य चन्द्रगुप्त, इनके वशज पद्मनन्दि अपरनाम कुन्दकुन्द मुनिराज, इनके वशज गृद्धपिच्छाचार्य, इनके शिष्य बलाकपिच्छाचार्य और उनके समन्तभद्र हुए[2]।"

"बहुत कुछ विद्वानो ने ऊहापोह करके ईस्वी सन् की प्रथम या द्वितीय शताब्दी मे इनके होने का अनुमान किया है[3]।"

दक्षिण भारत के उरगपुर (उरैपुर) मे चोल राजवश के राजा के ये पुत्र थे ऐसा एक आप्तमीमांसा प्रति के अन्त मे लिखा हुआ है—"इति फणिमडलालकारस्योरगपुराधिपसूनो श्रीस्वामिसमतभद्रमुने कृतो आप्त-मीमासायाम्[4]" इससे स्पष्ट है कि ये क्षत्रियवशी थे।

मुनिदीक्षा के पश्चात् इन्हे भस्मक व्याधि हो जाने से गुरु से समाधि-मरण की आज्ञा माँगी किन्तु गुरु ने इन्हे भविष्णु जानकर आदेश देते हुए कहा कि 'आपसे धर्म और साहित्य को बडी-बडी आशायें है अत आप दीक्षा छोडकर रोग शमन का उपाय करें। रोग दूर होने पर पुन दीक्षा

---

१ बलाकपिच्छ स तपोमहर्द्धि । ॥१३॥
समतभद्रोऽजनि भद्रमूर्तिस्तत प्रणेता जिनशासनस्य ।
यदीयवाग्वज्रकठोरपातश्चूर्णीचकार प्रतिवादिशैलान्॥१३॥
—तीर्थंकर महावीर और उनकी आ० पु० ४, पृ० ४११

२ श्रीगृद्धपिच्छमुनिपस्य बलाकपिच्छ ।
शिष्योऽजनिष्ट भुवनत्रयवर्त्तिकीर्ति ॥
चारित्रचचुरखिलावनिपालमौलि—
मालाशिलीमुखविराजितपादपद्म ॥
एव महाचार्यपरम्पराया स्यात्कारमुद्राकिततत्त्वदीप ।
भद्रस्समतादगुणतो गणीशस्समतभद्रोऽजनि वादिसिंह ॥
—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, पृ० १००

३ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, पृ० १८१।

४, श्रवणबेलगोला के दौरबलि जिनदासशास्त्री के भण्डार मे यह प्रति है।
—तीर्थंकर म० और उ०, भाग २, पृ० १७४

लेना। गुरु के आदेशानुसार समन्तभद्र ने नाग्न्यपद छोड़कर सन्यासी बन गये। इधर-उधर विचरण करते हुए वाराणसी मे शिवकोटि राजा के भीमलिंग नामक शिवालय मे जाकर शिवजी को खिलाने की बात कहते हुए कुछ दिन नैवेद्य स्वय खाने लगे। भेद खुल जाने से राजा ने निमित्त उपसर्ग समझकर चौबीस तीर्थंकरो की स्तुति प्रारम्भ की, जब ये चन्द्रप्रभ स्वामी की स्तुति कर रहे थे कि भीमलिंग शिव की प्रतिमा विदीर्ण हो गई और उनमे से चन्द्रप्रभ स्वामी की मनोज्ञ स्वर्णप्रतिमा प्रगट हो गई। समन्तभद्र स्वामी के इस माहात्म्य से बहुत ही धर्म की प्रभावना हुई।

श्रवणबेलगोल के एक अभिलेख मे लिखा है—

"वद्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटु पद्मावती देवता—
दत्तोदात्तपदस्वमत्रवचनव्याहूतचद्रप्रभ ॥
आचार्यस्स समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ।
जैन वर्त्म समन्तभद्रमभवद् भद्र समन्तान्मुहु[1]॥

जो अपने भस्मक व्याधि को दूर करने मे चतुर हैं, पद्मावती नामक देवी की दिव्यशक्ति के द्वारा जिन्हे उदात्त पद की प्राप्ति हुई, जिन्होने अपने मत्र वचनो से चन्द्रप्रभ को प्रगट किया और जिनके द्वारा यह कल्याणकारी जैनमार्ग इस कलिकाल मे भद्ररूप हुआ, वे गणनायक आचार्य समन्तभद्र बार-बार वन्दना किये जाने योग्य है। यह लेख शक सवत् १०२२ का है। कवि वृन्दावन भी कहते है—

स्वामी समतभद्रमुनिवर सो शिवकोटी हठ कियो अपार।
वदन करो शभुपिडी को तब गुरु रच्यो स्वयभू भार ॥
वदन करत पिंडिका फाटी[2] प्रगट भये जिनचंद्र उदार।
सो गुरुदेव बसो उर मेरे बिघन हरण मगल करतार ॥८॥

समतभद्र स्वामी की रचनाएँ—

बृहत्स्वयभूस्तोत्र, स्तुतिविद्या, देवागमस्तोत्र—आप्तमीमासा, युक्त्यनुशासन, रत्नकरडश्रावकाचार, जीवसिद्धि, तत्त्वानुशासन, प्राकृतव्याकरण, प्रमाणपदार्थ, कर्मप्राभृत टीका और गधहस्तिमहाभाष्य।

इनमे बृहत्स्वयंभू स्तोत्र का चमत्कार तो प्रसिद्ध ही है। स्तुतिविद्या, चित्रालकार रूप है और देवागम तो अपने आप मे एक विशेष ही महत्त्व-

---

१ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग २, पृ० १७६।
२. यह खडित हुई शिवपिंडी आज भी बनारस में विद्यमान है जिसकी ब्राह्मण लोग पूजा करते हैं।

पूर्ण कृति है। उमास्वामी आचार्य के तत्त्वार्थसूत्र के मगलाचरण—

'मोक्षमार्गस्य नेतार भेत्तार कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वनरवाना वदे तद्गुणलब्धये ॥'

इस श्लोक के ऊपर ११४ कारिकाओ मे आप्त की मीमासा-समीक्षा करते हुए सच्चे आप्त का निर्णय किया है। इसी आप्तमीमासा के ऊपर श्री अकलकदेव ने 'अष्टशती' नाम का भाष्य बनाया है और उस भाष्य को वेष्टित करके श्री विद्यानन्द आचार्य ने "अष्टसहस्री" नाम की टीका की है जो कि जैनदर्शन मे सर्वोपरि ग्रथ माना जाता है। इसका हिन्दी भाषा में अनुवाद करते हुए मैंने यह अनुभव किया है कि स्याद्वादमय सप्तभगो का जितना विस्तृत और सुन्दर विवेचन है उतना विस्तृत विवेचन वर्तमान के उपलब्ध अन्य ग्रन्थों मे नही पाया जाता है। इस प्रकार इन आचार्य ने अपने युग मे अतीव महान् कार्य करके वर्तमान के युग को एक विशेष देन दी है।

सिद्धसेनाचार्य

कवि और दार्शनिक के रूप मे सिद्धसेन प्रसिद्ध है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही परम्परायें इन्हे अपना-अपना आचार्य मानती है। आचार्य जिनसेन ने अपने आदिपुराण मे इन्हे कैसा आदर दिया है। देखिये—

"कवय सिद्धसेनाद्या वय च कवयो मता।
मणय पद्मरागाद्या ननु काचोऽपि मेचक ॥३९॥
प्रवादिकरियूथाना केसरी नयकेसर।
सिद्धसेनकविर्जीयात् विकल्पनखराकुर[1] ॥४२॥

पूर्व मे सिद्धसेन आदि अनेक कवि हो गये हैं, और मै भी कवि हूँ। पर दोनो मे इतना ही अन्तर है, जितना कि पद्ममणि और काच मे होता है। जो प्रवादी रूपी हाथियो के समूह के लिए सिंह के समान है। नैगम आदि नय ही जिनके केसर—अयाल तथा अस्ति-नास्ति आदि विकल्प ही जिनके तीक्ष्ण नाखून थे ऐसे वे सिद्धसेन कवि जयवन्त होवें।

"इनका समय कुछ विद्वानो ने विक्रम स० ६२५ के लगभग माना है।[2]" "सन्मति टीका के प्रारम्भ मे अभयदेवसूरि (१२वी शती ई०)

१ आदि पु० प० १, पृ० ९।

२. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, पृ० २११

ने भी इन्हे[१] 'दिवाकर' कहा है।

इनकी दो रचनायें प्रसिद्ध हैं—सन्मतिसूत्र और कल्याणमन्दिरस्तोत्र। सन्मतिसूत्र की गाथायें तो धवला, जयधवला टीका मे भी पाई जाती है और कल्याणमन्दिर स्तोत्र भी भक्तामर स्तोत्र जैसा प्रभावशाली चमत्कारिक है। बल्कि यह भक्तामर से पूर्व की रचना है।

इन आचार्य के विषय मे भी ऐसा एक अतिशय प्रसिद्ध है—सेनगण की पट्टावली मे निम्न वाक्य कहा है—

"(स्वस्ति) श्रीमदुज्जयिनीमहाकालसस्थापनमहाकाललिंगमहीधरवाग्वज्रदण्डविष्ट्याविष्कृत श्री पार्श्वतीर्थेश्वर प्रनिद्वद्व श्रीसिद्धसेनभट्टारकाणाम् ॥१४॥[२]"

उज्जयिनी नगरी मे महाकाल मन्दिर मे सस्थापित महाकाल (रुद्र) के लिंग रूपी पर्वत को अपने वचनरूपी वज्रदण्ड के द्वारा स्फोटित करके पार्श्वनाथ तीर्थंकर के बिब को प्रगट करने वाले श्री सिद्धसेन भट्टारक की जय होवे।

ऐसा ही लेख श्वेताम्बरो के यहाँ कई स्थल पर है—पट्टावली सारोद्धार मे—"तथा सिद्धसेनदिवाकरोऽपि जातो येनोज्जयिन्या महाकालप्रासादे रुद्रलिंगस्फोटन कृत्वा कल्याणमन्दिरस्तवनेन श्री पार्श्वनाथबिम्ब प्रकटीकृत्य श्रीविक्रमादित्यराजापि प्रतिबोधित श्रीवीरनिर्वाणात् सप्ततिवर्षाधिकशतचतुष्टये ४७० विक्रमे श्रीविक्रमादित्यराज्य मजात।[३]"

कवि वृन्दावन इस विषय मे सभा मे वाद-विवाद के प्रसङ्ग मे श्री पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रगट हुई कहते है—

"श्रीमत कुमुदचन्द्र मुनिवर सो, वाद परयो जहँ सभा मझार।
तबही श्री कल्याणधामथुति, श्रीगुरु रचना रची अपार॥
तब प्रतिमा श्रीपार्श्वनाथ की, प्रगट भई त्रिभुवन जयकार।
सो गुरुदेव बसो उर मेरे, विघन हरण मगल करतार॥७॥"

पूज्यपादाचार्य

कवि, वैयाकरण और दार्शनिक इन तीनो व्यक्तियो का एकत्र समवाय देवनन्दि पूज्यपाद मे पाया जाता है। श्रवणबेलगोल के शिलालेखो

१ तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भा० २, पृ० २०७
२ तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भा० २, पृ० २०९
३ तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भा० २, पृ० २०७

मे इनके नामो के सम्बन्ध मे उल्लेख मिलते है। यथा—[1]

यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्धया महत्या च जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजित पादयुग यदीय ॥८॥
जैनेन्द्रे निजशब्दभोगमतुल सर्वार्थसिद्धि परा।
सिद्धाते निपुणत्वमुद्धकविता जैनाभिषेक स्वक.॥
छदस्सूक्ष्मधिय समाधिशतकस्वास्थ्य यदीय विदा-
माख्यातीह स पूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीना गणे ॥९॥

अर्थात् जिनका देवनदो यह प्रथम नाम था, किन्तु बुद्धि की महत्ता के कारण जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और देवताओ के द्वारा इनके पादयुगल पूजित होने से पूज्यपाद इस सार्थक नाम को प्राप्त हुए है। इन्होने जैनेंद्र-व्याकरण, सर्वार्थसिद्धि, जैनाभिषेक, छन्दग्रथ समाधिशतक आदि ग्रथो की रचना की है।

देवकीर्तिपट्टावली मे इस श्लोको के पूर्व ७ वें श्लोक मे समतभद्र का नाम है। समतभद्र के पट्ट पर देवनदी को माना है। अर्थात् इस पट्टावली मे भद्रबाहु श्रुतकेवली, चद्रगुप्त, कोडुकद, गृद्धपिच्छाचार्य, बलाकपिच्छ, समतभद्र, पूज्यपाद-देवनदि, अकलक इत्यादि क्रम दिया गया है। श्रुतमुनि की पट्टावली मे भी समतभद्र के बाद पूज्यपाद पुन अकलक देव ऐसा क्रम है।"[3]

नदिसघ की पट्टावली मे कुदकुद, उमास्वामी, लोहाचार्य, यश कीर्ति, यशोनन्दी इनके बाद 'देवनंदि' को लिया है। एव विक्रम स० २५८ से ३०८ तक। इन्हे आचार्य पट्ट पर माना है।

श्रुतमुनि की पट्टावली मे इनके बारे मे कहा है कि—

"श्री पूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धि-
जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्र ।
यत्पादधौतजलसस्पर्शप्रभावा-
त्कालायस किल तदा कनकीचकार ॥१८७॥[4]

---

१ तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भा० २ पृ २१९।

२ यह 'अभिषेक पाठ सग्रह' पुस्तक मुद्रित हो चुकी है। जो कि 'जैनग्रन्थमाला-समिति' जयपुर से प्रकाशित है। इस अभिषेक पाठ को देखकर पथव्यामोह से पचामृताभिषेक के प्रति द्वेष रखने वालो को पथव्यामोह छोड देना चाहिए।

३ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—भा० ४, पृ० ३८४।

४ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परपरा—भा० ४, पृ० ३८४।

अर्थात् अप्रतिम औषधि ऋद्धि के धारी श्री पूज्यपाद मुनि जयशील होवें, विदेह क्षेत्र के जिनेन्द्र—सीमधर भगवान् के दर्शन से जिनका गात्र पवित्र हो चुका है और जिनके पाद प्रक्षालित जल के स्पर्श के प्रभाव से उस समय लोहा सोना हो गया था।

इनके बारे मे बहुत अनुश्रुतियाँ है। जैसे—"पूज्यपाद[1] स्वामी अपने पैरो मे गगनगामी लेप लगाकर विदेह क्षेत्र जाया करते थे, उस समय-उनके शिष्य वज्रनदि ने अपने साथियो के साथ झगडा करके द्रविड सघ की स्थापना की[2]।"

पूज्यपाद स्वामी बहुत दिनो तक योगाभ्यास करते रहे। फिर एक देवविमान मे बैठकर उन्होने अनेक तीर्थो की यात्रा की। मार्ग मे एक जगह उनकी दृष्टि नष्ट हो गई थी अतएव उन्होने 'शात्यष्टक' रचकर ज्यो-की-त्यो दृष्टि प्राप्त कर ली, यथा—

"श्रीप्रभाचन्द्राचार्य भी शात्यष्टक की टीका के प्रारभ मे कहते है—

श्रीपूज्यपादस्वामी[3] सजातचक्षुस्तिमिरादिव्याधिस्तद्विनाशार्थं श्री-शान्तिनाथस्य न स्नेहादित्यादिस्तुतिमाह"—जिनके नेत्रो मे तिमिर आदि व्याधि उत्पन्न हो गई है ऐसे श्री पूज्यपादस्वामी उसको दूर करने के लिए श्री शान्तिनाथ की 'न स्नेहात्' इत्यादि स्तुति करते है।

इस शात्यष्टक के आठवें श्लोक मे भी श्लेष अर्थ यही झलकता है।

"शान्ति शान्तिजिनेन्द्र ! शान्तमनसस्त्वत्पादपद्माश्रयात्,
सप्राप्ता पृथिवीतलेषु बहव शात्यर्थिन प्राणिनः।
कारुण्यान्मम भाक्तिकस्य च विभो दृष्टि प्रसन्ना कुरु,
त्वत्पादद्वयदैवतस्य गदत शान्त्यष्टक भक्तित ॥८॥[4]

अर्थात् हे शान्तिजिनेंद्र ! बहुत से शात्यर्थी प्राणी शान्तचित्त से आपके चरण कमलो का आश्रय लेकर इस पृथ्वी तल पर शान्ति को प्राप्त हो चुके है। हे प्रभो ! आपके पाद युगलरूपी देवता के भक्तिपूर्वक शान्त्य-ष्टक को पढते हुए मुझ भाक्तिक पर आप करुणा करके दृष्टि को प्रसन्न कीजिए अथवा मुझ भाक्तिक की दृष्टि को प्रसन्न—तिमिर[5] आदि दोषो

१ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परपरा–भाग ४, पृ० ४१२।

२ तीर्थङ्कर महावीर भाग २, पृ० २२१।

३ क्रियाकलाप, पृ० २६६।

४ क्रियाकलाप, पृ० २७०।

५ 'तिमिरदोषरहिता निर्मला कुरु'–क्रि० पृ० २७०।

से रहित निर्मल कीजिए।

अनुश्रुति ऐसी भी प्रचलित है कि एक बार ऋद्धि के बल से आकाश-मार्ग से आ रहे थे। मार्ग मे सूर्य की तीक्ष्ण किरणो से अकस्मात् नेत्र ज्योति चली गई। आप नीचे उतरकर शान्तिनाथ के चैत्यालय मे बैठकर शान्तिनाथ की स्तुति करने लगे, आठवे श्लोक को बोलते ही आपकी नेत्र ज्योति ज्यो-की-त्यो वापस आ गई। पुन आपने साक्षात् नेत्रो से शातिनाथ का दर्शन करके गद्गद होकर 'शांतिजिनं शशिनिर्मलवक्त्र' इत्यादि रूप से स्तुति की जो कि आज शात्यष्टक के साथ सम्मिलित है।

कुछ भी हो यह तो निश्चित ही है कि इनके नेत्र का तिमिर आदि रोग इस शांति भक्ति को करने मे निमित्त अवश्य था।

इनकी रचनायें जो कि वर्तमान मे उपलब्ध हैं—

दशभक्ति, जन्माभिषेक, सर्वार्थसिद्धि, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश, जैनेंद्र-व्याकरण और सिद्धिप्रियस्तोत्र। इनमे से—

दशभक्ति का पाठ तो साधुओ को नित्य नैमित्तिक क्रियाओ मे आता ही है। उनमे से जो प्राकृत दश भक्तियां है वे कुन्दकुन्दाचार्य की बनाई हुई हैं और सस्कृत दश भक्तियां पूज्यपाद स्वामी द्वारा रचित है।

अन्य विद्वान् भी कहते हैं—

"आपके जीवन की अनेक घटनायें है—(१) विदेहगमन, (२) घोर-तपश्चरणादि के कारण नेत्र ज्योति का नष्ट हो जाना तथा शात्यष्टक के निर्माण से पुन उसकी सप्राप्ति, (३) देवताओ द्वारा चरणो का पूजा जाना, (४) औषधि ऋद्धि की उपलब्धि, (५) पादस्पृष्ट जल से लोहे का सुवर्ण होना।

आपकी रचनाओ मे वैद्यक शास्त्र और सारसग्रह भी हैं। 'सारसग्रह के विषय मे धवलाटीका मे श्री वीरसेन स्वामी ने कहा है कि—"सार-सग्रहेऽप्युक्त पूज्यपादै ।[1]"

पूज्यपादस्वामी का समय वि० स० की पाचवी शताब्दी है। क्योकि आपके शिष्य वज्रनदी ने वि० स० ५२६ मे (४६९ ईस्वी) द्रविड सघ की स्थापना की ऐसा दर्शनसार मे कहा है। अत सभी विद्वान् इन्हे छठी शताब्दी का ही मानते है।

अकलंकदेव

मान्यखेट नगर के राजा शुभतुङ्ग के पुरुषोत्तम मन्त्री के दो पुत्र थे—

१ जैनधर्म का प्रा० इतिहास द्वि० भाग, पृ० ११८।

अकलक और निष्कलक। एक बार आष्टाह्निक पर्व मे माता-पिता के साथ मुनि के पास ब्रह्मचर्य व्रत लिया। यौवनावस्था मे पिता के आग्रह से भी विवाह न कर आजन्म बाल ब्रह्मचारी रहे। अकलक एकपाठी और निष्कलक दो पाठी थे। बौद्धो के धर्मद्वेष से निष्कलक ने अपना बलिदान कर दिया। आप कलिंग देश के रत्नसचयपुर मे पहुँचे। वहाँ के राजा हिमशीतल की रानी मदनसुन्दरी ने आष्टाह्निकपर्व मे अपना जैन रथ निकलवाने का निर्णय किया। शर्त यह हुई कि यदि कोई जैनगुरु शास्त्रार्थ मे बौद्धगुरु को पराजित कर दे तब जैन रथ निकल सकता है।[1]"

रानी सकट के समय चतुराहार त्याग कर मन्दिर मे निश्चल बैठ गई। ध्यान के प्रभाव से अर्द्धरात्रि मे पद्मावती देवी ने आकर बताया कि प्रात' ही यहाँ अकलक देव आयेंगे और वे ही सघश्री बौद्धगुरु का दर्प चूर्ण करेंगे। रानी ने प्रसन्न होकर भगवान् की स्तुति की और प्रात होते ही महाभिषेक पूजन किया। प्रात एक उद्यान मे उनके दर्शन करके निवेदन किया। अकलकदेव ने शास्त्रार्थ प्रारभ किया। बौद्धगुरु ने अपने वश का न समझकर अपनी इष्ट तारावती को घट मे स्थापित कर दिया और पर्दा डाल दिया। अकलकदेव तारादेवी को समझकर छह महीने तक शास्त्रार्थ करते रहे। अन्त मे चक्रेश्वरी देवी के कहे अनुसार तारादेवी को पराजित करके जैनधर्म की अपूर्व प्रभावना की।

इनकी रचनाये—स्वोपज्ञविवृति सहित लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय सविवृति, सिद्धिविनिश्चयसविवृति, प्रमाणसग्रहसविवृति तथा टीका ग्रथ—तत्त्वार्थवार्तिकसभाष्य और अष्टशती है। इसका बनाया हुआ एक स्तोत्र भी अकलक[2] स्तोत्र नाम से प्रसिद्ध है।

इनके समय के बारे मे भी विद्वान् एकमत नही है। जैनधर्म[3] के प्राचीन इतिहास मे परमानन्द शास्त्री ने इनका समय ईस्वी स० ७२० से ७८० सिद्ध किया है।

कई एक पट्टावलियो मे अकलक देव को पूज्यपाद का उत्तराधिकारी सिद्ध किया है। श्रुतमुनि की पट्टावली मे "श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धि" इत्यादि १७ वें श्लोक के बाद—

---

१ आराधना कथा कोश के आधार से।

२ सहस्रनामटीका मे

३ जैनधर्म का इतिहास द्वि० भाग, पृ० १४९।

"तत. परं शास्त्रविदा मुनीनामग्रेसरोऽभूदकलकसूरि ।
मिथ्याधकारस्थगिताखिलार्था प्रकाशिता यस्य वचोमयूखै ॥१७॥

अर्थात् पूज्यपाद स्वामी के बाद (उनके पट्ट पर) शास्त्रो के वेत्ता मुनियो मे अग्रसर अकलंकदेव हुए है।[1]"

देवकीर्ति पट्टावली मे भी पूज्यपाद के अनतर—'ततश्च' कहकर

अजनिष्टाकलक यज्जिनशासनमादित' ।
अकलकं वभौ येन सोऽकलको महामति. ॥१०॥

पूज्यपाद की छठी शताब्दी निर्णीत हो जाने से इनकी भी छठी या सातवी शताब्दी मानना ही उपयुक्त प्रतीत होना है।

मानतुंगाचार्य

"भट्टारक सकलचद्र के शिष्य ब्रह्मचारी 'रायमल्ल' कृत भक्तामरवृत्ति मे जो कि वि० स० १६६७ मे समाप्त हुई है लिखा है कि धाराधीश भोज की राजसभा मे कालिदास, भारवि, माघ आदि कवि रहते थे। मानतुग ने ४८ साकलो को तोडकर जैनधर्म की प्रभावना की तथा राजा भोज को जैनधर्म का उपासक वनाया। दूसरी कथा भट्टारक विश्वभूषणकृत भक्तामर चरित मे भी इसी प्रकार वतायी है कि 'आचार्य मानतुग' ने भक्तामर स्तोत्र के प्रभाव से अडतालीस कोठरियो के ताले तोडकर अपना प्रभाव दिखलाया।"

इनके समय के बारे मे भी विद्वानो की अनेक विचारधारायें है। एक विद्वान् इन्हे ईस्वी सन् ७ वी शताब्दी का कहते है तो एक विद्वान् इन्हे ११वी शताब्दी का कहते है। परमानन्द शास्त्री ने अपने जैनधर्म के प्राचीन इतिहास[2] मे इन्हे ११वी शताब्दी का ही निश्चित किया है।

भक्तामर स्तोत्र और भयहर स्तोत्र ये दो रचनायें इनकी मानी गई है। भक्तामर स्तोत्र तो इतना प्रसिद्ध और अतिशय पूर्ण है कि शायद ही कोई ऐसा दिगम्बर या श्वेतावर जैन होगा जो कि इसे न जानता हो।

श्रीवीरसेनाचार्य

इसी प्रकार से "आचार्य वीरसेन ने पट्खण्डागम और कषायपाहुड ग्रन्थराज पर धवला और जयधवला नाम की टीकायें रची है। इनकी

---

१ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भा० ४, पृ० ४१२।

२ जैनधर्म का इतिहास द्वि० भाग, पृ० १३४।

जयधवला टीका को पूर्ण करने का श्रेय आचार्य जिनसेन को रहा है। जिनसेन ने जयधवला टीका को शकसंवत्, ७५९ की फाल्गुन शुक्ला दशमी को पूर्ण किया है। इससे वीरसेन का समय ई० सन् की नवमी शताब्दी ही है।[1]"

जिनसेनाचार्य

जिनसेन स्वामी अविद्धकर्ण (कर्ण सस्कार के पूर्व) ही जैनेश्वरी दीक्षा ले ली थी ऐसा जयधवला टीका के अन्त मे दी गई दो पद्य रचनाओ से स्पष्ट होता है। इनकी बनाई हुई तीन ही रचनायें उपलब्ध है—पार्श्वाभ्युदय, आदिपुराण और जयधवला टीका।

गुणभद्राचार्य

जिनसेन स्वामी महापुराण के ४२ पर्व तक लिखते है। अनन्तर उनके पश्चात् उनके इस पुराण को श्री गुणभद्रसूरि पूर्ण करते हुए उत्तरपुराण की रचना करते है। अर्थात् महापुराण मे ५ पर्व की और रचना करके अनन्तर उत्तरपुराण की रचना की है। अत गुणभद्र सूरि का समय भी ईस्वी सन् की दशवी शताब्दी है,। इनकी रचनायें महापुराण का शेष और उत्तरपुराण, आत्मानुशासन और जिनदत्त चरित काव्य ये तीन है।"

एक पचामृताभिषेक पाठ[2] भी इनका बनाया हुआ मुद्रित हो चुका है। प० पन्नालालजी सोनी ने अनेको प्रमाणो से स्पष्ट कर दिया है कि ये पचामृतअभिषेक के कर्ता 'गुणभद्रभदत' ये ही है, भिन्न नही है।

चूँकि जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय मे एक श्लोक है—

"वीराचार्यसुपूज्यपाद जिनसेनाचार्यसभाषितो।
य पूर्वं गुणभद्रसूरि वसुनन्दीन्द्रादिनद्यूर्जित ॥
यश्चाशाधरहस्तिमल्लकथितो यश्चैकसधीरित ।
तेभ्य स्वाहृतसारमार्यरचित स्याज्जैनपूजाक्रम ॥१९॥[3]"

पूजासार मे भी कहते है—

"वीरसेन जिनसेनसूरिणा पूज्यपादगुणभद्रसूरिणा।
इद्रनदिगुरुणैकसधिना जैनपूजनविधि प्रभाषित ॥

---

१ तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भा० २, पृ० ३२१ से

२ 'पचामृताभिषेक पाठ सग्रह' जयपुर से प्रकाशित।

३ पचामृताभिषेक पाठ सग्रह का प्रारम्भिक वक्तव्य, पृ० १६।

जिनसहिता मे एक सन्धि लिखते है—

"पूज्यपादगुणभद्रसूरिभिर्वज्रपाणिभिरपि प्रपूजिते ।
मन्त्रवद्धनमप्युदारित शस्यतेऽत्र सकलेऽपि कर्मणि ॥"

इन सभी श्लोको से स्पष्ट हो जाता है कि जिनसेन के शिष्य गुणभद्रसूरि ने यह अभिषेक पाठ वनाया है।

आचार्य विद्यानन्द

आचार्य विद्यानन्द भी एक महान् तार्किक विद्वान् हो चुके है। विद्वानो ने इनका समय ईस्वी सन् ७७५ से ८४० तक प्रमाणित किया है अत' ये ई० स० नवमशती के आचार्य है।

इनकी रचनाएँ—आप्तपरीक्षा स्वोपज्ञविवृतिसहित, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र, विद्यानन्द महोदय ये स्वतन्त्र कृतियां है और अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, युक्त्यनुशासन ये टीका ग्रन्थ है।

देवसेनाचार्य

ये आचार्य वि० स० ९९० मे हुए है। दर्शनसार, भावसग्रह, आलापपद्धति, लघुनयचक्र, आराधनासार और तत्त्वसार ये इनकी रचनाएँ प्रसिद्ध है। दर्शनसार मे जैनधर्म मे अनेको मत-मतान्तर कब और कैसे उत्पन्न हुए—इस पर प्रकाश डाला है। भावसग्रह मे भावो के माध्यम से गुणस्थानो का वर्णन करते हुए पचमगुणस्थानवर्ती श्रावको की क्रियाओ का पर्याप्त वर्णन किया है। आलापपद्धति और नयचक्र मे नयों का वर्णन है। आराधनासार मे चार आराधनाओ का तथा तत्त्वसार मे स्वतत्त्व और परतत्त्व का विवेचन है।

अमृतचन्द्रसूरि

श्री अमृतचन्द्रसूरि ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय आर तत्त्वार्थसार, समयसार कलश ग्रन्थ लिखे है। तथा समयसार टीका, प्रवचनसार टीका और पचास्तिकाय की टीका लिखी है। इनका समय [1]पट्टावली के अनुसार विक्रम स० ९६२ हें।

आचार्य श्री नेमिचन्द्र

ये आचार्य षट्खण्डागम के ज्ञाता होने से 'सिद्धान्त चक्रवर्ती' कहे

---

१ तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, पृ० ४०५।

जाते हैं। इनके रचित ग्रन्थ-गोम्मटसार जीवकाड, गोम्मटसार कर्मकाड, त्रिलोकसार, लब्धिसार और क्षपणासार प्रसिद्ध है। इनका समय वि० सं० की ११वी शती का पूर्वार्ध माना जाता है।

इसी प्रकार से और भी अगणित आचार्य हुए हैं जिन्होने स्वहित साधना करते हुए परहित हेतु अनेको ग्रन्थ रचे हैं। जो कि आज हमे उपलब्ध होकर जिनवाणी रूपी अमृत का पान करा रहे हैं। बहुत से ऐसे भी आचार्य और दिगम्बर मुनि हुए हैं, जिन्होने ग्रन्थ रचना नही की है किन्तु सघ सचालन मे ही निरत रहे है तथा कोई-कोई मात्र स्वहित मे ही तत्पर रहे हैं।



नाना मत-मतान्तर

इस [1]हुडावसर्पिणी के दोष से तृतीय, चतुर्थ और पचमकाल मे अनेको मत-मतान्तर प्रचलित हो जाते हैं। कुदेव और कुलिंगी साधु भी दिखने लगते हैं। विदेह क्षेत्र मे आज भी द्रव्य मिथ्यात्व नही है। यथा—

"उदुवरफलो के सदृश धर्माभाम वहाँ नही सुने जाते। शिव, ब्रह्मा, विष्णु, चण्डी, रवि, शशि व बुद्ध के मन्दिर वहाँ नही है। यह देश पाखड सप्रदायो से रहित और मम्यग्दृष्टि जनो के समूह से व्याप्त है। विशेष इतना है कि वहाँ किन्ही जीवो के भाव मिथ्यात्व विद्यमान रहता है[2]।"

निष्कर्ष यह निकलता है कि स्वर्गो मे, भोगभूमियो मे, विदेह क्षेत्रो मे और विजयार्ध पर्वत की श्रेणियो पर होने वाली विद्याधर नगरियो मे कुदेव, कुगुरु आदि रूप द्रव्य मिथ्यात्व नहीं रहता है। भरत-ऐरावत क्षेत्रो मे भी अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी के चतुर्थ पचम काल मे भी द्रव्य मिथ्यात्व नही रहता है। चूँकि हुडावसर्पिणी के दोष से ही इसकी उत्पत्ति मानी है। अत अनादिकाल से लेकर अनन्तकाल तक सर्वत्र जैनधर्म और दिगम्बर सम्प्रदाय ही रहती है। हाँ, भाव मिथ्यात्व तो नवग्रैवेयक तक सर्वत्र सर्वकाल रहता ही है।

विभिन्न मतमतान्तरों की उत्पत्ति कब और कैसे ?

इस युग की आदि मे सबसे प्रथम भगवान् वृषभदेव के साथ विना कुछ जाने वूझे चार हजार राजाओ ने दीक्षा ले ली थी। भगवान् के छह महीने के योग के प्रसग मे वे सब भूख प्यास से व्याकुल हो गए और वन के कदमूल फल भक्षण करने लगे तथा नदियो का पानी पीने लगे। तब वनदेवता ने कहा कि इस अर्हन्त वेश मे आप लोगो की यह स्वच्छद प्रवृत्ति

१ हुडावसप्पिणी सा एक्का जाएदि चिण्हमिम ।१६१५।।

• ••.... ••

तदियचदुपचमेसु कालेसु परमधम्मणासयरा ।

विविहकुदेवकुलिंगी दीसते दुट्ठपाविट्ठा ॥१६२१॥—तिलोयप० पृ० ३५५

२ अवदुवरफलसरिसा धम्माभासा ण तत्थ सुव्वति ।

मिववम्मविण्हुचडीरविससिवुद्धाण ण पुराणि ॥२२५२॥

पासडममयचत्तो सम्माइट्ठीजणोघसछण्णो ।

णवरि विसेसो केंसि पयट्ठदे भावमिच्छत्त ॥२२५३॥—तिलोयप० पृ ४२९

नहीं चल सकती है। तब उन लोगो ने भीतिवश अनेको वेष बना लिए। किसी ने वल्कल पहने, किसी ने जटायें बढाईं, किसी ने भस्म रमाई आदि। एक हजार वर्ष बाद भगवान् को केवलज्ञान होने पर समवसरण मे सभी भ्रष्ट तापसियो ने[1] दिगम्बर दीक्षा ले ली किन्तु भगवान् वृषभदेव का प्रपौत्र-भरतचक्री के पुत्र मरीचिकुमार ने पुन दीक्षा नही ली वह तीन सौ त्रेसठ पाखण्डमतो मे अग्रणी हो गया। कहा भी है—

मिथ्यात्व से कलकित, महामोह से सहित वृषभदेव के पुत्र का पुत्र पूर्वसूरियो के द्वारा सभी पाखडियो मे अग्रेसर गिना गया है[2]।"

इन पाखड मतो मे मूल पाँच भेद है—एकान्त, सशयिक, विपरीत, विनय और अज्ञान।

एकान्तमत प्रस्थापक—"श्री पार्श्वनाथ के शासनकाल मे सरयू-नदी के किनारे पलास नगर मे रहने वाला पिहितास्रव मुनि का 'शिष्य' बुद्धिकीर्ति नाम का एक मुनि था। वह मछली का मास खाकर अपनी तपस्या से भ्रष्ट हो गया और उसने रक्तवस्त्र धारण करके एकान्त मत चलाया। उसने कहा कि मरे हुए जीवो के मास मे जीव नही है और मद्य भी द्रव पदार्थ है उसके पीने मे भी दोष नही है। कर्म अन्य ही करता हैं और उसका फल अन्य ही भोगता है ऐसा कहकर उसने क्षणिक एकात बौद्धमत की स्थापना की थी[3]।"

संशयमत प्रस्थापक—"विक्रम राजा के मरने के १३६ वर्ष बाद सौराष्ट्र देश के वल्लभीनगर मे श्वेताबर मत उत्पन्न हुआ है। श्री भद्रबाहु श्रुतकेवली के शिष्य शान्ति नाम के आचार्य थे। उनके शिष्य जिनचन्द्र ने यह मत चलाया है[4]।"

---

१ मरीचिवर्ज्या. सर्वेऽपि तापसास्तपसि स्थिता।
भट्टारकाते सबुद्धय महाप्राव्राज्यमाश्रिता ॥
—आदि पु० प० २४, पृ० ५९२

२ उसहजिणपुत्तपुत्तो मिच्छत्तकलकिदो महामोहो।
सव्वेसि भट्टाण धुरि गणिओ पुव्वसूरीहि ॥८॥ —दर्शनसार

३ सिरिपासणाहतित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो।
पिहितासवस्स सिक्खो महासुदो बुड्ढकित्तिमुणी ॥६॥ —दर्शनसार

४ छत्तीसे वरिससये विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो सघो ॥११॥
॥१२ से १५ ॥ तक। —दर्शनसार

इन्होने स्त्रियो को इसी भव से मोक्ष, केवलियो को कवलाहार, वस्त्र सहित यतियो की मोक्ष वीरप्रभु का गर्भ परिवर्तन आदि अनेकों अघटित बातें मानी हैं।

"राजा विक्रम के मरने के १३६ वर्ष बाद सोरठ देश के वलभी-नगर मे श्वेतपट उत्पन्न हुआ है। सो सुनो—उज्जयिनी नगर मे अष्टाग महानिमित्त शास्त्र के ज्ञाता भद्रबाहु आचार्य थे। उन्होने निमित्तज्ञान जानकर अपने सघ से कहा कि इस देश मे बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पडेगा। इसलिए आप लोग अपने-अपने सघ सहित दूसरे देशों मे चले जावो। आचार्य के वचन सुनकर समस्त गणधर-गणनायक अपने-अपने सघ को लेकर सुभिक्ष वाले देशो मे चले गये।

उन आचार्यो मे एक शान्तिचन्द्र आचार्य थे वे अपने अनेक शिष्यों सहित सोरठ देश के वलभीनगर मे पहुँचे। तब वहाँ भी भयंकर दुर्भिक्ष पड गया। यहाँ तक कि क्रूर निर्धन भिक्षुक आदि दूसरों के उदर को विदीर्ण कर उसमे का अन्न खाने लगे। इसी निमित्त से शातिचन्द्र के समस्त सघ ने कवल, दंड, कुडी और ओढने के लिये श्वेत चादर धारण कर लिया और दीनवृत्ति मे घर-घर मे भिक्षा लाकर अपनी वसतिका मे बैठकर खाने लगे। अनतर जब सुभिक्ष हो गया तब आचार्य शातिचद्र ने अपने सघ मे कहा कि अब यह कुत्सित आचरण छोडो और फिर से मुनि दीक्षा लेकर शास्त्रोक्त आचरण पालो। यह सुनकर उनके मुख्य शिष्य जिनचद्र ने कहा कि अब ऐसे कठिन दुर्धर आचरणो को कौन धारण कर सकता है इसलिए इस दु षमकाल मे हम अब इन धारण किए हुए आच-रणो को नही छोड सकते। पुन शातिचद्र के समझाने पर जिनचद्र ने क्रोधित हुए डडे से गुरु का सिर फोड दिया वे मरकर व्यतर हो गये। इधर जिनचद्र सघ का आचार्य बन गया। जब व्यतर ने पुन निर्ग्रन्थ लिंग की प्रेरणा दी और नही मानने पर उपसर्ग किया तब शातिहेतु जिनचद्र ने गुरु की अष्टद्रव्यो से पूजा की। आज भी श्वेताबरो मे वह पूजा प्रचलित है।"[1]

---

१ छत्तीसे वरिससये विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे उप्पण्णो सेवटसघो हु वलहीए ॥१३७॥
॥१३८ से १६०॥ —भावसग्रह

मृते विक्रमभूपाले षट्त्रिंशदधिकशते।
गतेऽब्दानामभूल्लोके मत श्वेताबराभिधम् ॥५५॥
—भद्रबाहुचरित, च० परिच्छेद

विपरीत मत संस्थापक

मुनिसुव्रतनाथ के शासन मे क्षीरकदंब उपाध्याय का शिष्य वसु और पुत्र पर्वत ये दोनो दुष्टात्मा हुए हैं। इन्होने विपरीत मत की स्थापना करके नरक गति को प्राप्त किया है। अर्थात् 'अजैर्यष्टव्य' सूत्र के अज शब्द का बकरा अर्थ करके (बकरे से होम करना चाहिए) पर्वत ने विपरीत मिथ्यात्व चलाया है।

वैनयिक मत संस्थापक

सभी तीर्थंकरो के काल मे वैनयिक मिथ्यात्व प्रगट हुआ है। इनमे कोई जटासहित, कोई मुडितशिर, कोई शिखाधारी और कोई नग्न भी रहते है। ये कहते है कि दुष्ट और गुणवान् सभी की समान विनय करना चाहिए।[1]"

अज्ञान मत संस्थापक

"पार्श्वनाथ के शासन के गण का शिष्य मस्करीपूरण नाम का साधु बहुश्रुतधारी था। इसने वीरप्रभु के तीर्थ मे लोगो मे अज्ञान मत चलाया। इसका कहना कि अज्ञान से ही मोक्ष होगी। सपूर्ण विश्व का कर्ता-विधाता कोई एक ही है। शून्य का ध्यान–प्रतिमा के बिना ही निराकार शून्य का चिन्तन करना चाहिए। यह मदिरा मे आसक्त होता हुआ दुर्गति को चला गया है।[2]"

"भगवान् पार्श्वनाथ के शासन मे मस्करीपूरण नाम के एक मुनि थे। वे ग्यारह अग पाठी थे, भगवान् वीर प्रभु के समवसरण मे आये किन्तु गणधर के अभाव मे भगवान् की दिव्य ध्वनि नही खिरी। पुन गौतम ने आकर दीक्षा ले ली, मन पर्ययज्ञानी हो गये। तत्क्षण वीरभगवान् की दिव्य ध्वनि खिरने लगी यह देख मस्करीपूरण समवसरण से बाहर निकल आया। उसने भगवान् की दिव्यध्वनि नही सुनी और लोगो से कहने लगा, देखो! मै ग्यारह अगपाठी समवसरण मे बैठा रहा था तब दिव्यध्वनि नही खिरी और जब उनके शिष्य गौतम आ गये तब दिव्यध्वनि प्रगट हो गई। वह गौतम जिनेंद्रदेव कथित शास्त्रो को नही जानता है। वह तो वेदो का ज्ञाता है। उसने आकर दीक्षा ले ली इसलिए भगवान् की वाणी

---

१ सव्वेसु य तित्थेसु य वेणइयाण समुब्भवो अत्थि।
सजडा मुंडियसीसा सिहिणो णगा य केई य ॥१८॥ —दर्शनसार

२ सिरिवीरणाहतित्थे बहुस्सुदो पाससघगणिसीसो।
मक्कडिपूरणसाहू अण्णाण भासए लोए ॥२०॥ —दर्शनसार

खिरने लगी । इसलिए ऐसा मालूम होता है कि ज्ञान से मोक्ष नही होता है बल्कि अज्ञान से ही मोक्ष होता है । ससार मे देव कोई नही है अत तुम लोग शून्य का ध्यान करो । इत्यादि रूप से इसने अज्ञानमत चलाया ।[1]

अन्य जो द्राविडसघ आदि उत्पन्न हुए है उनके प्रवर्त्तको का वर्णन–

द्राविडसंघ

"श्री पूज्यपाद के शिष्य, वज्रनदी नाम के मुनि ने द्राविडसघ की स्थापना की है । ये विक्रमराजा के स्वर्गस्थ होने के ५२६ वर्ष के बाद दक्षिण मथुरा मे (मद्रास प्रात मे) हुए हैं । इन्होने अप्रासुक चने आदि को खाने का, अगालित जल मे स्नान आदि का निरूपण किया है ।[2]"

यापनीय सघ

"विक्रम राजा के मरने के ७०५ वर्ष बाद कल्याण नगर मे श्वेतपट धारियो मे से श्रीकलश नाम के साधु से 'यापनीय' नाम का सघ प्रगट हुआ है[3] ।"

अन्यत्र भी कहा है—"करहाटक नगर मे भूपाल नामक राजा की नृकुल देवी रानी थी । किसी समय रानी ने कहा हे नाथ ! मेरे पिता के नगर मे गुरु है उन्हे आप बुलाइए । राजा ने अपने बुद्धिसागर मत्री को उन्हे लेने भेजा । मन्त्री उन्हे लिवा लाया । जब राजा ने उन्हे दूर से देखा कि ये दण्ड पात्रादि नवीन मत के धारक है वह विना दर्शन किये वापस लौट आया । तब रानी ने उन गुरुओ से जाकर प्रार्थना की कि हे भगवन् ! मेरे आग्रह से आप सब परिग्रह छोडकर पहले ग्रहण की हुई पवित्र निर्ग्रन्थ अवस्था ग्रहण कीजिए । तब उन श्वेताम्बर साधुओ ने वस्त्रादि परिग्रह छोडकर हाथ मे पिच्छी कमडलु लेकर दिगम्बरी दीक्षा ले ली । तब राजा भी उनके दर्शनार्थ जाकर उन्हे अपने शहर मे लिवा

---

१ मसयपूरणरिसिणा उप्पण्णो पासणाहतित्थम्मि ।
सिरिवीरसमवसरणे अगहियझुणिणा णियत्तेण ॥१६१॥
॥१६२ से १६४॥ तक —भावसग्रह

२ सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसघस्स कारगो दुट्ठो ।
णामेण वज्जणदी पाहुडवेदी महासत्तो ॥२४॥
पचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
दक्खिणमहुराजादो दाविडसघो महामोहो ॥२८॥ —दर्शनसार

३ कल्लाणे वरणयरे सत्तसये पच उत्तरे जादे ।
जावणिय सघभावो सिरि कलसादो हु सेवडादो ॥२९॥ —दर्शनसार

लाया। उस समय ये साधु दिगम्बर वेष धारण कर भी श्वेताम्बर मत के समान आचरण करने लगे। गुरूपदेश के विना नट के समान उपहास का कारण लिंग धारण किया और फिर कितने दिनो बाद इन्ही कुमार्गियो से यापनीय सघ निकला[1]।"

पुन इसी मिथ्यात्व मोह से मलीन श्वेताम्बर मत से शुभ कार्य पराड् मुख कितने ही मत प्रचलित हो गये। उनमे से कितने तो अहकार के वश से, कितने अपने आप आचरण धारण करने से, कितने अपने-अपने आश्रय के भेद से तथा कितने ही अपने खोटे कर्म के उदय से निकले। इसी तरह अनेको मतो का आविर्भाव हो गया।

"महाराज विक्रम की मृत्यु के १५२७ वर्ष बाद धर्म कर्म का सर्वथा नाश करने वाला एक लुकामत (ढूंढियामत) प्रगट हुआ। गुजरात मे अणहल नगर है। वहाँ प्राग्वाट (कुलबी) कुल मे लुका नामक एक श्वेताबरी[2] हुआ। उसने जिनप्रतिमा की पूजा, दान आदि कर्मों का विरोध करके लुका मत चलाया है।

पुन उस मत मे भी कलिकाल के निमित्त से अनेको भेद हो गये है।'

काष्ठा संघ की उत्पत्ति

श्री वीरसेनाचार्य के शिष्य जिनसेन हुए। उनके शिष्य गुणभद्रसूरि हुए जो कि महातपस्वी और भावलिंगी मुनि थे। इन्होने विनयसेन मुनि को सिद्धान्त का अध्ययन कराकर स्वर्ग प्राप्त किया। इन विनयसेन के शिष्य कुमारसेन हुए जो कि नदीतट नामक ग्राम मे रहते थे। इन्होने सन्यास ग्रहण करने के बाद उसे भग करके प्रायश्चित्तरूप पुनर्दीक्षा नही ली। इन कुमारसेन मुनि ने मयूरपिच्छिका छोडकर चमरीकेशो की पिच्छिका ग्रहण कर ली और बागड प्रात मे अपना मत चलाया।

इन्होने स्त्रियो की पुनर्दीक्षा, क्षुल्लको को वीरचर्या, चमरीगाय के

---

१ अथास्ति करहाटाक्ष द्रग द्रविण सभृत ॥१३७॥

धृतदिग्वाससा रूपमासार मितवाससाम् ॥१५३॥
गुरुशिक्षातिग लिंग नटवद् भडिमास्पद।
ततो यापनसघोऽभूत्तेषा कापथवर्तिनाम् ॥१५४॥ —भद्रबाहु च० परि० ४

२ मृते विक्रमभूपाले सप्तविंशतिसयुते।
दशपचशतेऽब्दानामतीते श्रृणुतापरम् ॥१५७॥
लुकामतमभूदेक लोपक धर्मकर्मण।
देशेऽत्र गौर्जरे ख्याते विद्वत्ताजितनिर्जरे ॥१५०॥ —भद्रबाहु च० परि० ४

५. वर्तमान में निर्दोष मुनि

इस युग मे निर्दोष साधु समुदाय रहेगा

कुंदकुदादि निर्गंथाचार्य स्वयं पचमकाल मे हुए हैं और उन्होने स्वय पंचमकाल मे निर्दोष मुनियो का अस्तित्व सिद्ध किया है—

भगवान् श्री कुन्दकुन्ददेव कहते हैं—

"इस भरतक्षेत्र मे और पचमकाल मे आत्मस्वभाव मे स्थित होने पर साधु को धर्मध्यान होता है। जो इस बात को नही मानते हैं वे अज्ञानी हैं। आज भी रत्नत्रय से शुद्ध साधु आत्मा का ध्यान करके इद्रपद अथवा लोकातिक पद को प्राप्त कर लेते है और वहां से च्युत होकर मोक्ष चले जाते हैं[1]।"

अन्यत्र भी कहा है—"इस कलिकाल मे भी कही कोई पुण्यशाली मुनि होते है जो कि मिथ्यात्व आदि कलक पक से रहित हैं, सच्चे धर्म की रक्षा करने मे मणिस्वरूप हैं, अनेक परिग्रह के विस्तार को छोड़ चुके है और पापरूपी वन को दग्ध करने मे पावकस्वरूप है। सो ये मुनि वर्तमानकाल मे भूतल पर पूजे जाते है पुनः स्वर्ग मे देवो द्वारा पूजे जाते है[2]।"

श्री गुणभद्र स्वामी कहते है—

"जो स्वयं मोह को छोडकर कुलपर्वत के समान पृथ्वी का उद्धार अथवा पोषण करने वाले है, जो समुद्रो के समान स्वय धन की इच्छा से रहित होकर रत्नों की निधि खान अर्थात् स्वामी हैं, तथा जो आकाश के

---

१ भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाण हवेइ साहुस्स।
त अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥७६॥
अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इदत्त।
लोयत्तियदेवत्त तत्थ चुदा णिव्वुदिं जति ॥७७॥
—मोक्षपाहुड पृ० २७५

२ कोऽपि क्वापि मुनिर्बभूव सुकृती काले कलावप्यल।
मिथ्यात्वादिकलकपकरहित सद्धर्मरक्षामणि ॥
सोऽय सप्रति भूतले दिवि पुनर्देवैश्च सपूज्यते।
मुक्तानेकपरिग्रहव्यतिकर पापाटवीपावकः ॥२४१॥
—नियमसार गा० १५४, टीका

समान व्यापक होने से किन्ही के द्वारा स्पर्शित न होकर विश्व की विश्राति के लिए हैं ऐसे अपूर्व गुणो के धारक चिरन्तन-महामुनियो के शिष्य-निकट रहनेवाले, सन्मार्ग के अनुष्ठान मे तत्पर कितने ही साधु आज भी विद्यमान हैं।[1]"

वर्तमान मे साक्षात् केवली भगवान् व श्रुतकेवली नही हैं। फिर भी उनके वचन और उन वचनो के अनुरूप प्रवृत्ति करने वाले साधु विद्यमान है। श्री पद्मनन्दि आचार्य कहते हैं—

सम्प्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूडामणि:,
तद्वाच परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्द्योतिका. ।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तासा समालम्बनं,
तत्पूजा जिनवाचि पूजनमत साक्षाज्जिनः पूजित. ॥६८॥

इस समय इस कलिकाल में भरत क्षेत्र के भीतर त्रैलोक्य चूडामणि केवली भगवान् विराजमान नही हैं। फिर भी लोक को प्रकाशित करने वाले उनके वचन तो वहाँ विद्यमान हैं ही और उनके वचनो को आश्रय-अवलवन लेने वाले सद् रत्नत्रयधारी श्रेष्ठ यतिगण मौजूद हैं। इसलिये उन मुनियो की पूजा जिनवचनो की ही पूजा है और साक्षात् जिनदेव की ही पूजा की गई है ऐसा समझना।[2]"

पूर्वाचार्यों ने मुनियो के प्रति श्रावको के लिए क्या आदेश दिया है—

इस कलिकाल में मनुष्यो का चित्त चचल रहता है और शरीर अन्न का कीडा बना हुआ है। यह वडे आश्चर्य की वात है कि जो आज भी जिनरूप को धारण करने वाले मनुष्य विद्यमान हैं। जैसे लेपादि—पाषाण वगैरह से निर्मित जिनेन्द्रदेवो की प्रतिमायें पूज्य है वैसे ही आज-कल के मुनियो को भी पूर्वकाल के मुनियो की प्रतिकृति मानकर पूजना चाहिये।

आहारमात्र प्रदान के लिये तपस्वियो की परीक्षा क्या करना? वे सज्जन हो या दुर्जन। गृहस्थ तो दान से शुद्ध हो जाता है। सब तरह के

---

१ भर्तार कुलपर्वता इव भुवो मोह विहाय स्वय,
रत्नाना निधय पयोधय इव व्यावृत्तवित्तस्पृहा ।
स्पृष्टा कैरपि नो नभो विभुतया विश्वस्य विश्रातये,
सन्त्यद्यापि चिरतनातिकचरा सन्त. कियन्तोऽप्यमी ॥३३॥

—आत्मानुशासन

२ पद्मनंदिपर्चविंशतिका पृ० ३० ।

आरंभ में प्रवृत्त हुए गृहस्थों का धनव्यय वहुत प्रकार से हुआ करता है। इसलिये अत्यर्थं सोच-विचार नही करना चाहिये। मुनिजन जैसे-जैसे तप, ज्ञान आदि गुणो से विशेष होवें, वैसे-वैसे गृहस्थो को उनकी अधिक पूजा (समादर) करना चाहिये। धन वडे भाग्य से मिलता है। अत. भाग्यशाली पुरुषो को आगमानुकूल कोई मुनि मिले या न मिले, किन्तु उन्हे अपना धन जैन-धर्माश्रितो में अवश्य खर्च करना चाहिये। जिनेंद्रदेव का यह शासन अनेक प्रकार के ऊँच और हीन जनो से भरा हुआ है। जैसे मकान एक खम्भे पर नही ठहर सकता है वैसे ही यह शासन—जैन-धर्म भी एक पुरुष के आश्रय से नही ठहर सकता है।[1]

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप की अपेक्षा से मुनि चार प्रकार के होते हैं और वे सभी दान, सन्मान आदि के योग्य है। गृहस्थो को पुण्य उपार्जन करने में जिनविम्बो के समान उन चार प्रकार के मुनियो में उत्तरोत्तर रूप से विशेष-विशेष विधि हो जाती है।"

---

१ काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके।
एतच्चित्र यदद्यापि जिनरूपधरा नरा' ॥७९६॥
यथापूज्य जिनेन्द्राणा रूप लेपादिनिर्मितम्।
तथा पूर्वमुनिच्छाया पूज्या सप्रति सयता ॥७९७॥
भुक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपस्विना।
ते सन्त सन्त्वसतो वा गृही दानेन शुद्धयति ॥८१८॥
सर्वारम्भप्रवृत्ताना गृहस्थाना धनव्यय।
वहुधास्ति ततोऽत्यर्थं न कर्तव्य विचारणा ॥८१९॥
यथा यथा विशिष्यते तपोज्ञानादिभिर्गुणै।
तथातथाधिक पूज्या मुनयो गृहमेधिभि ॥८२०॥
दैवाल्लब्ध धन धन्यैर्वप्तव्य समयाश्रिते।
एको मुनिर्भवे लभ्यो न लभ्यो वा यथागमम् ॥८२१॥
उच्चावचजनप्राय समयोऽय जिनेशिनाम्।
नैकस्मिन्, पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालय ॥८२२॥
ते नामस्थापनाद्रव्यभावन्यासैश्चतुर्विधा।
भवति मुनय' सर्वे दानमानादिकर्मसु ॥८२३॥
उत्तरोत्तरभावेन विधिस्तेषु विशिष्यते।
पुण्यार्जने गृहस्थाना जिनप्रतिकृतिष्विव ॥८२४॥

—उपासकाध्ययन

अन्यत्र भी कहा है—

"इस कलिकालरूपी वर्षाकाल मे सपूर्ण दिशायें मिथ्या उपदेशरूपी बादलो से व्याप्त हो रही है, बडे खेद की बात है कि ऐसे समय मे सदुपदेश देने वाले गुरु जुगुनू के समान क्वचित्-क्वचित् ही चमकते है।

अत क्या करना चाहिए ? सो ही बताते है—

जैसे पाषाण आदि की प्रतिमाओ मे जिनेंद्रदेव की स्थापना करके पूजते है वैसे ही ऐदयुगीन—आजकल के मुनियो मे पूर्व के मुनियो की स्थापना करके भक्ति से उनकी अर्चा करिये। क्योकि अतिचर्चा—अतिक्षोदक्षेम करने वालो का हित कैसे हो सकता है ?[1]"

पंचम काल के अन्त तक चतुर्विध सघ का अस्तित्व रहेगा तभी तक धर्म भी रहेगा और तभी तक राजा का अस्तित्व सुना जायेगा तथा अग्नि का अस्तित्व भी तभी तक रहेगा। चतुर्विध सघ के अभाव मे धर्म नही रहेगा और धर्म के अभाव मे अग्नि भी नही रहेगी। यथा—

"अन्तिम इक्कीसवें कल्की के समय मे वीरागज नामक मुनि, सर्वश्री नाम की आर्यिका तथा अग्निदत्त और पगुश्री नामक श्रावक युगल होगे। कल्की की आज्ञा से मत्री मुनिराज के आहार के समय उनसे प्रथम[2], ग्रास को शुल्करूप मे माँगेंगे, तब मुनिराज तुरत उसे देकर अन्त-

---

१ कलिप्रावृषि मिथ्यादिड्मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह।
खद्योतवत्सुदेष्टारो हा द्योतते क्वचित् ॥७॥ —सागारध० पृ० १५
विन्यस्यैदयुगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव।
भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत् कुत श्रेयोऽतिचर्चिनाम् ॥ ६४॥
—सागारध० पृ० १३७

२ वीरागजाभिधाणो तक्काले मुणिवरो भवे एक्को।
सव्वसिरी तह विरदी सावययुगमग्गिदत्तपगुसिरी ॥१५२१॥
—तिलोय० अ० पृ० ३४४

त तस्स अग्गपिड सुक्क गेण्हेह अप्पघादिस्स।
अथ जाचिदम्हि पिंडे दादूण मुणिवरो तुरिद ॥१५२७॥
कादूणमतराय गच्छदि पावेदि ओहिणाण पि।
अक्कारिय अग्गिलय पगुसिरीविरदिसव्वसिरी ॥१५२८॥
भासइ पसण्णहिदओ दुस्समकालस्स जादमवसाण।
तुम्हम्ह तिदिणमाऊ एसो अवसाणकक्की हु ॥१५२९॥
ताहे चत्तारि जणा चउविह आहारसगपहुदीण।
जावज्जीव छडिय सण्णास ते करती य ॥१५३०॥

राय समझकर आहार छोडकर वापस चले आयेंगे उन्हे उसी समय अवधिज्ञान उत्पन्न हो जावेगा। पुन आर्यिका तथा श्रावक-श्राविका को बुलाकर कहेगे कि अब दुष्षमाकाल का अन्त आ चुका है, तुम्हारी और हमारी तीन दिन की आयु शेष है। पुन. वे चारो जन चतुराहार और परिग्रहादि को जन्मपर्यन्त छोडकर सन्यास ग्रहण करेंगे। वे सब कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रात स्वातिनक्षत्र मे शरीर छोडकर सौधर्म स्वर्ग मे उत्पन्न होगे।

"उसी दिन मध्याह्न मे क्रोध से कोई असुरकुमार का देव कल्की राजा को मार डालेगा और सूर्यास्त के समय अग्नि नष्ट हो जावेगी।"

"इसके बाद तीन वर्ष आठ मास और एक पक्ष के बीत जाने पर महाविषम अतिदुष्षमा नामक छठा काल शुरू हो जावेगा।"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पचमकाल के अन्त तक मुनियो का अस्तित्व रहेगा, पुन आज कौन सी बात है क्यो नही हैं? क्या उस समय आज की अपेक्षा मुनियो के आहार विहार मे विशेषता आ सकती है? क्या उस समय श्रावक आज की अपेक्षा भी अधिक विवेकशील सदैव शुद्ध भोजन करने वाले होकर चाहे कोई भी चाहे जिस काल मे साधु को पडगाहन कर सकेंगे? क्या उस समय मुनियो का सहनन आज की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हो सकेगा? क्या वे जिनकल्पी चर्या कर सकेंगे?

यदि नही, तो आज भी मुनियो की चर्या वाले निर्दोष साधु अवश्य है। और वे भावलिंगी भी है सभी द्रव्यलिंगी नही है। यदि कोई द्रव्यलिंगी हो भी तो उसका ज्ञान सर्वज्ञ के सिवाय अन्य किसी को नही हो सकता है। वास्तव मे जो द्रव्यलिंगी नवग्रैवेयक तक जा सकते है तो बाहर से हीनचारित्र वाले या भ्रष्ट चारित्र वाले नही हो सकते है। वे महातपस्वी ज्ञान ध्यान मे तत्पर निरतिचार चर्या पालने वाले ही होते है फिर भी कहाँ किस रूप मे मिथ्यात्वकण विद्यमान है जिसका पता हम और आपको नही लग सकता है।

प्रश्न—द्रव्यलिंगी किसे कहते है?

उत्तर—जो साधु मुनिवेष धारण तो कर चुके है अत द्रव्य मे लिंग

कत्तियबहुलस्सते
तद्दिवसे मज्झण्हे कयकोहो कोवि असुरवरदेवो।
मारेदि कक्किराय अग्गी णासेदि दिणयरत्थमणे ॥१५३३॥
—तिलोयपण्णत्ति पृ० ३४४

धारण करने से द्रव्यलिंगी है। वे छठे-सातवें गुणस्थान के परिणामो मे रहते हैं अतः वे भाव से भी मुनि होने से भावलिंगी हैं। किन्तु यदि मुनि का गुणस्थान पाचवा, चौथा या पहला है तो वे द्रव्यलिंगी है। यह परिणामो की स्थित्ति जानना सर्वज्ञगम्य ही है।

सघ मे जो साधु रहते है वहाँ परस्पर मे वदना-प्रतिवन्दना करने मे वे परिणामो की सूक्ष्म व्यवस्था को नही देखते है प्रत्युत बाहरी क्रियाओ से ही नमस्कार आदि मे प्रवृत्त होते है। जेसे—भवदेव-भावदेव मुनि और वारिषेण-पुष्पडाल का उदाहरण जगत्प्रसिद्ध है।

द्रव्यलिंग-भावलिंग

नीतिसार मे कहते हैं कि—

"द्रव्यलिंग को धारण करके ही यति भावलिंगी होता है। अर्थात् ऐसा नही है कि पहले भावलिंग हो जावे पुन. द्रव्यलिंग हो। जैसे धान्य के ऊपर का छिलका अलग करने के बाद ही अन्दर की लालिमा को दूर करके चावल स्वच्छ किया जाता है। किन्तु अन्दर की लालिमा दूर करके ऊपर का छिलका कोई निकालना चाहे यह असम्भव है। अत. द्रव्यलिंग निर्ग्रन्थ अवस्था धारण किये बिना नाना व्रतो को धारण करते हुए भी कोई पूज्य नही हो सकता है। अचेलकता—नग्नता, शिर और दाढ़ी, मूँछ के केशो का लोच, आभरण आदि स रहित हाने से सस्कार रहित शरीर और मयूरपिच्छिका को धारण करना ये चार चिह्न माने गए है। यह द्रव्यलिंग ही भावलिंग का कारण है। भावलिंग तो आन्तरिक परिणामरूप होने से नेत्रइद्रिय का विषय नही हे अत. वह स्पष्ट नही हो सकता है। मुद्रा ही सर्वत्र मान्य होती है मुद्रारहित कोई भी मान्य नही होता है यथा राजमुद्रा को धारण करने वाला ही अत्यतहीन भी हो तो भी राजा माना जाता है अथवा राजा के कर्मचारी (सिपाही) की मुद्रा से सहित ही कोई मनुष्य राजकर्मचारी माना जाता है अन्यथा नही[1]।"

---

१ द्रव्यलिंग समास्थाय भावलिंगी भवेद् यति ।
विना तेन न पूज्य स्यान्नानाव्रतधरोऽपि सन् ॥७४॥
अचेलत्व शिर.कूर्चलोचोऽव केशधारणम् ।
निराभरणताऽछिन्नदेहता पिच्छधारणम् ॥७५॥
द्रव्यलिंगमदो ज्ञेय भावलिंगस्य कारणम् ।
तदध्यात्मकृत स्पष्ट, न नेत्रविषय यत ॥७६॥
मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यात् निर्मुद्रो नैव मन्यते ।
राजमुद्राधरात्यतहीनवच्छास्त्रनिर्णय ॥७७॥ —नीतिसार

ही किया है। यद्यपि दक्षिण में एक दो मुनि अवश्य थे लेकिन उनकी चर्या मे कुछ शिथिलता आ गई थी। आपने मूलाचार आदि ग्रन्थो के स्वाध्याय के बल पर सच्चे दिगम्बर मुनि के स्वरूप का सभी को भान करा दिया। दक्षिण में आपने जैनो से मिथ्यात्व का त्याग कराये तब लोगो ने गाड़ी में कुदेवो को भर-भर नदी में विर्सजित किया है।

आपकी प्रेरणा से कुथलगिरि में देशभूषण कुलभूषण केवली भगवान् के बिम्ब स्थापित हुए। कुम्भोज में बाहुबलि भगवान् की मूर्ति स्थापित हुई और भी अनेको स्थल पर जिन प्रतिमायें स्थापित हुई। आपने धवल, जयधवल और महाधवल ग्रथो को ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण करने की प्रेरणा दी जो कि आज फलटन में सरस्वती भवन में विराजमान है। आपकी प्रेरणा से 'दि० जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक सस्था' का उदय होकर धवल आदि ग्रन्थ मुद्रित हुए।

आपने अनेको मुनियो को जन्म दिया, आर्यिकायें बनाईं, क्षुल्लक और क्षुल्लिका दीक्षायें दी। तमाम ब्रह्मचारी, व्रतप्रतिमा आदि श्रावक बने। लाखो भव्यजीवो ने शुद्ध खान-पान का नियम लेकर श्रावकोचित मर्यादा का पालन किया है। "सम्मेदशिखर यात्रा के समय लगभग दो सौ नर-नारियो, साधु-साध्वियो से समलकृत आपका सघ विशाल था। आपके सघ मे मुनि वीरसागर, नेमिसागर और अनन्तकीर्ति जी थे। ऐलक, क्षुल्लक और क्षुल्लिकायें भी थी। ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणीगण भी थे।" इस यात्रा के निमित्त से उत्तर प्रान्त में भ्रमण करके आपने जैनधर्म की अपूर्व-प्रभावना की है। इस युग मे आप साधु मार्ग के धुरधर हुए है। यही कारण है कि चतुर्विध सघ ने आपको "चारित्रचक्रवर्ती" शब्द से सम्बोधित कर अपनी गुणज्ञता प्रगट की थी[1]।"

"सन् १९४७ में बम्बई सरकार ने हरिजनो के उद्धार हेतु हरिजन-मदिर प्रवेश कानून बनाया। उस समय धर्म की रक्षा हेतु आपने प्रतिज्ञा कर ली कि "जब तक पूर्वोक्त बम्बई कानून से आई हुई विपत्ति जैनधर्म के आयतनो—जिनमदिरो से दूर नही होती है, तब तक मै अन्न ग्रहण नही करूँगा।" इस प्रसग में तमाम जैनियो ने यथाशक्ति त्याग और पुरुषार्थ किया। अन्ततोगत्वा धर्म की विजय हुई। आचार्यश्री ने बारामती के चातुर्मास में १६ अगस्त १९५१ के रक्षाबधन के पावन दिवस अन्न का आहार ग्रहण किया। ११०५ दिनो के पश्चात् आचार्यश्री ने अन्न का

---

१ चारित्रचक्रवर्ती पृ० १२३।

आहार ग्रहण किया था। समाज में उस समय के हर्ष का वातावरण कोई एक विलक्षण ही था।

आपने अपने साधु जीवन में ३५००० मील का पैदल विहार किया है। एक बार करपात्र में आहार लेते हुए भी इतना मनोवल और कायवल आश्चर्य को उत्पन्न कर देता है। और क्या साधु जीवन मे आपने कितने उपवास किये है और कितने आहार इसका विवरण तो सामान्य मानव को चकित कर देता है। आप स्पष्ट में 'तपोधन' ही थे[1]।"

सन् १९२० में निग्रंन्थ दीक्षा लेकर १९५५ तक के वर्षों में आपने ९९३८ उपवास किये हैं। अर्थात् आपके ३५ वर्ष के मुनि जीवन में २५ वर्ष ७ मास अनशन में वीते हैं और ९ वर्ष ५ मास आपने आहार लिया है[2]।"

उपवासो का विवरण

	उपवास	वार	कुल दिन
१	१६ दिन का	३ वार	४८ दिन
२	१० दिन का	१ वार	१० दिन
३	९ दिन का	६ वार	५४ दिन
४	८ दिन का	७ वार	५६ दिन
५	७ दिन का	६ वार	४२ दिन
६	६ दिन का	६ वार	३६ दिन
७	५ दिन का	६ वार	३० दिन
८	४ दिन का	६ वार	२४ दिन
९	अन्तिम ३६ दिन	१ वार	३६ दिन
			योग ३३६

	नाम व्रत	सख्या
१	चारित्रशुद्धि	१२३४
२	तीस चौबीसी	७२०
३	कर्म दहन (३ वार)	४६८
४	सिंहनिष्क्रीडित (३ बार)	२७०
५.	सोलहकारण (१६।१६)	२५६
६	श्रुतपंचमी	३६

१ चारित्रचक्रवर्ती पृ० २४०।

२ आचार्य श्री शातिसागर जी महाराज प्रथम शताब्दी महोत्सव।

—१९७३ मे वैदवाडा दिल्ली से प्रकाशित

७.	विहरमान बीस तीर्थंकर व्रत	२०
८	दशलक्षण	१०
९	सिद्धो के व्रत	८
१०	आष्टाह्निक व्रत	८
११	गणधरो के व्रत	२००
१२	अतिरिक्त व्रत	६३७२
	कुलयोग ९६०२	३३६ + ९६०२ = ९९३८

गणधरो के १४५२ उपवास होते हैं। आचार्य महाराज २०० ही कर पाये।

आपको जिनेन्द्रदेव के पचामृताभिषेक को देखने की बहुत ही रुचि थी। सल्लेखना के प्रसग पर कुन्थलगिरि में आप प्रात ९ बजे के लगभग वेदी में बैठकर बडी रुचिसे अभिषेक देखते थे। उस समय मैंने स्वय वहाँ रहकर आचार्यश्री की भक्ति का अवलोकन किया है।

"आपके गुरु देवेन्द्रकीर्ति जो १०५ वर्ष तक जीवित रहे हैं और वे भी तपस्या की मूर्ति थे। वे हमेशा एक उपवास और एक पारणा से आहार करते थे। उन्होने १६ वर्ष की अवस्था में मुनिपद धारण किया था, बालब्रह्मचारी थे[1]।" आगम का ज्ञान अल्प होने से उनकी चर्या जो कुछ शिथिल थी, आचार्यश्री की दृढचर्या का अवलोकन कर उन्होने उनके पास अपनी चर्या का सशोधन किया था।

५२ वर्ष की आयु में आचार्यश्री ने आचार्यपद को प्राप्त किया था और ३२ वर्ष तक कुशलतापूर्वक अपना उत्तरदायित्व निभाते हुए २४ अगस्त को अपने आचार्यपद का त्याग किया है। और अपनी आज्ञा से अपने प्रथम दिगम्बर शिष्य वीरसागर को आचार्यपट्ट का समाचार भेजा, चूँकि उस समय श्री वीरसागर जी महाराज जयपुर (राजस्थान) में खानिया में ससघ चातुर्मास कर रहे थे।

आचार्य वीरसागर महाराज

हैदराबाद राज्य के अन्तर्गत औरगाबाद नाम का शहर है। उसी जिले में 'ईर' नाम का एक गाँव है। खडेलवाल जातीय और गगवाल गोत्रीय रामसुख सेठ की भार्या का नाम 'भागू बाई' था। इन दम्पत्ति के विक्रम स० १९३३ सन् १८७६ मे आषाढ सुदी पूर्णिमा को पुत्ररत्न का

---

१. चारित्रचक्रवर्ती, पृ० ८७।

जन्म हुआ, जिसका नाम हीरालाल रखा गया था। हीरालाल ने वि० स० १९७८ मे ऐलक पन्नालाल से सप्तम प्रतिमा ली थी। विक्रम स० १९७९ सन् १९२२ मे कोन्नूर गाम मे पहुँच कर ब्रह्मचारी खुशालचन्द्र के साथ आचार्यश्री शातिसागर के दर्शन करके वि० स० १९८० मे उभय ब्रह्मचारी गुरुदेव से क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण कर ली। तब आपका नाम वीरसागर और ब्र० खुशालचन्द्र का नाम चन्द्रसागर रखा गया। वि० सं० १९८१, सन् १९२४ मे समडोली नगर मे आपने मुनि दीक्षा ले ली।

आपने गुरु के साथ १२ चातुर्मास किये। अनन्तर गुरु की आज्ञा से मुनि आदिसागर को लेकर विहार करते हुए राजस्थान मे आ गए। आपने अपना विशाल सघ बनाया, मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका और ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणीगणो से आपका चतुर्विध सघ इस युग मे भारत मे सबसे अधिक विशाल प्रसिद्ध हो गया।

सन् १९५५ मे आचार्य श्री शातिसागर जी ने आपको अपना उत्तराधिकारी आचार्य घोषित किया। आप इतने बडे सघ के नायक होते हुए भी परमनि स्पृह और लोकैषणा से बहुत दूर थे। आर्यिकाओ के ऊपर अनुग्रह करने मे आप मातृवत् परम करुणा की निधि थे। सम्पूर्ण सघ को अपने वात्सल्य से सिंचित करके उन्हे सदैव यही शिक्षा दी थी कि **"सुई का काम करो, कैंची का नहीं"** यही कारण था कि आपके श्री चरणो को छोड़कर कोई भी शिष्य कही जाना नही चाहता था। आचार्य श्री शातिसागर की आज्ञा से ही मैने भी आपके करकमलो से महाव्रत की आर्यिका दीक्षा प्राप्त कर अपना जन्म कृतार्थ किया है।

वि० स० २०१४ आश्विन कृष्णा अमावस्या के दिन आचार्य श्री महावीरकीर्ति महाराज और चतुर्विध सघ के समक्ष खानिया (जयपुर) मे आपकी समाधि हुई है। आप इस युग मे एक कुशल आचार्य हुए है।

आचार्य शिवसागर महाराज

हैदराबाद स्टेट के अन्तर्गत औरगाबाद जिला मे 'अडगाँव' नामक छोटा सा एक गाँव है। वहाँ के खडेलवालजातीय, रावका गोत्रीय सेठ नेमिचन्द्र की पत्नी 'दगडाबाई' से आपका जन्म विक्रम स ० १९५८ मे हुआ था।

आपने फालगुन शुक्ला ५ वि० स० २००० मे सिद्धवरकूट सिद्धक्षेत्र मे आ० वीरसागर जी से क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। पुन आषाढ शु० ११, वि० स० २००६ मे नागौर (राजस्थान) मे मुनि दीक्षा ग्रहण की। आप

मुनियो मे वीरसागर जी के प्रथम शिष्य थे।

आचार्य श्री वीरसागर जी के समाधि के अनन्तर कार्तिक शु० ११, वि० स० २०१४ मे आप आचार्य पट्ट पर आसीन हुए। लगभग ११ वर्ष तक आपने वात्सल्य और अनुशासन के साथ अपने गुरु के सघ का परिपालन किया। अनेको दीक्षायें देकर सघ मे वृद्धि की और कुशलता से सघ पर अनुशासन किया।

आपकी प्रेरणा से अतिशय क्षेत्र महावीर जी मे शान्तिवीरनगर के प्रागण मे ३१ फुट ऊँची शान्तिनाथ भगवान् की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा होने का आयोजन चल रहा था। आप ससघ वहाँ पधार चुके थे। किन्तु अकस्मात् प्रतिष्ठा के पूर्व ही आप समाधि को प्राप्त हो गये। वि० स० २०२५ फाल्गुन कृष्णा के दिन आप स्वर्गस्थ हुए है। आपका अनुशासन और वात्सल्य आज भी साधुओ के हृदय मे अकित है जो कि भविष्य के लिये प्रेरणास्रोत है।

आचार्य धर्मसागर महाराज

आप आ० वीरसागर जी के शिष्यो मे द्वितीय मुनि हैं। आप आ० वीरसागर जी की समाधि के कुछ दिन बाद पृथक् विहार कर गये थे। सो उस पंचकल्याणक महोत्सव पर अपने सघ सहित वहाँ आये हुए थे। आ० शिवसागर जी के बाद चतुर्विध संघ ने आपको आचार्य पट्ट प्रदान किया।

जयपुर राज्य के अन्तर्गत 'घमेरा' नाम के ग्राम मे खडेलवाल जातीय, छावडागोत्रीय सेठ बख्तावरमल की पत्नी उमराव बाई की कुक्षि से वि० स० १९७० मे आपने जन्म लिया था। आपका नाम चिरजीलाल रखा गया। इन्दौर में आपने आचार्य कल्प वीरसागर के दर्शन करके द्वितीय प्रतिमा के व्रत ले लिये। पुनः चन्द्रसागर मुनि के दर्शन करके उनसे सप्तम प्रतिमा के व्रत लेकर सघ मे ही रहने लगे। बालूज (महाराष्ट्र) मे चैत्र शु० ७ वि० स० २००० मे क्षुल्लक दीक्षा ले ली। फाल्गुन शु० १५ वि० स० २००१ मे बडवानी सिद्धक्षेत्र मे चन्द्रसागर जी महाराज की असमय मे समाधि हो गई। तब आप आ० क० वीरसागर जी के सघ मे आ गये। वि० स० २००८, वैशाख मे पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर आपने आ० वीरसागर जी से ऐलक दीक्षा ले ली। और यही पर चातुर्मास के अन्त मे कार्तिक सु० १४, वि० स० २००८ मे ही मुनि दीक्षा ले ली। महावीर जी अतिशय क्षेत्र में फाल्गुन शु० ८, वि० सं० २०२५

मे आपको आचार्य पट्ट प्राप्त हुआ है।

वि० स० २०३१ सन् १९७४ मे भगवान् महावीर स्वामी का पचीस सौवा निर्वाण महोत्सव राष्ट्रीय स्तर पर मनाने के सुअवसर पर दि० जैन सम्प्रदाय के आचार्यों मे आपको प्रमुख माना गया। हमारी भावना और पुरुषार्थ दोनो सफल हुए और आप ससघ भारत की राजधानी दिल्ली मे पधारे।

आचार्यरत्न देशभूषणजी भी ससघ दिल्ली मे विराजमान थे और विद्यानन्द मुनि भी विद्यमान थे।

दो आचार्य, एक उपाध्याय, २२ मुनि ऐसे २५ दिगम्बर मुनि अनेक आर्यिकाओ, क्षुल्लक और क्षुल्लिकाओ के एक मच पर दर्शन करके जैन-जनता कृतार्थ हो गई थी और अजैन जनता ने भी आश्चर्य से देखा था।

भगवान् महावीर स्वामी के दीक्षा दिवस मगसिर वदी १०, सन् १९४७ मे यह कतिपय मुनि और आर्यिका दीक्षा का आयोजन दरियागज, दिल्ली (महावीर वाटिका) के प्रागण मे हुआ था। उसी समय आ० रत्न देशभूषण जी महाराज ने अपने शिष्य विद्यानन्द को उपाध्यायपद दिया था। और अपनी शिष्या (क्षुल्लिका) के गुरु आपने उसी समय आर्यिका ज्ञानमती को न्याय प्रभाकर और आर्यिका रत्न पद से सम्बोधित करते हुए नवीन पिच्छिका और शास्त्र प्रदान किये थे।

इस प्रकार आचार्य धर्मसागर जी अपने सघ का सचालन करते हुए अपनी नि स्पृह दैगम्बरी चर्या से चतुर्थकाल के समान जनता को आह्लादित करते हुए और जैनधर्म की प्रभावना करते हुए विचरण कर रहे है।

इस प्रकार मूलसघ के अन्तर्गत कुन्दकुन्दाम्नाय मे नदिसघ, बलात्कार गण और सरस्वती गच्छ की परम्परा मे वि० स० १९८१, आश्विन शु० ११, को श्री शान्तिसागर जी आचार्य पट्ट पर आसीन हुए। वि० स० २०१२, भाद्रपद मे वीरसागर जी आचार्य पट्ट पर बैठे। वि० स० २०१४ कार्तिक शु० ११ को शिवसागर को आचार्य पट्ट मिला और वि० स० २०२५ फाल्गुन सु० ८ को धर्मसागर जी उस पट्ट पर आसीन हुए। इस तरह ३२ वर्ष तक शान्तिसागर जी आचार्य रहे; २ वर्ष तक वीरसागर आचार्य रहे और ११ वर्ष तक शिवसागर आचार्य रहे है। अभी ९ वर्ष से धर्मसागर जी महाराज आचार्य पद का उत्तरदायित्व सँभाल रहे है। आप चिरकाल तक धर्म की प्रभावना करते रहे यही हमारी भावना है।

आचार्य देशभूषण महाराज

वेलगॉव (मैसूर राज्य) कर्नाटक जिले के अन्तर्गत कोथली ग्राम मे आपका जन्म मगसिर सुदी २, वि० स० १९६२ मे हुआ था। पिता श्री सत्यगौडा पाटील और माता अक्कादेवी ने प्रिय पुत्र का नाम बालगोडा रखा था। रामटेक मे आ० श्री जयकीर्ति महाराज ने आपको क्षुल्लक दीक्षा दी। अनन्तर ऐलक दीक्षा हुई। कुथलगिरि मे आचार्य श्री जयकीर्ति के द्वारा ही आपकी मुनि दीक्षा हुई है।

सूरत की समाज ने आचार्य श्री पायसागर से स्वीकृति प्राप्त कर आपको आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया।

दिल्ली की विशाल जैन जनता ने आपको आचार्यरत्न कहकर आदर भाव व्यक्त किया।

आपने जयपुर खानिया मे पर्वत के ऊपर चौवीस तीर्थंकरो की प्रतिमा और मध्य मे पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित कराकर उस पर्वत को चूलगिरि नाम से पवित्र तीर्थ बना दिया है। अभी एक २१ फुट की विशाल प्रतिमा वहाँ खडी की जा चुकी है।

अयोध्या में आपने २१ फुट की विशालकाय प्रतिमा विराजमान कराके अयोध्या तीर्थ को पुनरुज्जीवन प्रदान किया है। निर्वाणोत्सव में अनेको ग्रन्थ लिखकर उन्हे मुद्रित कराकर समाज को एक अनुपम निधि दी है।

आपके द्वारा हो क्षुल्लिका दीक्षा प्राप्त कर मैने अपने जीवन मे रत्नत्रय को विकसित किया है। आप इस पृथ्वीतल पर चिरकाल तक जयशील रहे।

आचार्य श्री महावीरकीर्ति महाराज

आपका जन्म वैशाख वदी ९ वि० स० १९६७ मे उत्तर प्रात के नगर फिरोजाबाद मे हुआ था। आपके पिता रतनलाल जी और माता बूदादेवी थी। वि० सं० १९९५ मे मेवाड के टाकाटूका स्थान पर आचार्य श्री वीरसागरजी से क्षुल्लक दीक्षा ली थी। पश्चात् उदगाव (दक्षिण) मे लगभग बत्तीस वर्ष की अवस्था में वि० स० १९९९ में मुनि दीक्षा ग्रहण की थी। मुनि दीक्षा के गुरु आदिसागर जी महाराज थे। उनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

महाराष्ट्र प्रदेश के अकली ग्राम में शकर गोडापाटील की पत्नी अक्काबाई की कुक्षि से इनका जन्म वि० स० १८६६ में हुआ। इनका नाम

शिवगोडा रखा गया। ईस्वी मन् १९१२ मे इन्होने मुनि दीक्षा ग्रहण की थी। ये जब भोजगाँव जाते तब आ० शातिमागर जी गृहस्थावस्था मे थे। वे इनके पास रात मे रहते और प्रात विहार के समय भोज मे स्थित वेद गगा–दूध गगा नदी के किनारे ले जाते और वहाँ से अपने कधे पर विठाकर इन्हे नदी पार कराते थे। एक दिन शातिसागर (श्रावक अवस्था मे) वोले कि मैं आपको नदी पार कराता हूँ आप मुझे ससार समुद्र पार करा दीजियेगा।

आदिसागर मुनिराज महान् तपस्वी थे। ७ दिन उपवास करते आठवें दिन आहार लेते थे और शेष दिनो मे ध्यान किया करते थे। आहार मे एक ही वस्तु लेते थे। जैसे—गन्ने का रस लेते तो अन्य वस्तु नही लेते थे। इनकी समाधि उदगाव मे हुई थी। ऐसे तपस्वी और ध्यानी गुरु के शिष्य भी तपश्चरण और ध्यान में कुशल ही थे। गुरु ने आपको अत समय अपना आचार्यपद सौप दिया था।

अनन्तर शेडवाल में जनसमुदाय और चतुर्विधसघ के मध्य आपको आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया गया।

आप ध्यान के विशेष अभ्यासी थे, तीर्थो के प्रति आपकी जैसी भक्ति इस युग में अन्य किसी में देखने में या सुनने में नही आई है। आप न्याय, छन्द, व्याकरण, सिद्धान्त, वैद्यक, ज्योतिष, मन्त्र तन्त्रादि के ज्ञाता उद्भट विद्वान् थे। आप १८ भाषाओ में कुशल वक्ता थे। उपदेश से जनता को मन्त्रमुग्ध कर देते थे। अध्यापन की शैली अतीव सुन्दर थी। मुझे भी वि० स० २०१२ में खानिया चातुर्मास के समय आपके श्रीमुख से तत्त्वार्थवार्तिक, अष्टसहस्री आदि ग्रन्थो के पढने का सौभाग्य मिला था। आपका वात्सल्य आज भी हमें आपके श्रीचरणो की स्मृति दिलाता रहता है।

आप सम्मेदशिखर की यात्रा के लिये ससघ विहार कर रहे थे। मार्ग में महसाना ग्राम (गुजरात) में वि० स० २०२८, माघ कृ० ६ को आपकी समाधि हो गई।

आपके पट्ट पर सन्मतिसागर मुनि आरूढ हुए। जो कि आज सघ का सचालन करते हुए धर्म प्रभावना कर रहे है।

आचार्य विमलसागर जी महाराज

उत्तरप्रदेश प्रान्त के एटा जिलान्तर्गत जलेसर कस्बे से लगभग डेढ मील दूर कोसमा नाम का एक ग्राम है वहाँ पर दि० जैन पद्मावती-

पुरवाल जातीय लाला विहारीलाल की धर्मपत्नी कटोरी की कुक्षि से आश्विन कृ० ७ वि० स० १९७२ में आपक जन्म हुआ था। आपका नाम नेमिचन्द्र रखा गया। उच्चशिक्षा हेतु आपको मोरेना महाविद्यालय में अध्ययन कराया गया।

बडवानी सिद्धक्षेत्र में आ० महावीरकीर्ति महाराज के पास प्रथम आषाढ वदी ५, वि० २००७ में क्षुल्लक दीक्षा पाई। पुन सोनागिरि सिद्धक्षेत्र पर आ० श्री महावीरकीर्ति जी के करकमलो से फाल्गुन सुदी १३ वि० स० २००९ में निर्ग्रंथ दीक्षा ग्रहण की। उस समय आपका नाम विमलसागर प्रसिद्ध हुआ। टूडला नामक ग्राम मे विद्वद्वर्ग की प्रार्थना और दीक्षागुरु के आदेश से मगसिर वदी २ को आपको आचार्य पद प्रदान किया गया। आप दीक्षा और शिक्षा देने में कुशल आचार्य है। अभी तक आपने अनेक मुनि, आर्यिकायें, क्षुल्लक और क्षुल्लिकायें दीक्षित की है।

वर्तमान में आपकी प्रेरणा से सम्मेदशिखर में बहुत ही सुन्दर विशाल समवसरण का निर्माण कार्य हुआ है और राजगृही मे आ० महावीरकीर्ति जी की स्मृति मे सरस्वती भवन निर्माण का महान् कार्य हुआ है। आप सतत धर्मप्रभावना करते हुए श्रावको को धर्म कार्य मे तत्पर करते रहते है।

आचार्य शान्तिसागर जी की परम्परा मे उनके शिष्य नमिसागर, सुधर्मसागर और कुंथुसागर भी आचार्य पद से विभूषित होकर जनहित के लिये बहुत कुछ कार्य कर चुके है। आचार्यकल्प चन्द्रसागर ने भी सिंहवृत्ति से भारत मे एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी।

■

७. युक्ताहार विहार

प्रश्न—आज कल के साधु युक्ताहार विहारी है या नही ?

उत्तर—अवश्य है। जो आगम के अनुकूल आहार विहार करते है, वे युक्ताहारी-विहारी ही है। देखिये—

युक्ताहार—छ्यालीस दोषो से रहित, कारणयुक्त, नवकोटि से विशुद्ध, शीत-उष्ण, सरस, नीरस आदि मे सम भाव सहित जो आहार ग्रहण करता है उसे एषणासमिति कहते है। इसके साथ स्थितिभोजन और एकभक्त ये भी मूलगुण है। अर्थात् पूर्व मे कथित दोषो से रहित और मन, वचन, काय तथा कृत, कारित और अनुमोदना इनको गुणित करने से ३ × ३ = ९ ये नवकोटि मानी गई है। इनसे रहित आहार ही एक जगह स्थित होकर और दिन मे एक बार ग्रहण किया जाता है। छंयालीस दोषो के अन्तर्गत १६ उद्गम दोष माने गये है जो कि श्रावको के आश्रित होते है और मालूम होने पर मुनि उस आहार को ग्रहण नही करते है। उनमे सबसे प्रथम एक औद्देशिक दोष है जिसका अर्थ—"अध कर्म के पश्चात् औद्देशिक सूक्ष्मदोष को भी परिहार करने की इच्छा से आचार्य कहते है[1]। नाग यक्षादि देवता के लिये, जैन दर्शन से बाह्य लिंगी-पाखडी जनो के लिये और कृपणो-दीनजनो का उद्देश्य करके जो भोजन बना हुआ है वह औद्देशिक है। अथवा जो कोई भी आयेगा हम उन सभी को देंगे, ऐसा उद्देश्य करके बनाया गया अन्न 'यावानुद्देश' है। जो कोई पाखडी आयेंगे उनको मै देऊँगा ऐसे उद्देश से निर्मित अन्न 'समुद्देश' है। जो कोई श्रवण-आजीवक, रक्तपटी, तापसी, परिव्राजक अथवा छात्रादि कोई भी आयेंगे उनको मै दूँगा ऐसा उद्देश करके बनाया गया अन्न आदेश' है। जो कोई निर्ग्रन्थ साधु आयेगे मै उन्हे आहार दूगा ऐसा सोचकर किया हुआ 'समुद्देश' है[2]।"

---

१ अध कर्मण पश्चात् उ (औ) द्देशिक सूक्ष्मदोषमपि परिहर्तुकामः प्राह—

२ जावदिय उद्देशो पासहोत्ति य हवे समुद्देशो।
समणोत्ति य आदेसो णिग्गथोत्ति य समुद्देशो ॥७॥ —मूलाचार

'जो खास करके अपने लिये बनाया हुआ भोजन है उसको उद्दिष्ट कहते है। अथवा समस्त यमी, पाखडी और दुर्बलो के लिये बनाये गये भोजन को भी उद्दिष्ट कहते[1] है।"

निष्कर्ष यह निकलता है कि श्रावक भोजन बनाते समय अतिथि-सविभाग का भाव रखकर बनाता है। किन्तु साधु स्वय मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से जिसमे भाग नही लेते है वही आहार निर्दोष है। चूँकि यह दोष श्रावक के आश्रित होता है।

श्री अमृतचन्द्रसूरि अतिथिसविभाग व्रत का लक्षण बतलाते हुए कहते है—"दाता के सात गुणो मे सहित गृहस्थ को स्व और पर के अनुग्रह हेतु जातरूपधारी अतिथि के लिये द्रव्य विशेष का विधिवत् अवश्य भाग करना चाहिये। इसी का नाम तो अतिथिसविभागव्रत है[2]।"

चतुर्थ काल मे भी सभी श्रावक गर्मजल नही पीते थे तथा रोगी साधु के अनुरूप ही पथ्य एव औषधि को बनाकर देते थे। इसके अनेको उदाहरण है। यथा—पूर्वविदेह के वत्सकावती देश की प्रभाकरी नगरी के राजा प्रीतिवर्धन अपने प्रतिकूल भाई को जीतकर वापस आकर नगरी के बाहर पर्वत पर ठहरे थे। पुरोहित ने आकर कहा—राजन्! आपको आज मुनिदान के निमित्त बहुत लाभ होनेवाला है। इसका उपाय यह है कि हम[3] लोग नगर मे घोषणा कराये देते है कि आज राजा के महान् उत्सव का दिन होने से सब लोग घर के आँगन को, नगर की गलियो को सुगन्धित जल सीचकर इस प्रकार फूल बिखेर दो कि बीच मे कही

१. यत्स्वमुद्दिश्य निष्पन्नमन्नमुद्दिष्टमुच्यते।
अथवा यमिपाखडिदुर्बलानखिलानपि ॥२१॥ आचारसार पृ० २०१

२ विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय।
स्वपरानुग्रहहेतो कर्तव्योऽवश्यमतिथये भाग ॥१६७॥—पुरुषार्थसि०

३ गृहागणानि रथ्याश्च कुरुताशु प्रसूनकै।
सोपहाराणि नीरन्ध्रमिति दद्य प्रघोषणाम् ॥१९९॥
ततो मुनिरमौ त्यक्त्वा पुरमत्रागमिष्यति।
विचिन्त्याप्रासुकत्वेन विहारायोग्यमात्मन ॥२००॥
पिहितास्रवनामासौ मासक्षपणसयुत।
प्रविष्टो नृपते सद्म चरश्चर्यामनुक्रमात् ॥२०१॥
ततो नृपतिना तस्मै दत्तो दान यथाविधि।
पातिता च दिवो देवै वसुधारा कृतादरम् ॥२०२॥—आदि पु० पृ० ८

कोई रध्र खाली न रहे। ऐसा करने से मुनिराज अप्रासुकमार्ग से गाँव मे न जाकर घूमकर वापस आपके यही आ जावेंगे। राजा ने भी वैसा ही किया उस समय मासोपवासी पिहितास्रव मुनिराज के आहार से वहाँ पचाश्चर्य की वर्षा हुई।" अव सोचने की वात यह है कि राजा ने तो मुनि का निमित्त करके ही मार्ग अप्रासुक कराया और आहार दिया किन्तु मुनि को मालूम न होने से उन्हे औद्देशिक नाम का उद्गम दोष नही लगा।"

"नन्दिषेण मुनिराज ग्यारह अङ्ग के धारी और अनेक ऋद्धियो के स्वामी थे। वे वैयावृत्ति के लिये किसी भी औषधि आदि का विचार करते थे तो ऋद्धि के वल से उनके हाथ मे वह चीज शीघ्र ही आ जाती थी। एक दिन इन्द्र ने अपनी सभा मे उनकी प्रशसा की। परीक्षार्थ एक देव आकर मुनि का रूप रखकर नन्दिषेण से बोला—मुनिवर! मेरा शरीर व्याधि से पीडित है तुम मुझे औषधि दो। मुनि ने पूछा, वताओ तुम्हारी किस भोजन मे रुचि है? मुनिरूपधारी देव ने कहा कि पूर्वदेश के धान का भात, पाचाल के मूँग की दाल, पश्चिम देश की गायो का घी, कलिंग देश की गाय का दूध और नाना प्रकार के व्यजन यदि मिल जायँ तो अच्छा हो। नन्दिषेण मुनिराज वडी श्रद्धा से उक्त आहार को लाने के लिये चल दिये। गोचरी वेला में जाकर उक्त सव आहार लाकर उन्हे करा दिया[1]।" रात्रि मे उस कृत्रिम मुनि ने मल विसर्जन कर सारा शरीर मलिन कर लिया तव नन्दिषेण मुनि उसके शरीर को प्रासुक जल मे धोकर उसकी वैयावृत्ति मे वरावर सलग्न रहे। तव देव ने अपने रूप को प्रगट कर उनकी स्तुति करके स्वर्ग की चर्चा वताई।'

इससे भी यह स्पष्ट होता है कि साधु के लिये पथ्य आदि वस्तुएँ साधु श्रावक द्वारा करा सकते है। जो कि अस्वस्थ साधु के निमित्त ही वनती है।

---

१. त्रिनन्द्रदेशवस्तूना प्रार्थनेऽप्यविपण्णधी।
गत्वा गोचरवेलायामानीय सहसा ददौ ॥१६४॥

—हरिवश पु० स० १८

सल्लेखना के समय साधु स्वय आहारार्थ जाकर मुनि के लिए आहार श्रावक के साथ लाकर करावें ऐसा कथन मूलाराधना टीका मे भी है।

—मूलाराधना०

"श्रीकृष्ण ने मुनिराज से पूछा—भगवन् ! आपके इस रोग मे कौन सी औषधि हितकर होगी। मुनिराज ने कहा—यदि 'कापिष्ठ चूर्ण' का प्रयोग किया जाय तो यह रोग शात हो सकता है अन्यथा नही। मुनिराज के मुख से औषधि का नाम सून राजा श्रीकृष्ण को परम सन्तोष हुआ। उन्हे नमस्कार कर वे वापस नगरी मे आ गये और मुनिराज के रोग दूर करने के लिये उन्होने सर्वत्र आहार की मनाही कर दी। दूसरे दिन वे ज्ञानसागर मुनि आहारार्थ नगर मे आये, विधि के अनुसार वे इधर-उधर घूमकर अन्त मे राजमन्दिर की तरफ गये। रानी रुक्मिणी ने विधिवत् उनका पडगाहन कर आहार कराते समय रत्नकापिष्ठ चूर्ण भी दिया। कुछ दिन बाद औषधि के प्रयोग से मुनिराज का रोग सर्वथा नष्ट हो गया[1]।"

दूसरी बात यह है कि साधु शुद्ध, पवित्र, प्रासुक आहार ही लेते है। श्रावक यदि असयत है तो अप्रासुक भी भक्षण करते है। पुन विवेक के साथ प्रासुक वस्तु तैयार करेंगे ही। और जब मुनियो का अस्तित्व पचम काल के अन्त तक है, ऐसा आचार्य स्पष्ट कहते है पुन आज के युग मे कैसी भिक्षा होनी चाहिये कि जिससे उद्दिष्ट दोष न लगता हो। बहुत कुछ सोच-विचार के बाद यही हल निकलता है कि साधु स्वय नवकोटि से भोजन न बनवावें। और शुद्ध की खोज करते हुए शुद्ध आहार ग्रहण करे।

युक्त विहार—भगवती आराधना मे अनियत विहार का बहुत ही महत्त्व बताया है। "यत्र-तत्र विचरण करने वाले साधु के अनियत विहार मे पाँच गुण होते है[2]।" दर्शनविशुद्धि, स्थितिकरण, भावना, अतिशयरूप कुशलता और क्षेत्र का अन्वेषण ये पाँच गुण होते है। जन्म-कल्याणक आदि तीर्थो की वन्दना करने से दर्शन की विशुद्धि होती है। साधु अन्य लोगो को पाप से भीरु बनाकर अथवा अन्य साधुओ के चारित्र विशेष को देखकर स्वय चारित्र वृद्धिगत करते हुए पर का और अपना स्थितिकरण करते हैं। अनेक देशो मे विहार करने से क्षुधा तृषा आदि के निमित्त से होनेवाले दुख भावित करने से भावना नाम का तीसरा गुण होता है। यत्रतत्र देश मे विचरण करने से अनेक देशो की

---

१ श्रेणिकचरित्र, सर्ग ११।

२ दसणसोधी ठिदिकरणभावना अदिसयत्तकुशलता।
खेत्तमग्गणावि य अणियदवासे गुणा होंति ॥१४२॥—मूलाराधना

भाषाओ का ज्ञान प्राप्त होता है जिससे वे अनेक शास्त्रो के अर्थ को समझ लेते है। और उन-उन भाषाओ मे जनता को समझा देते है। यह अति-शयरूप कुशलता गुण होता है। जिस क्षेत्र मे सयम के अनुकूल विहार होता है और सुलभता से आहार मिलता है उस क्षेत्र को सल्लेखना के अनुकूल समझ लेते है इसलिए अनियत विहार से क्षेत्र का अन्वेषण होता है।

विहार करते समय साधु प्रात कालीन क्रियाओ को करके सघ के साथ अपनी शक्ति के अनुरूप चलते हैं। हरियाली, काई, कीचड, कुहरा, बर्फ आदि से रहित प्रासुक मार्ग मे चलते है। जिस मार्ग से मनुष्य, गाय-भैस आदि चल रहे हैं। आज के गाडो, मोटर आदि वाहन चल रहे है। वह मार्ग प्रासुक हो जाता है। मार्ग मे चलते हुए हँसी विनोद या वार्ता-लाप नही करते है। आतप—धूप से छाया मे जाते समय और छाया से धूप मे जाते समय पिच्छिका से अपना शरीर मार्जन करके पैरो की धूली भी झाड देते है। कदाचित् मार्ग मे जल भरी नदियाँ आ जावें तो द्रोणी से भी पार कर सकते है। सो ही कहा है—

"जल मे प्रवेश करते हुए पैरो मे लगी हुई सचित्त-अचित्त धूलि को पिच्छिका से परिमार्जित करके जल मे प्रवेश करते है पुन बाहर निकल कर जब तक पैर सूख न जायें तब तक जल के किनारे ही खडे रहते है। कदाचित् बड़ी नदियो को पार करने मे पहले नदी के इसी तरफ सिद्ध-वदना करके "जब तक मै उस पार न पहुँच जाऊँ तब तक मुझे सर्व-शरीर, आहार और उपकरण का त्याग है।" ऐसा प्रत्याख्यान ग्रहण करके समाहित चित्त होते हुए द्रोणी—नौका आदि पर चढते है और अगले तटपर पहुँच कर उसकी शुद्धि के लिए कायोत्सर्ग करते है। बडे जगलो मे प्रवेश करने-निकलने के समय भी इसी प्रकार से चतुराहार आदि त्यागरूप पूर्वोक्त सभी विधि की जाती है[1]।"

---

१. तथा जल प्रविशता सचित्ताचित्तरजसो पदादिषु लग्नयोर्निरास । यावच्च पादौ शुष्यतस्तावन्न गच्छेज्जलातिक एव तिष्ठेत् । महतीना नदीना उत्तरणे आराद्भागे कृतसिद्धवदन यावत्प्रतिकूलप्राप्तिस्तावन्मया सर्व शरीर-भोजन-मुपकरण च परित्यक्तमिति गृहीतप्रत्याख्यान समाहितचित्तो द्रोण्यादिक-मारोहेत्, परकूले च कायोत्सर्गेण तिष्ठेत्, तदतिचारव्यपोहार्थं । एवमेव महत कातारस्य प्रवेशनि क्रमणयो ।

—मूलाराधना, टी० पृ० ३४८

अन्यत्र भी कहा है—"घुटने पर्यन्त पानी मे होकर जावे तो एक कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त है। घुटने से चार अगुल ऊपर पानी मे होकर जाने का एक उपवास प्रायश्चित्त है। इसके चार-चार अगुल ऊपर पानी मे होकर जाने का दूने दूने उपवास प्रायश्चित्त है। ये जो कायोत्सर्ग और उपवास कहे गये हैं वे सोलह धनुष (चौसठ हाथ) पर्यन्त लम्बे फैले हुए जल जतुओ से रहित जल मे होकर जाने के है। तथा जल जतु से भरे हुए जल मे होकर जाने का प्रायश्चित्त पहले विधि से अधिक है जो कि गुरु से ही ग्रहण किया जाता है। उपर्युक्त प्रायश्चित्त भी गुरु से ही लिया जाता है स्वत प्रायश्चित्त कर लेने से दोषो की शुद्धि नही होती है। अपने निमित्त या पर के निमित्त प्रयुक्त नाव आदि के द्वारा नदी आदि पार करने पर काल आदि जानने वाला आचार्य यथोचित प्रायश्चित्त देते है।[1]"

यदि कदाचित् कोई साधु असमर्थ, वृद्ध या अस्वस्थ है, पैदल चलने की शक्ति नही है और सघ के साथ मे विहार करना आवश्यक है तो उन्हे डोली मे बिठाकर विहार कराते है। यथा—"डोली आदि मे बैठकर गमन करने पर आचार्य उस मद, रोगी आदि साधु को जानकर उसके दोष को दूर करने वाली मार्ग-शुद्धि से दूनी शुद्धि देते है। अर्थात् मार्ग गमन के शोधन मे जो शुद्धि कही है उससे दूनी शुद्धि देते है[2]।"

इस प्रकार विहार करता हुआ साधुओ का विशाल सघ अथवा कतिपय साधु जहाँ पहुचते है, श्रावक भक्ति विभोर होकर यथोचित वसतिका दान आदि देकर उनकी भक्ति, सेवा, आराधना, पूजा आदि करते है।

---

१ जानुदघ्ने तनूत्सर्ग क्षमण चतुरगुले।
द्विगुणा द्विगुणास्तस्मादुपवासा स्युरभसि ॥३९॥
दडे षोडशभिर्मेये भवन्त्येते जलेऽजसा।
कार्योत्सर्गोपवासास्तु जतुकीर्णे ततोऽधिका ॥४०॥
स्वपरार्थप्रयुक्तैश्च नावाद्यैस्तरणे सति।
स्वल्प वा बहु वा दद्याज्ज्ञातकालादिको गणी ॥४१॥ —प्राय० चू०

२ युग्यादिगमने शुद्धि द्विगुणा पथि शुद्धित।
ज्ञात्वा नृजात वाचोर्या दद्यात्तद्दोषघातिनी ॥४३॥
—प्राय० चू०

प्रश्न—साधु गण तो वन मे कदरा आदि में ही रहते है पुन वसतिका मे कैसे रहेगे ?

उत्तर—ऐसा एकात नही है, अन्यथा वसतिका दान ही नही वन सकेगा। देखिये— बुद्धिमान् गणधरदेव आदि ने आहार, औषधि, उपकरण, आवास इनके दान से चार प्रकार का वैयावृत्य कहा है[1]। अर्थात् चार शिक्षाव्रत मे अतिम भेद का 'वैयावृत्य' नाम दिया है और उस वैयावृत्य के चार भेद मे चौथा आवासदान अर्थात् वसतिका दान बताया है और स्वय उन्होने पहले १११वें श्लोक मे तपोधन, ११२वें मे सयमी, ११३वें मे आरम्भादि रहित आर्य शब्द कहा है और ११३वे मे गृहविमुक्त अतिथि शब्द और ११५वें मे तपोनिधि शब्दो मे दिगम्बर मुनियो के विषय मे ही इन दोनो का उल्लेख किया है। आगे चारो दानों के दृष्टात मे "सूकरश्च दृष्टाता" शब्द से अतिम आवासदान मे सूकर का दृष्टात दिया है। जिसकी कथा इस प्रकार है—

"मालवदेश[2] के घटग्राम मे देविल कुभार और धमिल्ल नाई रहते थे। इन्होने मिलकर पथिकजनो के वसतिका निमित्त एक देवकुल—धर्मशाला बनवाई। एक समय देविल ने पहले यह वसति दिगवर मुनि को दे दी और पश्चात् धमिल्ल नाई ने एक परिव्राजक को लाकर ठहरा दिया। पुन उस धमिल्ल और परिव्राजक ने मिलकर मुनि को बाहर निकाल दिया। वृक्ष के नीचे रात्रि भर मुनि ने दशमसक शीतादि परीषहो को सहन किया। प्रात काल इस बात पर कुम्भार और नाई मे झगडा हो गया, दोनो परस्पर युद्ध करके मरकर विध्यगिरि पर क्रम से सूकर और व्याघ्र हो गये। एक बार एक गुफा मे समाधिगुप्त और त्रिगुप्त नामक दो मुनि आकर ठहरे। वही पर मुनि को देखकर सूकर को जातिस्मरण हो गया, उसने मुनि मे धर्मोपदेश सुनकर व्रत ले लिये। इसी प्रसग मे वह व्याघ्र मुनि के भक्षणार्थ वहाँ आया। सूकर मुनियो के रक्षणार्थ गुफा के दरवाजे पर बैठ गया। वहाँ पर भी दोनो लडकर मर गये। सूकर मुनिरक्षण के अभिप्राय से मरकर सौधर्म स्वर्ग मे महान् ऋद्धिधारी

---

१ आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।
वैयावृत्य ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्रा ॥११७॥

—रत्नकरडश्रावकाचार

२ रत्नकरडश्रावकाचार टी० पृ० २०२। —आराधना कथा कोष पृ० ४३२

देव हो गया और व्याघ्र मुनिभक्षण के अभिप्राय रूप रौद्रध्यान से मरकर नरक चला गया।"

श्रीपूज्यपाद स्वामी भी कहते है कि—

"सयम का विनाश न करते हुए जो 'अतति' आते है वे अतिथि है। अतिथि के लिये जो सविभाग है, वह अतिथिसविभाग व्रत है। उसके चार भेद है—आहार, औषधि, उपकरण और प्रतिश्रय। यहाँ प्रतिश्रय-दान का अर्थ भी रहने का स्थान—वसतिका ही है[1]।"

श्री भट्टाकलक देव ने भी ये ही चार भेद माने है।

मूलाचार मे भी श्री कुदकुद ने कायिक विनय के प्रकरण 'अवकाश-दान' देने को कहा है। यथा—साधु, साधु के लिये अवकाश का अर्थात् वसतिका, गिरि की गुफा आदि जो प्रासुक हो उनका अन्वेषण करके निवेदन करना—ठहरना[2]।"

श्री कुदकुद देव स्थितिकल्प के दश भेदो मे भी शय्याग्रह-पिडत्याग नामक तीसरा स्थितिकल्प कहा है। जिसका अर्थ यह है कि—

'जो[3] मेरी वसतिका मे रहेगे मै उन्ही मुनि को आहार दूँगा अन्य को नही" ऐसा जिसने सकल्प किया है उसकी वसतिका मे ठहर कर उसके यहाँ आहार नही लेना चाहिये। इसका कारण यही है कि यदि कोई गरीब है तो वह यही सोचेगा मै मुनि को वसतिका दान कैसे देऊँ। मै आहार नही दे सकूँगा तो लोग क्या कहेगे कि इसने अपनी वसतिका मे तो साधुओ को ठहरा लिया है और आहार नही देता है। अथवा जो वसतिका देकर आहार भी देता रहेगा। बहुत उपकार करने वाला होने से साधु को उसपर स्नेह हो जायेगा इत्यादि कारणो से जहाँ जिसकी वसतिका मे ठहरे उसके यहाँ आहार न लेवे[3]।"

---

१ सयममविनाशयन्नततीत्यतिथि अतिथये सविभागोऽतिथिसविभाग। स चतुर्विध, भिक्षोपकरणौपधप्रतिश्रयभेदात्। —सर्वार्थसिद्धि पृ० ३६२
—तत्त्वार्थ वा० पृ० ५५०

२ आमणदाण उवगरणदाण ओगासदाण च॥
टीका अवकाशस्य वसतिकागिरिगुहादिकस्य प्रासुकस्यान्विष्य दान।''
पृ० २९७, ९८

३ अच्चेलक्कुद्दुशियसेज्जाहररायपिंडकिदियम्म।
वद जेट्ठ पडिक्कमण मासपज्जो समणकप्पो॥१८॥ —मूलाचार पृ० ४३८

यही बात अनगारधर्मामृत में भी कही गई है। किन्तु वहां 'शय्यागृह' पद की जगह 'शय्याधर' शब्द टीका में उसके तीन अर्थ खोले हैं—

"वसति को बनवाने वाला, वसति का संस्कार करने वाला और 'इस वसति में आप ठहरिये' ऐसा कहकर ठहराने वाला ये तीनों ही शय्याधर कहलाते हैं। उपर्युक्त कारणों से इनके यहाँ आहार नहीं लेना शय्याधर-पिंडत्याग स्थितिकल्प है[1]।"

अब यह देखिये कि अगर साधु श्रावक द्वारा दी गई वसतिका में नहीं रहते हैं तो यह 'स्थितिकल्प' कैसे हो सकता है।

"जिनकी दीवालें मजबूत हैं, जिनमें किवाड़ हैं, ऐसी वसतिकायें गांव के बाहर होनी चाहिये। जहाँ बाल वृद्ध आदि साधु आ जा सकें, अर्थात् दो तीन वसतिकायें हों तो ऐसी पास पास में हों। उद्यानगृह, गुफा और शून्यगृह ये भी वसतिका के योग्य माने गये हैं[2]।"

"यदि वसतिका में किवाड़ नहीं होंगे—द्वार खुला होगा तो ठंडी हवा आदि के निमित्त से शरीर में दुःसह दुःख होगा। अतः वसतिका में किवाड़ भी होना चाहिये और उजेला भी होना चाहिये—अन्धकार नहीं रहना चाहिये। यदि वसतिका में किवाड़ आदि नहीं होंगे तो गुप्त स्थान में शरीरमलत्याग भी कैसे किया जा सकेगा[3]।"

तथा मुनियों के रहने की वसतिका गंधर्वशाला, नाट्यशाला, गज-शाला इत्यादि के निकट नहीं होनी चाहिये क्योंकि ध्यान अध्ययन में बाधा होगी।

---

1 "शय्याधरपिंडोज्झा वसतेः कारकः संस्कारकोऽत्रास्स्वेति सम्पादकश्चेति त्रयः शय्याधरशब्देनोच्यन्ते।" अनगार० पृ० ६७

2 घणकुड्डे सकवाडे गामबहिं बालवुड्ढगणजोग्गे।
उज्जाणघरे गिरिकंदरे गुहाए व सुण्णहरे ॥६३८॥
निबिडा संवृतद्वारा सुप्रवेशविनिष्क्रमा।
सकवाटा दृढकुड्या बालवृद्धजनोचिता ॥६६२॥
—मूलाराधना पृ० ८३८

3 'अविवृतद्वारा अनन्धकारा च। विवृतद्वारतया शीतवातादिप्रवेशात्स्व-अस्थिमात्रतनोर्दुस्सहं दुःखं स्यात्। शरीरमलत्यागोऽपि कथमप्रच्छन्ने क्रियते।"

यद्यपि यह प्रकरण एक साधु की समाधि के समय जब चालीस साधु एकत्रित होकर क्षपक सल्लेखना कराते है उस समय का है फिर भी अन्यत्र समय मे भी ऐसी ही वसतिकाओ मे साधु सघ ठहराये जाते है।

समाधि के अतिरिक्त समय मे भी साधु किवाड सहित वसतिकाओ मे ठहरते है। जैसा कि—

"जो साधु असावधानी—प्रमाद से निवास स्थान का दरवाजा खुला डाल कर चला जाय और उसे आचार्य पुरुमडल प्रायश्चित्त देवें। और यदि उसमे बिल्ली, नेवला, साप आदि घुस जाय तो उपवास प्रायश्चित्त तथा चोर घुस जायें अथवा चूहो का मरण हो जावे तो लघुमास प्रायश्चित्त देवे[1]।"

इस दण्ड से भी स्पष्ट हो जाता है कि साधु वसतिका मे रह सकते है और निकलते समय पिच्छिका से परिमार्जित करके किवाड ढँक कर जाते है।

साधु मन्दिर या वसतिका मे या गुफाओ मे ठहरते है तो वहाँ प्रवेश करते समय 'निसही' शब्द का प्रयोग करते है और निकलते समय 'असही' शब्द का प्रयोग करते है।

"वसति जिनमन्दिर आदि मे प्रवेश करते समय वहाँ रहने वाले भूत, यक्ष, नागादिको को पूछकर 'निसही' शब्द बोलकर प्रवेश करना चाहिये तथा वसतिका आदि से बाहर निकलते समय 'असही' शब्द बोलना चाहिये[3]।"

"हम यहाँ इतने दिन तक रहे, अब जाते है तुम लोगो का कल्याण हो" इस प्रकार व्यतरादि देवो को इष्ट आशीर्वाद देना आशीर्वचन है। "तुम्हारी कृपा से हम यहाँ ठहरते है, तुम किसी प्रकार का उपद्रव नही करना" इस प्रकार जीवो को तथा व्यतरादि देवो को उपद्रव आदि का निषेध करना निषिद्धिका नाम की समाचार नीति है। मुनियो को गुफा, वसतिका अथवा किसी स्थान पर ठहरते समय निषिद्धिका (निसही)

---

१ पुरुमर्दो यतोऽयत्नाद्विडालादिप्रवेशने।
क्षमण लघुमासोऽथ स्तेनस्य वृषसूदने ॥९१॥ —प्राय० स

२ वसत्यादौ विशेत्तत्स्थ भूतादि निसहीगिरा।
आपृच्छ्य तस्मान्निर्गच्छेत्त चापृच्छ्यासहीगिरा ॥१३२॥—अनगार० पृ० ६२५

करनी चाहिये और वहाँ से जाते समय वैर विरोध दूर करने वाले आशी-र्वाद वचन (असही) कहने चाहिये[1]।"

"साधु यदि प्रमाद से उपर्युक्त प्रसंग में 'असही' 'निसही' नहीं करता है तो प्रायश्चित्त का भागी होता है[2]।"

"पांच परमेष्ठी को नमस्कार, छह आवश्यक क्रियायें और असही, निसही ये तेरह क्रियायें 'तेरह करण' नाम से कही जाती हैं। जो कि साधुओं के द्वारा अहर्निश की जाती है[3]।'

संस्तर

साधु जिस वसतिका में ठहरते हैं, वहाँ पर रात्रि में शयन के लिए जो आसन होता है, उसे संस्तर कहते हैं। संस्तर के बारे में श्री कुंदकुंद देव कहते हैं—

"सायंकाल और प्रातःकाल के समय जब कि हाथ की रेखायें दिख रही हों ऐसे प्रकाश में संस्तर और आवास का प्रतिलेखन किया जाता है।

टीकाकार कहते हैं कि संस्तर के चार भेद हैं—भूमिसंस्तर, शिला-संस्तर, फलक संस्तर और तृणसंस्तर[4]।" शुद्धभूमि भूमिसंस्तर है।

---

१ स्थित्वा दरिमिकायां नाम संमोदयोऽस्तु ते ।
दृष्ट्वोत्थानमन स्वनगेहाशीर्निस्वने ।।१०।।
जीवानां व्यंतरादीनां बाधायै यन्निषेधनम् ।
अस्माभिः स्थीयते युष्मदिच्छयैवेति निषिद्धिका ।।११।।
प्रवासावसरे यद्दरायामाशीर्निषिद्धिका ।
तस्मान्निर्गमनं कार्यं स्यादाशीर्वैरहारिणी ।।१२।।—आचारसार पृ० ७३, ७८

२ कंदरपुलिणगुहादिसु पवेसकाले णिसिहियं कुज्जा ।
तेहिंतो णिग्गमणे तहासिया होदि कायव्वा ।।१३४।।
—मूलाचार पृ० ११९

३ आवश्यकानि षट्पंचपरमेष्ठिनमस्क्रिया ।
निसही चासही साधोः क्रिया कृत्यास्त्रयोदश ।।१३०।।
—अनगार० पृ० ६२५

४. संथारवासयाणं पाणीलेहाहिं दंसणुज्जोवे ।
जत्तेणुभये काले पडिलेहा होदि कायव्वा ।।७२।।
टीका—संथारवासयाणं—संस्तरश्चतुर्विधः भूमिशिलाफलकतृणभेदात्"
—मूला० पृ० १४८

पत्थर की चट्टान शिलासस्तर है, काष्ठ का पाटा फलकसस्तर है और निर्जंतुक तृणसमूह तृणसस्तर है। "सायकाल प्रतिक्रमण करके प्रकाश मे ही अपने सस्तर को देखशोधकर यथोचित स्थान पर लगा लेना चाहिए फिर रात्रि मे उसे चलाना हटाना या हिलाना नही चाहिये। और न हिलते, डुलते हुए सस्तर पर बैठना या सोना चाहिये[1]।"

प्रश्न—यदि पाटा और तृण-घास साधु बिछायेंगे तो क्षितिशयन नाम का मूलगुण कहा रहेगा ?

उत्तर—क्षितिशयन मूलगुण के लक्षण मे भी टीकाकार सिद्धात चक्रवती श्री वसुनदि आचार्य ने ऐसा कहा है कि "अप्पममथारिदम्हि[2]" के दो अर्थ है। एक तो अल्प भी असस्तरित हो, कुछ भी न बिछाया हो अथवा अल्परूप सस्तर हो जिससे बहुत सयम का विघात न हो, उस तृणमय, काष्ठमय, शिलामय और भूमिमय सस्तर पर अर्थात् गृहस्थ के योग्य प्रच्छादन (विस्तर आदि) से रहित पर शयन करते है।

आचार्यश्री ने स्वय आगे औपचारिक विनय मे 'सथरकरण" पद दिया है जिसका श्री वसुनदि आचार्य ने "सस्तरकरण—चट्टिकादि-प्रस्तरण" चटाई आदि बिछाना ऐसा अर्थ किया है[3]।"

भगवती आराधना मे कहते है—

'पृथ्वीमय, शिलामय, फलकमय या तृणमय ऐसे चार प्रकार के सस्तर होते है। काष्ठमय सस्तर कैसा हो ?

"चारो तरफ से भूमि से सलग्न हो, विस्तृत हो, हलका हो—जिसको उठाने और धरने मे श्रम नही हो अचल हो—हिलता-डुलता न हो, एक

---

१ सस्तरे फलक वान्योपधि रात्रौ न चालयेत् ।
सति कार्येऽपि योगीन्द्रो जीवबाधाधिशकया ॥१४॥
पट्टके फलकेऽन्यत्र वा चले शयनासनम् ।
जीवबाधाकर जातु न कर्तव्य व्रतार्थिभि ॥ ६॥
—मूलाचार प्रदीप पृ० ७७

२ "अप्पमसथारिदम्हि—अल्पमपि स्तोकमपि असस्तरित अप्रक्षिप्त यस्मिन् सोऽल्पासस्तरितस्तस्मिन्नल्पासस्तरिते अथवा अल्पवति सस्तरिते येन बहुसयमविघातो न भवति तस्मिन् तृणमये काष्ठमये शिलामये भूमिप्रदेशे च सस्तरे गृहस्थयोग्यप्रच्छादनविरहिते ।" —मूला० टी० पृ० ४०

३ 'सथरकरण' —मूला० पृ० २९८

शरीर हो—एक काठ का हो, अपने शरीर प्रमाण हो छिद्र रहित हो, टूटा-फूटा न हो और चिकना हो ऐसा पाटा काष्ठमय संस्तर कहलाता है।

तृणमय संस्तर कैसा हो?

तृण संस्तर ग्रन्थि—गाठ रहित तृण से बना हुआ, छिद्ररहित, टूटे हुए तृणों से नहीं रचा गया, मृदुस्पर्श वाला और निर्जंतुक—खटमल आदि जंतु से रहित हो जिसका सुख से शोधन किया जा सके। तथा जिस-पर सोने या बैठने से शरीर में खुजली न हो तृणमय संस्तर होता है। इन लक्षणों से तृण घास और धान की बनी हुई चटाई भी आ जाती है[1]।"

अन्यत्र भी चटाई का विधान आया है। यथा—"श्रमणगण इन्द्र राजा आदि के द्वारा विधिवत् दिये गये श्रमण के योग्य वसति, भस्म आदि, पिच्छिका, चटाई, पुस्तक, कमंडलु आदि वस्तुयें ग्रहण कर सकते हैं[2]।"

वन्दना प्रतिवन्दना

"प्रातःकालीन देववंदना के अनन्तर सभी साधु विधिवत् कृतिकर्म आचार्य की वंदना करते हैं तब आचार्य भी अपनी पिच्छिका उठाकर उन साधुओं को प्रति नमोस्तु करते हुए प्रतिवंदना करते हैं[3]।"

"आर्यिकायें आकर वंदना करती हैं तो वे पांच हाथ की दूरी से आचार्य को छह हाथ की दूरी से उपाध्याय को और सात हाथ की दूरी से साधु की वंदना करती हैं। वे गवासन से बैठकर विधिवत् सिद्ध,

१ भूमिसमरुक्खओ अकुडिल समगि अणमाणो य ।
अच्छिद्दो य अकुटिदो रुक्खो वि य फलहसथारो ॥६४३॥
णिस्संधी य अपोल्लो णिरुवहदो समधिवास्सणिज्जंतु ।
सुहपडिलेहो मउओ तणसथारो हवे चरिमो ॥६४४॥

—भगवती आ० पृ० ८४३-८४४

२ वसतिविकृतिबर्हवृसी पुस्तककुंडीपुर सर श्रमणै ।
श्रामण्यसाधनमवग्रहविधिना ग्राह्यमिद्रादे ॥५४॥

—अनगार ध० चतुर्थ अ०

टीका में ' वृसी—व्रतिनामासन ।

३ विरोग्याह्निदोषेण सपिच्छाजुलिशालिना ।
सदञ्जसर्वाचार्येण कर्तव्य प्रतिवदनम् ॥६२॥

—आचारसार पृ० ३६

आचार्य आदि भक्ति पढकर 'नमोऽस्तु' शब्द के द्वारा नमस्कार करती है[1]।" तब आचार्य आदि मुनि उन्हे 'समाधिरस्तु' आशीर्वाद देते है। आर्यिकायें आपसे-पहले बडी को पूर्ववत् विधिपूर्वक गवासन से बैठकर 'वदामि' कहकर नमस्कार करती हे और बडी आर्यिकायें अपने से छोटी आर्यिकाओ को पिच्छिका सहित वापस 'वदामि' कहकर प्रतिवदना करती हैं।'

ऐलक-क्षुल्लक आपस मे 'इच्छामि' करते है और मुनियो को नमोऽस्तु तथा आर्यिकाओ को वदामि करते है। ब्रह्मचारीगण या श्रावक भी मुनियो को नमोऽस्तु, आर्यिकाओ को वदामि करते है। "ये मुनि-आर्यिका भी व्रतिको को 'समाधिरस्तु' अथवा 'कर्मक्षयोऽस्तु' ऐसा आशीर्वाद देते है। अव्रती श्रावक-श्राविकाओ को 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' शुभमस्तु या 'शातिरस्तु' ऐसा आशीर्वाद देते है। अन्य धर्मावलवियो के द्वारा वदित होने पर उन्हे 'धर्मलाभोऽस्तु' और पामर चाडालादि के द्वारा वदना किये जाने पर उन्हे 'पापक्षयोऽस्तु' आशीर्वाद देते है। आर्यिकायें और ऐलक, क्षुल्लक भी इसी तरह क्रम से आशीर्वाद देते है[2]।"

"शिष्य साधु कभी भी गुरुओ के सामने नही बैठते है बल्कि आजूबाजू से बैठते हैं। कुछ पूछना हुआ तो शाति से पूछते है और उनकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करते है। यदि कोई शिष्य अपने गुरुओ को शास्त्र या कोई वस्तु देते है तो दोनो हाथो से विनयपूर्वक देते है। अथवा यदि गुरु से शास्त्रादि या कोई वस्तु ग्रहण करते है तो दोनो हाथो से विनय पूर्वक ग्रहण करते है[3]।"

---

१ पच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साहू य।
परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वदति ॥१९४॥
—मूलाचार पृ० १६८

२ नमोऽस्त्विति नति शस्ता समस्तमतसमता।
कर्मक्षय समाधिस्तेऽस्त्वित्यार्यार्यजने नते ॥६६॥
धर्मवृद्धि शुभ शातिरस्त्वित्याशीरगारिणि।
पापक्षयोऽस्त्विति प्राज्ञैश्चाडालादिषु दीयताम् ॥६७॥
—आचार० पृ० ३७, ३८

३ पुरो गुरूणा स्थातव्य न यथेष्टमकोपयन्।
तानापृच्छेद्वचस्तेषा प्रतीच्छेत्तत्परो भवेत् ॥६४॥
हस्तद्वयेन दातव्य ज्येष्ठेभ्य पुस्तकादिकम्।
तत्तद्देय करद्वद्वेनादेय विनयानतै ॥६५॥ —आचार० पृ० ३७

"कदाचित् विहार आदि प्रसग मे या चलते समय यदि निंद्य वस्तु, चाडालादि जन, रजस्वला स्त्री आदि का स्पर्श हो जाय तो साधु दड-स्नान करके पुनः मत्र को जपकर उस दिन उपवास करते है। अथवा दडस्नान[1] के बाद मंत्र जपकर गुरु से प्रायश्चित्त लेते हैं[2]।"

'मुनि अपनी वसतिका मे यदि अकेले हो तो किसी अकेली आर्यिका या श्राविका से वार्तालाप नही करते है, चूँकि लोकापवाद का भय रहता है[3]।" साधु अपने स्वाध्याय को पूर्ण करके अपनी योग्यता और क्षयो-पशम के अनुसार गुरुओ के पास अध्ययन करके उन ग्रन्थो का मनन करते हैं। उन्हे कंठाग्र करके गुरु को सुनाते हैं। शास्त्रो मे कहा है कि कठगत प्राण होने तक भी ज्ञानार्जन का पुरुषार्थ नही छोडना चाहिये।

"सघ के नायक आचार्य जहा ठहरे हैं। रात्रि मे सघस्थ रोगी अस्वस्थ आदि साधुओ के मल विसर्जनादि (दीर्घशकादि) के लिये स्वय सायकाल मे वसतिका के निकट स्थान मे जगह देखकर निश्चित कर लेते हैं। रात्रि मे कोई साधु यदि शौचादि को जाते है तो गुरु द्वारा निर्दिष्ट स्थान मे अपने उल्टे हाथ से स्पर्श कर कि कोई जीवजतु तो नही पुन मलादि विसर्जन करते हैं[4]।"

यदि धर्मशाला आदि बडा स्थान है तो श्रावक अन्दर ही मर्यादित एकात स्थान मे बालू, रेत आदि डालकर व्यवस्था बना लेते है जहाँ पर साधु दीर्घशका आदि के लिये जा सकते हैं। चूँकि रात्रि मे साधु दूर तक गमन नही करते हैं।

प्रश्न—रात्रि मे साधु बोलते हैं या नही ?

उत्तर—क्वचित् कदाचित् बोलने के उदाहरण तो मिल जाते है किंतु मूलाचार आदि ग्रन्थो मे मुनियो के मूलगुणो मे रात्रि मे मौन का

१ दडस्नान—सिर से कमण्डलु के जल की धारा देने से जो पैर तक जाय उसे दडस्नान कहते हैं।

२ स्पृष्टे कपालिचाडालपुष्पवत्यादिके मति।
जपेदुपोषितो मत्र प्रागुत्प्लुत्याशु दडवत् ॥७०॥ —आचार० पृ० ३८

३ यद्यपि विमलो योगी छिद्रान् पश्यति मेदिनी।
अतश्च लौकिकाचार मनसापि न लघयेत् ॥

४ रादो दु पमज्जित्ता पण्णसमणपेक्खिदम्मि ओगासे।
आसकविसुद्धीए अपहत्थगफासग कुज्जा ॥१४५॥
—मूला० पृ० १७७

विधान देखने मे नही आया है। हाँ यदि साधु प्रतिमायोग आदि धारण करते है तो स्वत ही मौन हो जाता है।

उदाहरण देखिये—"किसी समय अत्यन्त दु खी धनदत्त सूर्यास्त के बाद मुनियो के आश्रम मे पहुँच कर पानी मागा। वहा पर एक मुनि ने उसे सान्त्वना देकर धर्मोपदेश दिया और रात्रि के भोजन पानादि का त्याग करा दिया। ये ही धनदत्त आगे चलकर मर्यादा पुरुषोत्तम रामचद्र हुआ है[1]।"

दूसरा उदाहरण—एक समय सुकुमाल के मामा जो कि दिगबर मुनि, गुणधर आचार्य थे। वे सुकुमाल की आयु बहुत थोड़ी जानकर उसके महल के पीछे बगीचे मे ठहरे, वही वर्षायोग धारण कर लिया।

"वर्षायोग समाप्त करके वे रात्रि मे ही त्रिलोकप्रज्ञप्ति का पाठ उच्च स्वर से करने लगे। उसको सुनकर जातिस्मरण हो जाने से सुकुमाल ने आकर उपदेश सुनकर और अपनी तीन दिन की आयु जानकर विरक्त हो गया पुन उसने दीक्षा ले ली[2]।"

ऐसे अनेको उदाहरण पाये जाते हैं।

धर्मोपदेश

साधु पौर्वाह्लिक स्वाध्याय के अनतर श्रावको की प्रार्थना से उन्हे धर्मोपदेश भी देते है। अर्थात् प्रात काल मे श्रावक देवपूजा करके आकर गुरु की वदना पूजा करते है। पुन हाथ जोडकर प्रार्थना करते है कि भगवन्! हमे आत्मसुख की सिद्धि के लिये धर्मामृत का पान कराइये। तब शास्त्रो के पारगत, चारो अनुयोगो मे कुशल साधु श्रावको के लिये धर्म का उपदेश देते हैं। 'साधु के उपदेश के लिये सभामडप[3] आदि भी बनाये जाते हैं'।

---

१ तत्रैकश्रमणोऽवोचत् मधुर परिसान्त्वयन्।
रात्रावप्यमृत युक्त न पातु किं पुनर्जलम्॥३२॥
—पद्म० पु० प० १०६

२ ततस्तेन मुनीन्द्रेण योगनिष्ठापनक्रियाम्।
कृत्वा पश्चादूर्ध्वलोक-प्रज्ञप्तिपठनोच्चकै॥१२७॥ —आराधना कथा कोष

३ 'खवयस्सोच्छागारो धम्मसवणमडवादी य'।
टीका— यावता धर्मश्रवणमडपादि च कर्तव्य कटादिभि"
—मूलाराधना पृ० ८३९

प्रश्न—तत्त्वो का ही उपदेश देते है या क्रियाकाड का भी ?

उत्तर—चारो अनुयोगों का ही उपदेश देते है चूँकि सभी अनुयोगो मे रत्नत्रय का कथन है और वह रत्नत्रय ही आत्मा की सिद्धि का साधन है और क्रियाकाड भी भेद चारित्र के अन्तर्गत है।

श्री कुदकुद स्वामी ने भी प्रवचनसार मे कहा है—

"दर्शन ज्ञान का उपदेश, शिष्यो का ग्रहण और उनका पोषण तथा जिनेन्द्र देव की पूजा का उपदेश ये सब सरागी साधुओ की चर्या है[1]।"-इसमे जिनेन्द्र पूजा का उपदेश तथा शिष्यो का पोषण आदि करना क्रिया काड ही तो है।

तथा अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है कि—

"सबसे प्रथम किसी भी भव्य जीवो को मुनि धर्म का उपदेश देना चाहिये अन्यथा वह शिष्य थोड़े मे सतुष्ट होकर उत्तम रत्नत्रय से वचित हो जाता है और तब साधु भी प्रायश्चित्त का भागी होता है[2]।" कहने का मतलब यही है कि शिष्यो की योग्यता को देखकर उनके समझने मे आने लायक और जितना वह ग्रहण कर सकें उसी प्रकार से उपदेश देना चाहिये।

इसके अतिरिक्त सागरसेन मुनिराज को पुरुरवा भील ने नमस्कार किया तब मुनि ने उसे आशीर्वाद देकर मद्य मास मधु के त्याग का उपदेश दिया। अन्यत्र भी खदिर भिल्ल को कौवे का मास छुडाया, मृगसेन धीवर को पहली मछली जो जाल मे फँसे उसे छोड देना ऐसा उपदेश दिया। पात्र की योग्यता के अनुसार ही उपदेश होता है। चू कि आशीर्वाद देने मे भी तो भेदभाव देखा जाता है पुन उपदेश मे ऐसा होना तो स्वाभाविक ही है।

उपदेश के अनन्तर कोई जिज्ञासु गुरु से कुछ विशेष जानने के लिए धर्म सबधी प्रश्न भी करते है अथवा विद्वान् श्रावक बैठकर तत्त्वचर्चा भी करते हैं। श्रावको के साथ व्यर्थ की चर्चा, लौकिक कथा, गृहस्थो सबधी,

---

१ दसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहण च पोषण तेंसि।
चर्या हि सरागाणा जिणिदपूजोवदेसो च ॥२४८॥ —प्रव० स्त०

२ यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमति ।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शित निग्रहस्थान ॥ —पुरुषार्थसि०

व्यापार-सबंधी चर्चा आदि नही करते है। स्त्री कथा, भोजनकथा, राष्ट्र-कथा और राजाओ की कथाओ से भी दूर रहते है चूकि ये विकथायें हैं। यदि कदाचित् कोई श्रावक कुछ अपना दु ख दर्द कहते है तो मुनिराज उसे सुनकर उसको शाति का उपाय भी बतलाते है।

शंका—क्या बतलाते है ?

समाधान—विधान, अनुष्ठान, जाप्य, व्रतादि को देकर उसे सुख शाति का उपाय बताते हैं। जैसे मुनिराज ने मैनासुन्दरी को पति के कुष्ठ रोग निवारण हेतु सिद्धचक्र विधान का उपदेश दिया। चारण ऋद्धिधारी मुनिराज ने अत्यर्थ दरिद्री वत्सराज सेठ को मेघमाला व्रत करने को कहा जिससे वह धनधान्य से सपन्न होकर सुखी हुआ और धर्म मे तत्पर हो गया। महामत्र का जाप्य, सिद्धचक्रमत्र, शातिमत्र आदि का जाप्य जपने को बताते है। रोहिणीव्रत, जिनगुणसपत्ति व्रत आदि व्रतो को बताकर उसे क्रम से भवसमुद्र से पार करने वाले हो जाते हैं।

शंका—सासारिक सुख, सपत्ति, नीरोगता आदि के लिए यह सब मत्र, व्रत आदि बतलाना साधु पद के विरुद्ध नही है क्या ?

समाधान—नही, देखिये, महान् ग्रन्थ मूलाचार मे लिखा हुआ है—

"जिसके द्वारा मार्ग को प्रभावशील किया जाता है वह प्रभावना है। वाद—शास्त्रार्थ, पूजा—सिद्धचक्र विधान महोत्सव आदि, दान—आहार, औषधि, अभय और शास्त्र का दान, व्याख्यान, मत्र-तत्रादि से और इनके समीचीन उपदेशो से मिथ्यादृष्टि के प्रभाव को रोक करके अर्हंत भगवान् कथित जैनशासन का उद्योत करना प्रभावना है[1]।"

इसी ग्रन्थ मे और भी कहा है—

"परवादियो से शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त करके, अष्टाग निमित्तो से, दान, पूजा आदि उत्तम कार्यो से धर्म की प्रभावना करते है[2]।'

मूलाराधना मे बताया है कि "जो साधु द्रव्यलाभ हेतु, मिष्ट आहार हेतु अथवा सुख हेतु मत्रादि कार्यो का प्रयोग करता है वह

---

१ पभावणा य—प्रभावना च प्रभाव्यते मार्गोऽनयेति प्रभावना वादपूजादान-व्याख्यानमत्रतत्रादिभि सम्यगुपदेशैर्मिथ्यादृष्टिरोध कृत्वार्हत्प्रणीतशासनो-द्योतनम्।" —मूलाचार टी० पृ० १७४

२ परिवादिजयाष्टागनिमित्त दानपूजादिभिश्च धर्म प्रभावयितव्य।" —मूला० टी० पृ० ३३२

आभियोग्य भावना को करता है। किन्तु जो अपने अथवा पर के आयु आदि ज्ञान करने के लिए मन्त्रादि का प्रयोग करता है, धर्मप्रभावना के लिए कौतुक को दिखलाता है, अथवा मै वैयावृत्ति मे प्रवृत्ति करूँगा इस अभिप्राय से इनका प्रयोग करता है तथा दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणामो मे आदरपूर्वक प्रवृत्ति करता रहता है तो वह दूषित नही है[1]।"

अर्थात् मूलाराधना मे कदर्प आदि पाच भावनाओ को साधु के लिए छोड़ने योग्य वताते हुए आभियोग्य भावना मे मन्त्रादि प्रयोगो का भी निषेध किया है। किंतु टीकाकार ने यह स्पष्ट किया है कि यदि वह धर्म-प्रभावना आदि के उद्देश्य से ऐसा करता है तो दूषण नही है। यदि वह अपनी आजीविका स्वरूप उसमे ही लग जाता है अपनी आवश्यक क्रियाओ से उदासीन हो जाता है तव तो निषिद्ध ही है।

षट्खडागम के विषय के ज्ञाता धरसेनाचार्य सोरठ देश के गिरि नगर की चद्रगुफा मे ध्यान करते रहते थे। एक वार उन्हे चिन्ता हुई कि मेरे पश्चात् मुझमे विद्यमान श्रुतज्ञान का लोप हो जायगा। तव उन्होने महिमानगरी के मुनिसम्मेलन को पत्र लिखकर एक व्रह्मचारी को भेजा और वहाँ से योग्य दो शिष्य वुलाये। गुरु ने उनकी वुद्धि की परीक्षा हेतु एक को अधिकाक्षर और एक को हीनाक्षर मन्त्र देकर उन्हे षष्ठोपवास से सिद्ध करने को कहा। आज्ञानुसार उन्होने कुछ ऊहापोह के विना ही मन्त्र सिद्ध कर लिया। तो एक के सामने वडे-वडे दात वाली और एक के सामने कानी देवी के रूप मे दो देवतायें प्रकट हुईं। इन्हे देखकर उन साधुओ ने समझ लिया कि मन्त्र मे कुछ त्रुटि है। अनतर मन्त्र व्याकरण से मन्त्रो को शुद्ध करके दोनो ने पुन सिद्धि की तव देविया अपने स्वाभाविक रूप मे प्रगट हुईं।'

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि इतने महान् आचार्य भी मन्त्र का प्रयोग करते-कराते थे। हा, इतना अवश्य है कि उपर्युक्त मिष्ट आहार आदि के हेतु इनका प्रयोग नही करते है और न ऐसे श्रावको को ही मन्त्रादि देते

---

१. द्रव्यलाभस्य मृष्टाशनस्य, सुखस्य वा हेतु मन्त्राद्यभियोगकर्म प्रयुक्ते य स एव आभियोग्यभावना करोति। तेन स्वस्य परस्य वा आयुरादिपरिज्ञानार्थं मन्त्राभियोग कुर्वन्, धर्मप्रभावनार्थं कौतुक उपदर्शयन्, वैयावृत्य वा प्रवर्तयामीति उद्यत, ज्ञानदर्शनचारित्रपरिणामादरवर्तनान्न दुष्यतीति भाव।"

—मूलाराधना पृ० ४००

है कि जो अश्रद्धालु है या मन्त्रो से दुष्प्रवृत्ति करके उनका दुरुपयोग कर सकते है। इसीलिये मन्त्रादि देने वाले आचार्य या मुनि बहुत ही कुशल, दीर्घद्रष्टा होते हैं। और यदि अल्पज्ञ या अदूरदर्शी साधु ऐसा कार्य करते है तो वे धर्म की अप्रभावना और अपनी और पर की हानि भी कर सकते हैं। दूसरी बात यह भी है कि कोई भी मंत्र या व्रत बिना गुरु के ग्रहण नही करना चाहिये। आगम की ऐसी ही आज्ञा है। मन्त्र भी गुरु के द्वारा दिये गये उनके आशीर्वाद से करने पर ही सुख शाति को देने वाले होते है। ऐसे ही व्रतो के बारे मे भी स्पष्ट आदेश है।

'गुरु के सामने ही व्रतो का ग्रहण और व्रतो का त्याग करना चाहिये। गुरु की साक्षी के बिना ग्रहण किये और त्यागे व्रत निष्फल होते हैं अत उन व्रतो मे धन-धान्य, शिक्षा आदि फलो की प्राप्ति नही हो सकती है। जो स्वयं व्रतो को गहृण करता है और स्वय ही व्रतो को छोड़ देता—पूर्ण कर देता है उसके व्रत निष्फल हो जाते है, क्योकि गुरु की साक्षी न होने से व्रतो का क्या फल होगा ? अर्थात् कुछ भी नही[1]।'

प्रश्न—आभियोग्य आदि भावनायें क्या है ?

उत्तर—कंदर्पी, किल्विषिक, आभियोग्य, आसुरी और समोही ये पाच भावनाये निद्य है।

कंदर्प भावना—राग के उद्रेक से अशिष्ट वचनो का प्रयोग करना कदर्प है, अशिष्ट कायचेष्टा कौत्कुच्य है। इनका बारबार करना, इन्द्र-जाल आदि कौतुक दिखाकर लोगो मे आश्चर्य उत्पन्न करना, हमेशा हास्य कथाओ मे लगे रहना।

किल्विषक भावना—मायाचार सहित होकर, ज्ञान का, केवली का, धर्म का, आचार्य और साधुओ का अवर्ण करना। अर्थात् इनके असद्भूत दोषोद्भावित करना।

आभियोग्य भावना—"ऋद्धि, रस और साता हेतु—ऋद्धि सुख मिष्टाहार आदि के लिए मन्त्रो का प्रयोग—कुमारी कन्या आदि मे मन्त्र

---

१ व्रतादानव्रतत्याग कार्यो गुरुसमक्षत ।
नो चेत्तन्निष्फल ज्ञेय कुत शिक्षादिक भवेत् ॥
यो स्वय व्रतमादत्ते स्वय चापि विमुचति ।
तद्व्रत निष्फल ज्ञेय साक्ष्याभावात् कुत फलम् ॥

—व्रततिथिनिर्णय पृ० २६४

प्रयोग से भूत का आवेश उत्पन्न करना, कौतुककार्य—असमय मे जल-वर्षा आदि दिखाना, भूति कर्म—बालको की रक्षा हेतु भूतिकर्म मत्र का प्रयोग करना। ये कार्य मिष्टाहार आदि हेतु यदि किये जांय तो दोषरूप है। किंतु यदि आयु आदि का ज्ञान, धर्मप्रभावना वैयावृत्ति आदि के लिये मन्त्रादि प्रयोग किये जाते हैं तो दोष नही है। जैसा कि पहले उद्धरण देकर बताया जा चुका है[1]।"

आसुरी भावना—बहुत काल तक रहने वाले क्रोध से युक्त और कलह से युक्त तपश्चरण करना, ज्योतिषी आदि की आजीविका करना, क्रूर परिणामी होना तथा दोष करके भी पश्चात्ताप नही करना।

सम्मोही भावना—मिथ्यामार्ग का उपदेश देना, मुक्ति मार्ग मे दूषण लगाना, रत्नत्रयरूप सच्चे मार्ग से विपरीत आचरण करना, इस प्रकार मोह से लोक को मोहित करना।

"ये पाचो भावनायें रत्नत्रय की विराधना करने वाली है। यदि साधु इन भावनाओ को करते है तो मरण कर देवदुर्गति मे चले जाते है[2]। अर्थात् देवो मे आभियोग्य जाति के देव होकर इन्द्रादिको के वाहन बनने का कार्य करते हैं, किल्विषक जाति मे पैदा होकर इन्द्र की सभा से बहिर्भूत रहते है और असुर जाति के देवो मे पैदा होकर कदाचित् नरको मे नारकियो को लडा कर पापसचय करते रहते हे। इत्यादि पुनः मिथ्यात्व के निमित्त से अनत समार मे परिभ्रमण करते रहते है।

ये साधु तपोभावना, ज्ञानभावना, अभीरुत्व भावना, एकत्व भावना और धृतिबल भावना, सक्लेश रहित इन पाच भावनाओ का आश्रय लेते है।

इसी प्रकार साधु स्त्री कथा, भोजनकथा आदि विकथाओ मे भी अपना अमूल्य समय नष्ट नही करते है। "प्रत्युत वे आक्षेपणी, विक्षेपणी,

---

१ मताभिओगकोदुगभूदीयम्म पउजदे जो हु।
इड्ढिरस सादहेदु अभिओग भावण कुणइ ॥१८२॥

२ एदाहिं भावणाहि य विराधओ देवदुग्गदि लहइ।
तत्तो चुदो समाणो भमिहिदि भवसायरमणत ॥१८५॥

—मूलाराधना पृ० ३९७ से ४०३

सवेगिनी और निर्वेदिनी इन कथाओ को करते है।[1]"

'तत्त्वो का निरूपण करने वाली आक्षेपणी कथा है। परमत की एकातदृष्टियो का शोधन-खडन करके स्वसमय की स्थापना करने वाली विक्षेपणी कथा है। विस्तार से धर्म के फल का वर्णन करने वाली सवेगिनी कथा है, अथवा पुण्य के फल को कहने वाली सवेदिनी कथा है।

शका—पुण्य के फल क्या है ?

समाधान—तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, वलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरो की ऋद्धियाँ पुण्य के फल है[2]।"

वैराग्य को उत्पन्न करने वाली निर्वेदिनी कथा है अथवा पाप के फलो को कहने वाली निर्वेदिनी कथा है।

पाप के फल क्या है ?

नरक, तिर्यञ्च और कुमानुष की योनियो मे जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना और दारिद्रय आदि की प्राप्ति पाप के फल है[3]।

---

१ आक्षेपिणी तत्त्वविधानभूता, विक्षेपणी तत्त्वदिगतशुद्धि।
सवेगिनी धर्मफलप्रपचा, निर्वेदिनी चाह कथा विरागाम् ॥६५॥
—धवला० पु० १, पृ० १०७

२ "काणि पुण्णफलाणि ? तित्थयरगणवररिसिचक्कवट्टिवलदेववासुदेवसुर-विज्जाहरिद्धीओ।"

३ णिव्वेयणी णाम पावफलसकहा। काणि पावफलाणि ? णिरयतिरियकुमाणुस-जोणीसु जाइजरामरणवाहिवेयणादालिद्दादीणि।"
—धवला, पुस्तक १, पृ० १०६,

८. सामयिक प्रश्नोत्तर

प्रश्न—क्या साधु मदिर धर्मशाला या घर आदि मे ठहर सकते है ?

उत्तर—ठहर सकते हैं। चतुर्थ काल मे भी ठहरते थे ऐसे उदाहरण मौजूद हैं। यथा—"एक समय सुरमन्यु, श्रीमन्यु, श्रीनिचय, सर्वसुन्दर, जयवान, विनयलालस और जयमित्र ये सप्त ऋषि अयोध्या मे आहारार्थ आये। "आहार के अनतर शुद्ध निर्दोष प्रवृत्ति करने वाले मुनियो से व्याप्त ऐसे अर्हंत भगवान् के उस मदिर मे गये जहाँ कि मुनिसुव्रत की प्रतिमा विराजमान थी। ये सातो ऋषि चार अगुल अधर चल रहे थे। मदिर मे विद्यमान श्रीद्युति भट्टारक (आचार्य) ने इन्हे देखा। ऋषियो ने श्रद्धा से पैदल ही मदिर मे प्रवेश किया तथा द्युतिभट्टारक ने खडे होकर नमस्कार करना आदि भक्ति से विधिवत् उनकी पूजा की।[1]" यह रामचन्द्र के समय की बात है। और भी देखिये—"घटगाँव मे देविल कुंभार और धर्मिल नाई ने यात्रियो के ठहरने हेतु एक धर्मशाला बनवाई। एक दिन देविल ने एक दिगबर मुनि को लाकर वही ठहरा दिया। धर्मिल को पता चलते ही मुनि को हाथ पकड़कर निकाल दिया और एक सन्यासी को लाकर ठहरा दिया। धर्मशाला से निकल कर वे मुनि एक वृक्ष के नीचे रात भर डास, मच्छर आदि के उपसर्ग सहते रहे[2]।"

"[3]उज्जयिनी के श्मशान मे मणिमाली मुनि मुर्दे के आसन बाँध कर ध्यानस्थ थे। एक मन्त्रवादी ने मुर्दा समझकर उनके मस्तक पर चूल्हा रख कर खीर बनाना शुरू किया। अग्नि के उपसर्ग से मुनि के मस्तक से खीर गिर गई। अनंतर प्रात पता चलने पर जिनदत्त सेठ ने आकर मुझे उठाकर अपने घर ले आया, इलाज कर अच्छा किया। इधर मुनि नीरोग

---

१ आर्हंत भवन जग्मु शुद्धसयतसकुल।
यत्र त्रिभुवनानद स्थापितो मुनिसुव्रत ॥२२॥

अभ्युत्थानतमस्यादिविधिना द्युतिनार्चिता' ॥२४॥

—पद्म पु० पर्व ९२

२, आराधना कथाकोप, कथा स० ११२

३. श्रेणिकचरित्र सर्ग ११।

हुए, उधर वर्षाकाल आ गया। जिनदत्त आदि के आग्रह से वही चातुर्मास करके उसी के घर मे रहने लगे। किसी समय जिनदत्त ने मुनि के सिंहासन के नीचे भूमि में गड्ढा करके रत्नो का एक घडा गाड दिया। चुपके से उसके व्यसनी पुत्र ने देख लिया था सो कदाचित् निकाल ले गया। चातुर्मास के बाद मुनि के विहार कर जाने पर सेठ ने घडा देखा। नही मिलने पर मुनि पर सदिग्ध हो पुन' उनको वापस ले आया और कथाएँ-उपकथाएँ की।" यह घटना श्रेणिक राजा के समय चतुर्थ काल की है।

इस प्रकार मुनि मदिर या धर्मशाला मे रहते थे, आज भी रह सकते है और विशेष प्रसग मे श्रावको के घर में भी ठहर सकते है।

अन्यत्र भी कहा है—"इस भीषण कलिकाल मे हीन सहनन होने से साधु स्थानीय नगर ग्रामीण के जिनालय मे रहते है[1]।"

"इस समय यहाँ इस कलिकाल मे मुनियो का निवास जिनमदिर मे होता है और उन्ही के निमित्त से धर्म एव दान की प्रवृत्ति है। इस प्रकार मुनियो की स्थिति, धर्म और दान इन तीनो के मूल कारण गृहस्थ श्रावक है[2]।"

ऐसे ही वसतिका मे रहने का विधान भगवती आराधना मे स्पष्ट है। यशस्तिलक चंपू मे कहा है कि "यद्यपि ग्राम मे अनेक वसतिकायें साधुओ के ठहरने के लिए थी फिर भी वे आचार्य अवधिज्ञान से हिंसा का दिवस जानकर बाहर ही मुनिमनोहरमेखला नामक एक पर्वत पर ठहर गये।"

(२) प्रश्न—क्या आर्यिकाएँ भी मन्दिर मे रह सकती है?

उत्तर—हाँ, चतुर्थ काल मे भी रहती थी। यथा—श्री रामचन्द्र[3] ने आर्यिका संघ सहित जिनमन्दिर को देखा उनको नमस्कार आदि किया।

---

१ साम्प्रत कलिकालेऽस्मिन् हीनसहननत्वत.।
स्थानीयनगरग्रामजिनसद्मनिवासिन ॥११९॥ —भद्रबाहु च० परि० ४

२ सम्प्रत्यत्र कलौ काले जिनगेहे मुनिस्थिति।
धर्मश्च दानमित्येषा, श्रावका मूलकारणम् ॥४०२॥
—पद्मनदिपचविंशतिका, पृ० १२८

३ सतीष्वपि नगरे महतीषु वसतिषु पौराणामतीव प्राणिवधे सज्ञा बुद्धिरित्यवधिना बोधनावबुद्धयावधीरितपुरप्रवेश।

पुनः सीता को उनके पास छोड़कर आप अतिवीर्य राजा के यहाँ जाकर उसे अनुकूल करके वापस आकर सीता सहित रामचन्द्र ने 'वरध गणिनी आर्यिका की पूजा की'[1]।'

(३) प्रश्न—क्या साधु मंदिर मूर्ति आदि बनाने का उपदेश दे सकते हैं ?

उत्तर—हाँ, सप्तऋषियो मे प्रधान ऋषि ने शत्रुघ्न राजा को उपदेश दिया। यथा—"घर-घर मे जिन प्रतिमायें स्थापित की जावें, उनकी पूजायें हों, अभिषेक हो और विधिपूर्वक प्रजा का पालन किया जावे। हे शत्रुघ्न ! इस नगरी के चारो दिशाओ मे सप्तर्षियो की प्रतिमायें स्थापित करो, उसी से शाति होगी[2]।"

(४) प्रश्न—क्या साधु प्रभावना के लोभ मे पड सकते है ? अथवा धर्म के विषय मे पक्षपात कर सकते हैं ?

उत्तर—हाँ, प्रभावना तो सम्यक्त्व का एक अङ्ग है। इसके लिये तो श्री अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है कि—रत्नत्रय के द्वारा सतत ही आत्मा की प्रभावना करनी चाहिये और दान, तपश्चरण, जिनपूजा, विद्या तथा अतिशय-चमत्कार आदि से जिनधर्म की प्रभावना करनी चाहिये। उदाहरण देखिये—"मथुरा के राजा पूतिगंध की रानी उर्विला ने जब देखा कि आष्टाह्निक पर्व मे बुद्धदासी का रथ पहले निकलेगा। उसने उपवास की प्रतिज्ञा करके क्षत्रिय गुफा मे रहने वाले सोमदत्त और वज्र-कुमार मुनि के पास जाकर प्रार्थना की। इतने मे ही मुनि वन्दना हेतु दिवाकरदेव आदि बहुत से विद्याधर (जिनके यहाँ वज्रकुमार का पालन हुआ था) आये। वज्रकुमार मुनि ने उनसे कहा कि आपलोग विद्या के बल से उर्विला रानी की इच्छानुसार जिनेन्द्रदेव का रथ पहले निकालिये, उन लोगो ने वैसा ही किया। जिससे कि आजतक प्रभावना अङ्ग मे वज्रकुमार मुनि की प्रसिद्धि हो रही है[3]।" ऐसे श्री कुन्दकुन्ददेव ने

१ आवासान्निर्गतोऽपश्यदार्यिकाजनलक्षित ।
जिनेंद्रभवन भक्त्या प्रविवेश च साजलि ॥१४॥—पद्म पु० प० २७, पृ० १६१

२ स्थाप्यता जिनबिंबानि पूजितानि गृहे-गृहे ।
अभिषेका प्रवर्त्यंता विधिना पाल्यता प्रजा. ॥७३॥
सप्तर्षिप्रतिमा दिक्षु चतसृष्वपि यत्नत. ।
नगर्यां कुरु शत्रुघ्न ! तेन शातिर्भविष्यति ॥७४॥ पद्मपु० प० ९२

३ आराधना कथाकोश, कथा न० १३

गिरनार पर्वत पर पहले वन्दना हेतु पाषाण की देवी की मूर्ति को बुलवा दिया था कि 'सत्यपथ निर्ग्रंथ दिगम्बर' इत्यादि।

श्री अकलकदेव ने राजा की सभा मे बौद्धो के गुरु से और उनकी आराध्य तारादेवी से छह महीने तक शास्त्रार्थ करके बौद्धो की पराजय की और अपने जैनधर्म की ध्वजा फहराई[1]।"

(५) प्रश्न—क्या साधु सघ के ठहरने आदि की चिन्ता करते है ?

उत्तर—हाँ, कुन्दकुन्द स्वामी ने स्वय कहा है कि सघ का सग्रह, अनुग्रह और 'पोषण तेसिं' उसका पोषण करना, अशन पान आदि की चिन्ता करना। उदाहरण देखिये—"श्रीसुदत्ताचार्य सघ के ठहरने हेतु राजपुर नगर के बाहर उद्यान, श्मशान आदि का अवलोकन करते हैं। किन्तु वे स्थान सघ के लिए अयोग्य समझकर पुन मुनिमनोहर मेखला पर्वत को योग्य समझकर उसपर ठहर जाते हैं[2]।"

(६) प्रश्न—क्या साधु आग्रहपूर्वक किसी को दीक्षा आदि देते दिलाते है ?

उत्तर—हाँ, यदि वे समझते है कि ये मेरे निमित्त से मोक्षमार्ग मे लग जायेगा तो अवश्य प्रेरणा विशेष करते हैं। यथा—"वारिषेण मुनि अपने मित्र पुष्पडाल को ले आकर उसकी इच्छा बिना भी दीक्षा दिला दी। जब वह अस्थिर हुआ घर जाने लगा तब उसे अपने घर ले जाकर अपनी स्त्रियो को दिखाकर उन्हे लेने के लिए कहा तब वह लज्जित होकर वापस धर्म मे स्थिर हो गया[3]।" "भावदेव ने अपने भाई भवदेव को दीक्षा दिला दी। उसकी स्थिरता न होने से एक दिन वह भवदेव मुनि अपने घर जा रहा था कि मार्ग के मन्दिर मे अपनी पत्नी जो आर्यिका वेष मे थी उससे सम्बोधन पाकर पुन स्थिर हो गया। यही आगे जंबू स्वामी हुए हैं[4]।" जबरदस्ती से किया गया धर्म, ग्रहण की गई दीक्षा भी ससार समुद्र से पार करने वाली ही होती है।

(७) प्रश्न—क्या आचार्य दीक्षार्थी के जाति, कुल आदि का विचार करते है ?

---

१ आराधना कथाकोश।

२ यशस्तिलकचपू प्र० आश्वास, पृ० ४० से ७० तक।

३ आराधना कथाकोश, कथा १२।

४ जबूस्वामी चारित्र अ० २।

उत्तर—अवश्य करते है, क्योकि आगम मे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णो के मनुष्य को ही जैनेश्वरी दीक्षा का आदेश दिया है। तथा दीक्षार्थी जातिच्युत, पतित अथवा लोकनिंद्य भी नही होना चाहिये। यथा—

"सुदेश, सुकुल और सुजाति मे उत्पन्न हुए ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य है जो कि कलक रहित समर्थ है यह सज्जनो द्वारा जिनमुद्रा उन्हे ही देनी चाहिए। कहा भी है—सुदेश कुल और जाति मे उत्पन्न ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य मे ही अर्हतदेव के लिंग की स्थापना की जाती है, निंद्य या वालक आदि मे नही। जो जाति आदि से पतित है उनको यह विद्वानो द्वारा पूज्य जिनमुद्रा नही देनी चाहिए। जो रत्नो की माला सत्पुरुषो के धारण करने योग्य होती है वह कुत्ते के गले मे नही पहनाई जाती हैं[1]।"

जैनेन्द्र व्याकरण मे श्री पूज्यपादस्वामी ने भी कहा है—

वर्णनार्हद्रूपायोग्यानाम् ॥९७॥[2]

जो वर्ण से—जातिविशेष से अर्हंत रूप—निर्ग्रन्थता के अयोग्य है उनमे द्वन्द्व समास करने पर नपुसक लिंग का एकवचन होता है। यथा—

तक्षायस्कार—वढई और लुहार, रजकततुवाय–धोवी और जुलाहा। 'वर्ण से' ऐसा क्यो कहा ? तो 'मूकवधिरौ' गूँगा और वहरा, इसमे वर्ण का सम्वन्ध नहीं होने से एकवचन नही हुआ। 'अर्हद्रूप के लिए अयोग्य हो' ऐसा क्यो कहा तो 'ब्राह्मणक्षत्रियौ—' ब्राह्मण और क्षत्रिय, ये वर्ण

---

१ "सुदेशकुलजात्यगेब्राह्मणे क्षत्रिये विशि।
निष्कलके क्षमे स्थाप्या जिनमुद्रार्चिता सताम् ॥८८॥
उक्त च—
ब्राह्मणे क्षत्रिये वैश्ये सुदेशकुलजातिजे।
अर्हत स्थाप्यते लिंग न निंद्यावालकादिपु ॥
पतितादेर्न सा देया जैनी मुद्रा बुधार्चिता।
रत्नमाला सता योग्या मडले न विधीयते" ॥
—अनगार पृ० ६७८-६७९

२ वर्णनार्हद्रूपायोग्याना ॥९३॥
वर्णेन जातिविशेपेणार्हद्रूपस्य नैर्ग्रन्थ्यास्यायोग्याना द्वद्व एकवद् भवति। तक्षायस्कार। इत्यादि —शब्दार्णवचद्रिका पृ० ३५, जैनेन्द्रमहावृत्ति

से अर्हंत लिंग के लिए अर्थात् दिगम्बर मुनि रूप जिनमुद्रा के लिए योग्य है इसलिए इनमे भी द्वन्द्व समास मे द्विवचन होता है। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जिनमुद्रा के योग्य है।

श्रीकुन्दकुन्ददेव ने भी आचार्य भक्ति मे स्पष्ट कहा है—

आप देश, कुल और जाति से शुद्ध हैं, विशुद्ध मन, वचन, काय से सयुक्त है। ऐसे हे आचार्यदेव! आपके पादकमल इस लोक मे हमारे लिए नित्य ही मगलस्वरूप होवें[1]।

(८) प्रश्न—क्या साधु अपने घर वालो को भी जबरदस्ती धर्म मे लगा सकते है? या दीक्षा दे सकते हैं?

उत्तर—हा, अनेको उदाहरण है। भावदेव ने ही अपने भाई भवदेव को बिना इच्छा के ही निकाला और दीक्षा दिलाई। अन्य भी उदाहरण देखिये—"दिग्विजय के प्रसग मे रावण ने माहिष्मती के राजा सहस्ररश्मि को बाधकर जेल मे डाल दिया। तब उनके पिता जो कि ऋद्धिधारी महामुनि थे, वे वहाँ रावण की सभा मे आ गये। विनयोपचार के अनतर बोले कि हे रावण! तुम मेरे आत्मज (पुत्र) को छोड दो। रावण के द्वारा छोडे जाने पर उसने विरक्त होकर पिता के साथ ही जाकर दीक्षा ले ली[2]।"

तथा यदि कोई विशेष बुद्धिमान् है उनसे विशेष धर्म होने वाला है तो भी वे परोपकार करते हैं। यथा—"श्री पुष्पदत मुनिराज ने करहाटक ग्राम मे आकर अपने भानजे जिनपालित को साथ लिया और मुनिदीक्षा देकर षट्खडागम सूत्र बनाकर पढाये[3]।"

---

१ देसकुलजाइसुद्धा विसुद्धमणवयणकायसजुत्ता।
तुम्ह पायपयोरुहमिह मगलमत्थु मे णिच्च ॥१॥
—आचार्यभक्ति क्रियाकलाप पृ० २१४

२ पराभिभवमात्रेण क्षत्रियाणा कृतार्थता।
यत सहस्रकिरण ततो मुच ममागज ॥१४७॥—पद्म पु० १० पृ० २३५

३ य पुष्पदतनाममुनि.।
जिनपालिताभिधान दृष्ट्वासौ भागिनेय स्व ॥१३२॥
दत्वा दीक्षा तस्मै तेन सम देशमेत्य वनवास।

अथ पुष्पदतमुनिरप्यध्यापयितु स्वभागिनेय त।
कर्मप्रकृतिप्राभृतमुपसहार्यैव षड्भिरिह खडै ॥१३४॥ —श्रुतावतार

(९) प्रश्न—क्या साधु घर का मोह छोडकर पुन. शिष्यो को इकट्ठा कर सघ वढाते हैं ? या आर्यिकाओ को भी रखते है ?

उत्तर—अवश्य, यह तो शिष्यो का सग्रह करना अनुग्रह करना आदि विधान तो आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने ही कहा है। उदाहरण–श्री सुदत्ताचार्य का सघ वहुत ही विशाल था। उसमे मुनि, आर्यिकाये, क्षुल्लक, क्षुल्लिकायें सभी थे। तभी यो क्षुल्लक युगल—अभय-रुचि क्षुल्लक और अभयमती क्षुल्लिका को गाँव मे आहारार्थ भेजा था। श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने भी मूलाचार मे "आर्यिकाओ को प्रायश्चित देने का और उनके नेतृत्व –करने का आदेश अनुभवी प्रौढ कुशल आचार्य को दिया है। नवदीक्षित, लघुवयस्क को आर्यिकाओ के गणधर-आचार्य बनने का निषेध किया है[1]।"

(१०) प्रश्न—क्या साधुओ या आर्यिकाओ के पास ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणी या अव्रती जन रह सक्ते हैं ?

उत्तर—हाँ, रह सकते हैं। "धरसेनाचार्य ने ब्रह्मचारी के हाथ से मुनियो के पास पत्र भेजा था कि हमारे श्रुतज्ञान को ग्रहण करने मे समर्थ ऐसे दो मुनि हमारे पास भेज दो[2]।"

"पद्मश्री आर्यिका के पास अनन्तमती रहती थी। जिनदत्त की पत्नी उसे आगन मे चौक पूरने हेतु बुला लाई। तव चौक पूरा हुआ देखकर प्रियदत्त ने उस कन्या से मिलने को कहा। वह अनन्तमती उसकी कन्या थी[3]।"

"श्री गोवर्द्धन आचार्य ने आठ वर्ष के बालक भद्रबाहु को उनके पिता से मागकर साथ लिया और पढाया। तब ये छात्र अव्रती ही थे। अनतर दीक्षित हुए है[4]।"

तत्त्वार्थवृत्ति मे कहा कि "पुलाक मुनि के रात्रि भोजन के ग्रहण आदि रूप मूलगुणो मे विराधना कैसे सभव है ? तब बताया है कि यदि कदाचित् छात्रो को रात्रि मे खाने खिलाने को कह देवे, ऐसा समझकर

---

१ मूलाचार श्रीकुदकुद कृत।

२ समुदितमुनीन् प्रति ब्रह्मचारिणा प्रापयल्लेख ॥१०६॥ —श्रुतावतार

३. आराधना क० को०।

४ भद्रबाहु चारित्र।

कि इससे आगे बहुत कुछ लाभ होने वाला है। इत्यादि, तो मूलगुणो मे दोप लग जाता है[1]।"

देशभूषण और कुलभूपण ने भी मुनि के पास विद्याध्ययन किया था। अनंतर विरक्त होकर दीक्षित हुए थे। मैनासुंदरी ने भी गुरु से ही विद्या ग्रहण की थी।

(११) प्रश्न—क्या साधु के निमित्त से वना हुआ आहार या औषधि साधु ले सकते हैं?

उत्तर—यदि उन्हे मालूम नही तो ले सकते है। उदाहरण—पूर्व-विदेहक्षेत्र मे प्रभाकरी नगरी के राजा शत्रु को जीतकर आकर नगर के समीप पर्वत पर ठहर गये। पुरोहित ने कहा, महाराज! आज आपको मुनिदान का लाभ हो सकता है। वह कैसे? सो हम लोग आज नगर मे सूचना दिये देते है कि राजा के महान् महोत्सव का दिन होने से तुम लोग सर्वत्र घरो मे गलियो मे चदन का छिड़काव करो, फूल विखेरो, गली मे किंचित् रध्र भी खाली न रहे।' प्रजा ने वैसा ही किया तव पिहितास्रव मुनि मासोपवास के वाद पारणा हेतु गांव की प्रत्येक गलियो को अप्रासुक देखकर वापस आकर राजा के पड़ाव की तरफ आये। राजा ने पडगाहन कर आहार देकर पचाश्चर्य को प्राप्त किया[2]।"

"नन्दिषेण मुनि अपनी अनेक ऋद्धियो के प्रभाव से अन्य मुनियो की वैयावृत्ति करते है। एक समय एक कृत्रिम रुग्ण मुनि ने 'आहार मे तुम्हे क्या चाहिये?' ऐसा पूछने पर कहा कि मुझे पूर्व देश के धान का भात, पाचाल देश के मूग की दाल, पश्चिम देश की गायो का घी और कलिंग देश की गायो का दूध मिल जावे तो मैं स्वस्थ हो सकता हूँ। नदिषेण मुनि ने गोचरी वेला मे गाव मे जाकर ऋद्धि के वल से उक्त चीजें लाकर उसे आहार मे दी[3]।"

अकपनाचार्य आदि सात सौ मुनियो का उपसर्ग दूर होने के वाद श्रावको ने घर-घर मे खीर वनाई। इसलिये कि मुनियो के कठ धुयें से,

---

१. "रात्रिभोजनवर्जनस्य विराधक कथमिति चेत्? उच्यते—श्रावकादीनामुपकारोऽनेन भविष्यतीति छात्रादिक रात्रौ भोजयतीति विराजक स्यात्"
—तत्त्वार्थवृत्ति पृ० ३१६

२. आदिपुराण, पर्व ८, पृ० १८४।

३ हरिवश पु० सर्ग० १८, पृ० १७४।

अग्नि की ज्वाला से अत्यधिक शुष्क हो चुके हैं इन्हे आहार लेने मे बाधा न हो। अनतर सभी मुनियो को खीर का आहार दिया गया। उसी की स्मृति मे रक्षाबन्धनपर्व—श्रावण शुक्ला पूर्णिमा के दिन आज भी श्रावक खीर का आहार साधुओ को देना चाहते है और घर-घर मे खीर बनती है।

"महाराज श्री कृष्ण मुनि के आने का समाचार पाकर दर्शनार्थ गये। मुनि के शरीर को व्याधिग्रस्त शरीर देखकर पूछा—प्रभो! इस रोग की शाति का क्या उपाय है कि औषधि से यह रोग नष्ट हो सकता है? मुनिराज ने कहा—राजन्! यदि रत्नकापिष्ट का प्रयोग किया जाय तो यह रोग नष्ट हो सकता है। वापस आकर श्रीकृष्ण ने द्वारावती मे सर्वत्र आहार की मनाही कर दी[1]। दूसरे दिन मुनि ज्ञानसागर जी आहार के लिए नगर मे आये, राजा की आज्ञा न होने से किसी ने भी नही पडगाहा। अन्त मे वे मुनिराज राजमहल मे आ गये। रुक्मिणी रानी ने विधिवत् पडगाहन कर आहार मे रत्नकापिष्ट चूर्ण दिया। इस प्रकार औषधि के सेवन से मुनि का शरीर स्वस्थ हो गया।"

(१२) प्रश्न—क्या श्रावक अन्यत्र से आकर वहाँ रहकर मुनियो को आहार देवें तो मुनि ले सकते हैं?

उत्तर—हाँ, ले सकते है। उदाहरण—"द्युति मुनिराज के शिष्य तीन मुनि जिनेंद्र भगवान् की वन्दना हेतु ताम्रचूडपुर की ओर चले। बीच मे पचास योजन प्रमाण वालुका समुद्र (रेगिस्तान) मिलता था सो वे इच्छित स्थान पर नही पहुँच सके, बीच मे ही वर्षा काल आ गया। वे मुनिराज वही एक वृक्ष के नीचे ठहर गये। अनतर अयोध्या को जाते हुए भामडल ने तीनो मुनिराजो को देखा और सोचा कि इनको यहा प्राण-धारण-हेतु आहार कैसे मिलेगा? पुन भामडल ने भक्ति से युक्त होकर वही विद्या के बल से एक नगर बसाया और परिजन सहित वही रहकर मुनियो को आहारदान देता रहा[2]।"

(१३) प्रश्न—क्या साधु वृत्तिपरिसख्यान लेकर आहारार्थ शहर मे घूम सकते है?

---

१ श्रेणिक चरित्र सर्ग ११।

२ पद्मपुराण पर्व १२३, पृ० ४१७।

पुण्यास्रव कथाकोश, पृ० ३०९।

उत्तर—"पाँचो पाडवो में से भीम मुनिराज ने एक वार वृत्तिपरिसख्यान किया कि 'भाले के अग्र भाग से दिया हुआ आहार लूँगा' तव छह महीने के बाद यह नियम पूर्ण होकर इन्हे आहार मिला[1] ।"

(१४) प्रश्न—क्या साधु के पडगाहन के समय तमाम श्रावक भीड इकट्ठा करना व कोलाहल कर सकते है ?

उत्तर—तमाम श्रावक अपनी-अपनी भक्ति से पडगाहन करते है। उस समय कोलाहल भी होने लगता है। उदाहरण-जिस समय रामचद्र महामुनि नन्दस्थली नगरी मे आहारार्थ आये, उस समय उनके पडगाहन के समय इतना कोलाहल हुआ कि हाथियो ने आलानस्तंभ तोड दिये। अनेको स्त्रियाँ झारी आदि लेकर खड़ी हो गईं, अनेको पुरुष जल भरे कलश ले लेकर आ गये। हे स्वामिन् ! यहाँ आइये, हे स्वामिन् ! यहाँ ठहरिये। इत्यादि से पडगाहन कर रहे थे[2] ।"

(१५) प्रश्न—क्या साधुओ का आहार देखने के लिए लोग इकट्ठे हो सकते है ?

उत्तर—हा, आहार दान देखकर भी अनुमोदना से वैसा ही पुण्य मिल जाता है। यथा—"राजा वज्रजघ वन मे आहार दे रहे थे। उनके मत्री आदिको ने देखा, पुण्यवन्ध किया और नकुल, सूकर, वानर तथा सिंह ने भी देखा। राजा वज्रजंघ ने आहार के वाद मुनि से सभी के पूर्वभव पूछे। मुनि ने पूर्वभव बताकर भविष्य भी बताया कि ये मत्री आदि और नकुल आदि सभी आपके साथ-साथ सुख भोगते हुए आपके ही पुत्र होकर मोक्ष जायेंगे। अभी इन नकुल, सिंह आदि जीवो ने आहारदान की अनुमोदना से उत्तम भोगभूमि की आयु का बध किया है[3] ।"

---

१ कुन्ताग्रेण वितीर्णभैक्ष्यनियम क्षुत्क्षामगात्र क्षम ।
षण्मासैरथ भीमसेनमुनिणो निष्ठाप्य स्वातक्लम् ॥

—हरिवश पु० सर्ग ६४

२
कोलाहलेन लोकस्य यतस्तेन च तेजसा ।
आलानविपुलस्तभान् बभजु कुजरा अपि ।।२९।।

—पद्म पु० प० १२० पृ० ३९८

३ भवद्दानानुमोदेन बद्धायुष्का कुरुष्वमी ।
ततोऽमी भीतिमुत्सृज्य स्थिता धर्मश्रवार्थिन ॥

—आदि पु० प० ८, पृ० १८७

"अकृतपुण्य बालक मुनि के आहार को देखते हुए अपने को धन्य मान रहा था, द्वितीय दिन ही मरकर आहारदान की अनुमोदना के प्रभाव से स्वर्ग चला गया। पुनः कालांतर मे धन्यकुमार होकर नव-निधिओ के भोगो को प्राप्त हुआ है[1]।"

(१६) प्रश्न—क्या साधु श्रावक के लिये गाम मे या राजसभा मे या श्रावक के घर आदि मे जा सकते हैं ?

उत्तर—हाँ, विशेष धर्मलाभ कराने हेतु कदाचित् जा सकते हैं। यथा—"एक बार कनकपुर शहर के राजा धनदत्त और श्रीवंदक मत्री के साथ राजमहल की छत पर बैठे थे। आकाश मे जाते हुए चारणऋषि को देखकर उनका आह्वान किया। उन्होने आकर धर्मोपदेश दिया। जिससे श्रीवंदक बुद्धधर्मी जैन बन गया। पुनः श्रीवंदक बौद्धगुरु के भड़काने से राज्यसभा मे मुनियो की चर्चा करने पर झूठे बोल दिया कि मैने चारणमुनि नहीं देखे हैं। तत्काल ही उसकी आँखें फूट गई।[2]"

जिनसेन स्वामी ने आदिपुराण मे वज्रजघ-श्रीमती के वर्णन मे शृगार रस का वर्णन किया है। लोगो की उनके चरित्र पर आशका होने से उन्होंने राजसभा मे सबको बुलाकर स्वय खडे होकर उसी शृगार रसयुक्त काव्य को पढा। उनकी निर्विकारिता देखकर विकार को प्राप्त हुए अनेको लोग उनसे क्षमा याचना करने लगे। 'वज्रजंघ और श्रीमती के जीव जब भोगभूमि मे आर्य-आर्या थे, तब किसी समय दो चारणमुनि आकाश मार्ग से वहा भोगभूमि मे उनके पास पहुँचे। उन्हे धर्मोपदेश दिया, सम्यक्त्व ग्रहण कराया और बताया कि तुम्हारे महाबल विद्याधर की पर्याय मे मैं तुम्हारा स्वयबुद्ध मत्री था। उसी समय के धर्म प्रेम से मैं यहा तुम्हे सबोधने आया हूँ[3]।"

"मर्यादा पुरुषोत्तम रामचद्र लक्ष्मण के मोह से छूटकर जब बोध को प्राप्त हुए तब सभा मे विराजमान थे उसी समय अर्हद्दास सेठ उनके दर्शन हेतु आये, सो राम ने उससे मुनि सघ की कुशल पूछी। सेठ ने कहा—हे महाराज! आपके इस कष्ट से पृथ्वीतल पर मुनि भी परम व्यथा को प्राप्त हुए हैं। मुनिसुव्रत भगवान् की वश परंपरा के धारक आकाशगामी

---

१ पुण्यास्रवकथाकोश पृ० ३२४।

२ आराधना क० को०, कथा न० १७।

३. आदि पु० प० ८, पृ० २०१

भगवान् सुव्रत नामक मुनिराज आपकी दशा जान यहाँ आये हुए हैं। सुनकर रामचद्र तत्क्षण ही मुनि के समीप गये[1]।"

"जिस समय युद्धभूमि मे भीष्मपितामह वाण से आहत होकर मरणोन्मुख हो गये, उस समय आकाशमार्ग से हस और परमहस नामक चारण मुनि वहाँ आये। उन्होने उपदेश देकर सल्लेखना ग्रहण करा दी। वे भीष्म पितामह मरकर ब्रह्मस्वर्ग मे देव हो गये[2]।"

(१७) **प्रश्न**—क्या मुनि किसी की गलती बिना पूछे कह सकते हैं ?

उत्तर—कदाचित् कह भी सकते है। यथा—"एक मुनि ने रात्रि मे एक महिला के पास व्यभिचार की इच्छा से जाते हुए एक व्यक्ति को देखा और 'मत जावो' ऐसा कहा। उसने कहा क्यो ? तब मुनि ने बताया वह तुम्हारी जन्मदात्री माता है[3]।"

"जब कनकोदरी ने जिनप्रतिमा का अनादर किया था, तब सयमश्री आर्यिका ने आहार के लिये वहाँ प्रवेश किया। ऐसी घटना से आहार न करके मौन छोडकर उसे शिक्षा दी। क्योकि साधुजन बिना पूछे हुए भी अज्ञानी जन को उपदेश देने लगते हैं[4]।"

(१८) **प्रश्न**—क्या साधु रात्रि मे बोल सकते हैं ?

उत्तर—हा, कदाचित् बोल सकते हैं। ग्रन्थो मे रात्रि मे बोलने के उदाहरण मिलते है। यथा—मुनि ने रात्रि मे यक्षिल को व्यभिचार के लिये जाते हुए रोका। अन्य उदाहरण भी है—

दु.खी धनदत्त सूर्यास्त हो जाने पर मुनियो के आश्रम मे पहुँचा और वहा पानी मागा। उनमे से एक मुनि ने समझाया कि रात्रि मे अमृत भी पीना उचित नही है फिर पानी की तो बात ही क्या है[5] ?"

---

१. उवाच स महाराज व्यसनेन तवामुना।
व्यसन परम प्राप्ता यतयोऽपि महीतले ॥११॥
अवबुध्य विबन्धात्मा किल व्योमचरो मुनि।
सुव्रतो भगवान् प्राप मुनिसुव्रतवशभृत् ॥१२॥
—पद्म पु० प० ११९, पृ० ३९२

२ पाडवपुराण, पृ० ४१२।

३ पद्मपुराण

४. पद्मपुराण पर्व १७।

५ तत्रैकश्रमणोऽवोचत् मधुर परिसान्त्वयन्।
रात्रावप्यमृत युक्त न पातु किं पुनर्जलम् ॥३२॥
—पद्म पु० प० १०६, पृ० ३०१

अन्यत्र भी है—अकृतपुण्य को ढूँढते हुए[1] सेठ अशोक ने उसे देखा, वह भागने लगा, समझाने पर भी भागता ही गया, तब सध्या हो गई है ऐसा सोचकर सेठ वापस चला गया। वह बालक वही वन मे एक गुफा के द्वार पर खडा हुआ। उसका द्वार पाषाण से ढँका हुआ था। अदर मे मुनि-राज किसी शिष्य को धर्म का स्वरूप समझा रहे थे। उसने सुना। अनतर व्याघ्र ने आकर उसे खा लिया वह मरकर देव हो गया।

(१९) **प्रश्न**—क्या साधु यात्रा कर सकते है ?

उत्तर—मूलाचार, आचारसार आदि मे तो मुनियो के ईर्यापथसमिति मे यात्रा आदि हेतु ही मुख्य बताये है। तथा पुराणो मे भी उदाहरण मिलते है। यथा—अरविंद मुनिराज ससंघ सम्मेदशिखर की यात्रा के लिये जा रहे थे। एक वन मे हाथी ने उपद्रव किया। अनतर मुनिराज को देखकर बोध को प्राप्त हुआ, मुनिराज से अणुव्रत लेकर आगे जाकर वही जीव भगवान् पार्श्वनाथ हुआ है[2]।" और भी अनेको उदाहरण है।

"धन्यकुमार चरित्र मे मुनि द्वारा रात्रि मे उपदेश देने का वर्णन आता है।"

(२०) **प्रश्न**—क्या साधु भगवान् का अभिषेक देख सकते है ?

उत्तर—हा, देख सकते है। विशेष अभिषेक के समय तो साधु सिद्ध, चैत्य, पचगुरु और शातिभक्ति पढकर वदना करें ऐसा आचारसार आदि मे विधान है जो नैमित्तिक क्रिया मे बताया जा चुका है। अभिषेक विधान मे भी कहा है कि "महाभिषेक लक्षण जिनधर्म की प्रभावना के लिए हे निर्ग्रंथो के आचार्यों! आप लोग प्रसन्न होइये, यहा पधारिये। कोई प्रश्न करता है कि क्या महाभिषेक के समय निर्ग्रंथ आचार्य ही आते है अन्य यति नही आते है ? तो ऐसी बात नही है, "निर्ग्रंथार्या" ऐसा कहने से सभी दिगबर मुनि, आर्य-देशव्रती (क्षुल्लक ऐलक आदि) और आर्यिकायें इन सबका ग्रहण हो जाता है। इसलिये सभी यहा आइये[3]।"

१. उत्तरपुराण, प० ७३ पृ० ३०४।

२ सध्या बभूवेति ततोऽनुयातु, युक्त न मे साधुजनेन दूष्या।
तत्रातरस्थो मुनिरागमार्थं, भव्याय जिज्ञासुरुवाच सूत्रम्॥
—धन्यकुमार च० पृ० ६०

३ निर्ग्रंथार्या प्रसाद कुरुत पदमिहावत्त सद्धर्मदीप्त्यै।"
वृत्ति—महाभिषेकलक्षणसमीचीनजिनधर्मप्रभावनायै। अत्राह कश्चित्-अत्र महाभिषेकसमये किं निर्ग्रंथार्या आचार्यवर्या एव समायाति अन्ये यतयो

आदिपुराण मे भी कहा है—"मेरु पर्वत के मस्तक पर स्फुरायमान होता हुआ, जिनेंद्र भगवान् के जन्माभिषेक का जलप्रवाह हम सबकी रक्षा करे, जिसे कि इन्द्रो ने बडे आनद से, देवियो ने आश्चर्य से, देवो के हाथियो ने सूड ऊँची उठाकर बडे भय से, चारण ऋद्धिधारी मुनियो ने एकाग्रचित्त होकर बडे आदर से और विद्याधरो ने 'यह क्या है' ऐसी शका करते हुए देखा था[1]।"

(२०) प्रश्न—क्या साधु भक्तो के भव भवातर बतलाते है ?

उत्तर—हा, अवधिज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी मुनि पूछने पर बतलाते है। प्रथमानुयोग मे ऐसे अनेको उदाहरण देखने को मिलते है।

(२२) प्रश्न—क्या साधु आहार के समय जाति व्यवस्था आदि पर लक्ष्य रखते है ?

उत्तर—अवश्य रखते है। 'यथा—दुर्भाव, अशुचि और सूतक दोषो से सहित जन, रजस्वला स्त्री या जातिसकर आदि से दूषित लोग यदि आहार देते है, अथवा जो कुपात्रो मे दान देते हैं, वे इस पाप मिश्रित पुण्य से कुभोगभूमि मे जन्म लेते हैं[2]।"

(२३) प्रश्न—क्या स्त्रियाँ मुनियो के चरण आदि का स्पर्श कर सकती हैं ?

उत्तर—चदना ने जब भगवान् महावीर का पडगाहन किया, उस समय आहार देने मे वह अकेली थी। उसने चरण प्रक्षालन आदि नवधा भक्ति अवश्य की होगी।

नायाति ? तन्न, निर्ग्रंथार्या इत्युक्ते सर्वेऽपि दिगबरा, आर्या देशव्रतिन' आर्यिकाश्च भवति।"
—अभिषेकपाठसग्रह, पृ० ११७

१ सानद त्रिदशेश्वरै सचकित देवीभिरुत्पुष्करै,
सत्रास सुरवारणै प्रणिहितैराप्तादर चारणै।
साशक गगनेचरै: किमिदमित्यालोकितो य स्फुरन्,
मेरोर्मूर्ध्नि स नोऽवताज्जिनविभोर्जन्मोत्सवाम्भाप्लवः ॥२१६॥
—आदि पु० प० १३, पृ० ३०३

२. दुब्भावअसुचिसूदगपुप्फवईजाइसकरादीहिं।
कयदाणा वि कुवत्ते जीवा कुणरेसु जायते ॥९२४॥
—त्रिलोकसार पृ० ७०५

"जब राजा ने यशोधर मुनिराज के गले मे मृतक सर्प डाला था, तब मालूम होने पर रानी चेलना राजा के साथ रात्रि मे ही वहा गई। उसने मुनि के शरीर से चिवटी दूर कर मुलायम वस्त्र से अवशिष्ट कीडियो को भी दूर कर गरम पानी से धोया और सताप की निवृत्ति के लिये शरीर पर शीतल चदन आदि का लेप किया[1]।" महामुनि ने भी महिला के सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया ऐसा कथन है। यथा— "गुरुदेव प्रीतिकर मुनि ने आर्य वज्रजघ और आर्या श्रीमती को उपदेश देकर उन्हे सम्यक्त्व ग्रहण कराया। पुनः जिन्होने हर्षसूचक चिन्हो से अपने मनोरथ की सिद्धि को प्रकट किया है ऐसे दोनो दपतियो को दोनो ही मुनिराज धर्मप्रेम से बार-बार स्पर्श कर रहे थे[2]।"

(२४) प्रश्न—क्या साधु श्रावको को मंत्र व्रत आदि दे सकते है ?

उत्तर—धर्मप्रभावना, परोपकार आदि की इच्छा से दे सकते है। मुनिराज ने ही मैनासुन्दरी को पति का कुष्ट दूर होने हेतु सिद्धचक्र विधान जाप्य आदि का अनुष्ठान बताया था। सभी व्रतो की कथाओ मे भी मुनियो के द्वारा ही व्रत दिये जाने का विधान है। यदि श्रावक बिना गुरु के कोई व्रत लेते हैं तो उसका फल नही कहा है[3]।

मूलाचार और मूलाराधना मे भी धर्मप्रभावना आदि हेतु स्वय भी मत्रादि कर सकते है ऐसा कहा है। जैसा कि कदर्पी आदि भावनाओ के वर्णन मे बताया जा चुका है।

धरसेनाचार्य ने पुष्पदंत और भूतवलि मुनियो की योग्यता की परीक्षा हेतु मत्र जपने को दिया था।

यदि कोई साधु किसी को मिथ्यात्व से छुडाकर धर्म मे लगाते है। सच्चे मत्रादि द्वारा उसे कार्यसिद्धि का प्रलोभन देकर कुदेव आदि की भक्ति से निवृत्त करते है तो कोई दोष नही है।

---

१ श्रेणिकचरित सर्ग ९, पृ० १६७।

२. तौ दपती कृतानदसदर्शितमनोरथौ।
मुनीन्द्रौ धर्मसवेगाच्चिरस्यास्पृक्षता मुहुः ॥१५४॥
—आदि पु० प० ९, पृ० २०३

३. व्रततिथिनिर्णय

(२५) प्रश्न—क्या साधु जहा विहार करते हैं वहा शुभ होता है ?

उत्तर—अवश्य, तपस्वियो के प्रभाव से अचिन्त्य लाभ होता है। यथा—रावण के मरने के बाद उसी दिन अंतिम प्रहर में अनंतवीर्य मुनिराज छप्पन हजार आकाशगामी मुनियो के साथ वहा आकर 'कुसुमायुध' नामक उद्यान मे ठहर गये। उसी रात्रि में अनंतवीर्य महामुनि को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया।

गौतम स्वामी कहते है कि "यदि रावण के जीवित रहते हुए वे महामुनि लंका मे आये होते तो लक्ष्मण के साथ रावण की घनी प्रीति हो जाती। क्योकि जिस देश मे ऋद्धिधारी मुनिराज और केवली विद्यमान रहते है वहां दो सौ योजन (४०० कोश) तक की पृथ्वी स्वर्ग के सदृश सर्वप्रकार के उपद्रवो से रहित हो जाती है और उनके निकट रहने वाले राजा वैर रहित हो जाते है[1]।" यहां तो ऋद्धिधारी मुनि की बात है। सामान्य मुनियो के विहार से भी शुभ होता है। अन्य संप्रदाय मे भी कहा है—

"हे अर्जुन! तुम रथ पर चढ जावो और गाडीव धनुष को भी धारण करो। मै इस पृथ्वी को जीती हुई सी समझ रहा हूँ, चूँकि सामने निर्ग्रन्थ यति दिख रहे हैं[2]।" ऐसा श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा।

ज्योतिषशास्त्र मे भी कहा है—"पद्मिनी स्त्रिया, राजहस और निर्ग्रंथ तपोधन जिन देश मे रहते हैं उस देश मे शुभ-मगल हो जाता है[3]।"



१ रावणे जीवति प्राप्तो यदि स्यात् स महामुनि॰।
लक्ष्मणेन सम प्रीतिर्जाता स्यात्तस्य पुष्कला ॥५४॥
—पद्म पु॰ प॰ ७८, पृ॰ ८०

२ आरुरोह रथ पार्थ! गाडीव चापि धारय।
निर्जिता मेदिनी मन्ये निर्ग्रंथो यतिरग्रत॰॥

३ पद्मिन्यो राजहसाश्च निर्ग्रंथाश्च तपोधना॰।
यद्देशमभिगच्छति तद्देशे शुभमादिशेत्॥ —बृहत्कथाकोश

९. दिगम्बर वेष से ही मुक्ति

परिग्रहत्याग महाव्रत में पूर्णतया सपूर्ण परिग्रहों का त्याग हो जाता है तथा आचेलक्य नामा मूलगुण मे वस्त्र का सर्वथा त्याग हो जाने से दिगबर मुनि ही अट्ठाईस मूलगुणो के धारक साधु होते है। 'इसी से स्त्री मुक्ति का भी निषेध हो जाता है[1]।'

आर्षग्रन्थ मे "सम्मामिच्छाइट्ठिअसजदसम्माइट्ठिसजदासंजदसंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥" मनुष्यिनिया सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि, संयतासयत और सयत गुणस्थानो मे नियम से पर्याप्तक होती हैं।

इसी सूत्र की टीका मे प्रश्नोत्तर मे अच्छा समाधान किया है। यथा–

"शंका—इसी आर्षवचन से द्रव्यस्त्रियो की मुक्ति सिद्ध हो जायेगी ?

समाधान—नही, क्योंकि वस्त्रसहित होने से उनके संयतासयत गुणस्थान होता है, अतएव उनके सयम की उत्पत्ति नही हो सकती है।

शंका—वस्त्र सहित मे भी स्त्रियो के भावसंयम मे कोई विरोध नही है ?

समाधान—उनके भावसयम नही है। अन्यथा—भावसंयम के मानने पर उनके भाव असयम का अविनाभावी वस्त्रादि का ग्रहण नही बन सकता है। अर्थात् वस्त्रादि के रहते हुए भावसंयम असभव है चूकि असयम के बिना वस्त्रादि का ग्रहण हो नही सकता है।"

इस कथन से वस्त्र सहित पुरुष को भी भावसयम असंभव होने से मुक्ति की बात ही बहुत दूर है।

शंका—पुन स्त्रियो मे चौदह गुणस्थान कैसे होते है।

समाधान—नही, क्योकि भावस्त्री अर्थात् स्त्रीवेद युक्त मनुष्यगति में चौदह गुणस्थानो के सद्भाव का अविरोध है[2]।"

---

१. आर्यिकाओ में एक साड़ीमात्र परिग्रह के होने से महाव्रत उपचार से माने गये हैं।

२ "अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणा निवृति सिद्धयेदिति चेन्न, सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थिताना सयमानुपपत्ते। भावसयमस्तासा सवाससामप्य-

यही बात आगे सूत्र मे कही है। यथा—"इत्थिवेदा पुरिसवेदा असण्णि मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्ठि त्ति ॥१०२॥ णवुसयवेदा एइंदियप्पहुडि जाव अणियट्ठि त्ति[1] ॥१०३॥

स्त्रीवेद और पुरुषवेद वाले जीव असज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होते हैं। नपुसकवेद वाले जीव एकेंद्रिय से लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक पाये जाते है । यहाँ पर जो नवमे गुणस्थान तक ही तीनो वेद कहे है सो वेद के अस्तित्व की अपेक्षा से कहे है क्योकि नवमे गुणस्थान मे ही इन वेदो का क्षय हो जाता है। यहा भाववेदो की अपेक्षा ही कथन है। क्योकि छठे गुणस्थान से लेकर आगे मनुष्य द्रव्य से पुरुष ही है। कारण, मनुष्यो मे वेदो की विषमता पाई जाती है। यथा—

"पुरुष, स्त्री और नपुसक वेदकर्म के उदय से भाव मे पुरुष, स्त्री, नपुसक वेद होते है, और नामकर्म के उदय से द्रव्य पुरुष, द्रव्यस्त्री और द्रव्यनपुसक होते है। सो ये द्रव्यवेद और भाववेद प्राय करके समान होते हैं, परतु कही-कही विषम भी होते हैं[2]।" अर्थात् नामकर्म के अन्तर्गत अगोपागनामक नामकर्म के उदय से शरीर मे द्रव्यवेद की रचना होती है और मोहनीय कर्म के अन्तर्गत वेदकर्मों के उदय से भाव वेद होते है। ये वे देव और नारकी मे समान होते है—जो द्रव्यवेद है वही भाववेद रहता है किंतु मनुष्य और तिर्यंचो मे विषम भी होते है। अर्थात् किसी मनुष्य के द्रव्यवेद पुरुष है और भाववेद स्त्री या नपुसक भी रह सकता है ऐसे ही स्त्री या नपुसक मे भी कोई द्रव्य से स्त्री है किंतु भाव से पुरुष या नपुसक वेद भी रह सकता है।

जो द्रव्य से पुरुष वेदी है और भाव से स्त्रीवेदी है उन्ही के चौदह गुणस्थानो की बात है। वे ही मोक्ष जा सकते हैं क्योकि क्षायिक सम्यक्त्व भी उन्ही के ही होता है। यथा—मनुष्यिनियो मे तीनो ही सम्यग्दर्शन

विरुद्ध इति चेत् ? न तासा भावसयमोऽस्ति, भावासयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः। कथ पुनस्तासु चतुर्दशगुणस्थाननिति चेन्न, "भाव स्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात् ।" धवला प्र० पु० पृ० ३३५

१ धवला प्र० पु० पृ० ३४४, ३४५ ।

२ पुरिसिच्छिसढवेदोदयेण, पुरिसिच्छिसढओ भावे ।
णामोदयेण दव्वे, पाएण समा कहिं विसमा ॥५७१॥
—गोम्मट० जीव०

होते हैं परंतु ये पर्याप्त मनुष्यनी के ही होते हैं अपर्याप्तक मनुष्यनी के नहीं। यहां क्षायिक सम्यक्त्व भाववेद की अपेक्षा से ही है[1]।" अर्थात् यदि तीनों में कोई भी सम्यग्दर्शन हो जाता है तो वह जीव मरकर भाव-स्त्रीवेद में भी नहीं जा सकता है द्रव्यस्त्रीवेद की तो बात बहुत दूर है। किन्तु कोई कर्मभूमिज मनुष्य द्रव्य से पुरुष होकर भी यदि भाव से स्त्री-वेदी है तो क्षायिक सम्यक्त्व ग्रहण कर सकता है। द्रव्यस्त्रीवेदी नहीं।

द्रव्य से पुरुषवेदी ऐसे मुनि यदि भाव से स्त्री और नपुंसकवेदी हैं तो भी क्षपकश्रेणी चढ़कर मोक्ष चले जाते हैं। यथा—

"पुरुषवेद के उदय सहित जीव के श्रेणी चढ़ने पर पुरुषवेद की बंध-व्युच्छित्ति और उदयव्युच्छित्ति एक काल में होती है। अथवा 'च' शब्द से बंध की व्युच्छित्ति उदय के द्विचरम समय में होती है और शेष-स्त्रीवेद तथा नपुंसक वेद के उदय सहित श्रेणी चढ़ने वाले जीव के पुरुष वेद की बंध व्युच्छित्ति उदय के द्विचरम समय में होती है[2]।"

द्रव्यस्त्रीवेदी में 'उत्तमसंहनन का अभाव होने से भी मुक्ति संभव नहीं है। क्योंकि "उत्तमसंहनन वाले पुरुष ही क्षपकश्रेणी पर चढ़कर शुक्ल ध्यान के द्वारा कर्मों का नाश कर सकते हैं[3]।" अन्य नहीं हैं। और "कर्मभूमि की महिलाओं के तीन हीन संहनन ही होते हैं उत्तम-संहनन नहीं होते हैं। ऐसा आगम वाक्य है[4]।"

भावस्त्रीवेदी या भाव नपुंसकवेदी मुनि के मन[5].पर्ययज्ञान, [6]आहारक-

---

१. मानुषीणा त्रितयमप्यस्ति पर्याप्तिकानामेव नापर्याप्तिकानाम्। क्षायिकं पुनर्भाववेदेनैव। —सर्वार्थसिद्धि, सूत्र ७

२ पुरिसोदयेण चडिदे बंधुदयाण च जुगवदुच्छित्ती।
सेसोदयेण चडिदे उदयदुचरिमम्हि पुरिसबंधछिदी॥४८४॥
—गोम्मट० कर्म०

३. उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्॥ —तत्त्वार्थसूत्र

४. अंतिमतियसंहडणस्सुदओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं।
आदिमतिगसंहडणं णत्थित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं॥३२॥
गोम्मट०, कर्म०

५. केवलदुगमणहीणा इत्थीसढम्मि ते दु सव्वे वि॥ —पंचसंग्रह पृ० ८९

६. इत्थिणउंसयवेदे आहारदुगूणया होंति। —पंचसंग्रह पृ० १०९

ऋद्धि और तीर्थंकर प्रकृति का उदय नही हो सकता है। यह विशेषता है।

यथा—स्त्रीवेद और नपुसक वेद मे केवलज्ञान, केवलदर्शन और मन पर्यय इन तीन ज्ञान के बिना ९ उपयोग होते है। वेद तो नवमे गुणस्थान तक होता है और मन पर्ययज्ञान छठे से हो जाता है अत उसका निषेध ही हो गया तथा केवलज्ञान और केवल दर्शन तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान मे होने से वे अपगत वेदी को होते है इसलिये इनका भी निषेध किया गया है।

यथा—स्त्रीवेद और नपुसक वेद मे आहारकद्विक और अन्यतर दो वेद के बिना तिरेपन आस्रव होते हैं।

"तथा भावस्त्रीवेद और भावनपुंसकवेद मे भी तीर्थंकर प्रकृति और आहारक द्विक के बध का विरोध नही है उदय का ही विरोध है, क्योकि उदय पुरुषवेद मे ही निश्चित है[1]।"

आर्षग्रन्थ मे भी कहा है कि "स्त्रीवेदी प्रमत्तसयत जीवो के आलाप कहने पर चार मनोयोग, चार वचनयोग और औदारिककाययोग ये नव योग होते हैं, किंतु आहारक और आहारक मिश्र योग नही होते।"' मन पर्ययज्ञान के बिना आदि के तीन ज्ञान, परिहारविशुद्धि संयम के बिना आदि के दो सयम होते है। यहाँ पर आहारकद्विक, मन पर्ययज्ञान और परिहारविशुद्धि सयम के नही होने का कारण यह है कि आहारकद्विक, मन पर्ययज्ञान और परिहारविशुद्धिसयम के साथ स्त्रीवेद और नपुसकवेद के उदय होने का विरोध है[2]।"

अन्यत्र भी लिखा है कि—"पुरुष वेद का अनुभव करते हुए जो पुरुष क्षपकश्रेणी पर आरूढ हुए है। उसी प्रकार से शेष—स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के उदय से भी क्षपकश्रेणी पर आरूढ हुए ध्यान मे उपयुक्त हैं वे

---

१ "स्त्रीषढवेदयोरपि तीर्थाहारकबधो न विरुध्यते, उदयस्यैव 'पुवेदिषु नियमात्।" —पचसग्रह, पृ० २३५

२ "इत्थिवेद पमत्तसजदाण भण्णमाणे णवजोग, आहारदुग णत्थि। ' " मणपज्जवणाणेण विणा तिण्णि णाण, परिहारसजमेण विणा दो सजम, कारण आहारदुगमणपज्जवणाण-परिहारसजमेहि वेददुगोदयस्स विरोहादो।" —धवला पु० २, पृ० ६८१

सिद्ध हो जाते है। अर्थात् जो भावपुरुषवेद का अनुभव करते हुए क्षपक-श्रेणी पर आरूढ हुए है केवल भावपुरुषवेद से नही अपितु भाव-स्त्रीवेद और भाव नपुंसकवेद से भी क्षपकश्रेणी पर चढकर शुक्लध्यान मे उपयुक्त है वे द्रव्यपुरुष वेद वाले मनुष्य सिद्ध हो जाते है।[1]"

निष्कर्ष यह निकलता है कि द्रव्य से पुरुषवेदी ही निर्ग्रंथ मुद्रा धारण करके छठे आदि गुणस्थानो को प्राप्त करते है। वे चाहे भाव से स्त्रीवेदी हो या नपुंसकवेदी। किन्तु द्रव्य से स्त्रीवेदी और नपुसकवेदी जीव पचम-गुणस्थान से आगे नही जा सकते हैं और न वे दिगवर वेष ही धारण कर सकते है।

दिगम्वर भेष के बिना सोलह स्वर्ग के ऊपर गमन भी असभव है—

"असयत सम्यग्दृष्टि और देशसयत ऐसे मनुष्य और तिर्यंच उत्कृ-ष्टता से अच्युतकल्प पर्यंत ही उत्पन्न होते है। जो द्रव्य से निर्ग्रंथ है और भाव से मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि अथवा देशसयमी है, वे अतिम ग्रैवेयक पर्यंत उत्पन्न होते है, इससे ऊपर नही।

सम्यग्दृष्टि महाव्रती सर्वार्थसिद्धि पर्यंत, सम्यग्दृष्टि भी भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यंच सौधर्म युगलपर्यंत और मिथ्यादृष्टि भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यंच एव पचाग्नि साधक तापसी साधु उत्कृष्टता से भवनत्रिक पर्यंत ही जाते हैं।

नग्नाड लक्षणवाले चरक, एकदडी, त्रिदडी ऐसे परिव्राजक सन्यासी ब्रह्मकल्प पर्यन्त ही उत्पन्न होते है। काजिक आदि भोजन करने वाले आजीवक साधु अच्युतकल्प पर्यन्त ही उत्पन्न होते है आगे नही[2]।

---

१ पुंवेद जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा।
सेसोदयेण वि तहा ज्झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झति ॥६॥

टीका—भावपुवेदमनुभवतो ये पुरुषा क्षपकश्रेणीमारूढा, न केवल भावपुवेदेनैव अपि तु अभिलाषरूपभावस्त्रीनपुसकवेदोदयेनापि तथा क्षपकश्रेण्यारूढप्रकारेण शुक्लध्यानोपयुक्ताश्च ते द्रव्यपुवेदास्तु सिज्झति-सिद्धयंति ॥ —प्राकृतसिद्धभक्ति क्रियाकलाप पृ० १६२

२ णरतिरियदेसअयदा उक्कस्सेणच्चुदोत्ति णिग्गथा।
णय अयद देसमिच्छा गेवेज्जतोत्ति गच्छति ॥५४५॥

टीका—द्रव्यनिर्ग्रंथा नरा भावेनासयता देशसयता मिथ्यादृष्टयो वा उपरिमग्रैवेयकपर्यंत गच्छति।

अन्यत्र भी कहा है—"चार[1] प्रकार के दान मे प्रवृत्त कषायो से रहित, पचगुरुओ की भक्ति से युक्त, देशव्रत सयुत जीव सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युतस्वर्ग पर्यन्त जन्म लेते है। सम्यक्त्व, ज्ञान, आर्जव, लज्जा एव शीलादि से परिपूर्ण स्त्रिया अच्युतकल्प पर्यन्त उत्पन्न होती है।

जो अभव्य जिनलिंग को धारण करने वाले और उत्कृष्ट तप के श्रम से परिपूर्ण है वे उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त उत्पन्न होते है। पूजा, व्रत, तप, दर्शन, ज्ञान और चारित्र से सम्पन्न निर्ग्रंथ भव्य इससे आगे सर्वार्थसिद्धि-पर्यन्त उत्पन्न होते है।

मदकषायी, प्रियभाषी कितने ही चरक (साधुविशेष) और पारि-व्राजक क्रम से भवनवासियो आदि को लेकर ब्रह्मकल्प तक उत्पन्न होते है।

जो कोई पचेंद्रिय तिर्यंच सज्ञी जीव हैं, अकामनिर्जरा से युक्त और मंदकषायी है वे सहस्रार कल्प तक उत्पन्न होते हैं।

जो तनुदडन अर्थात् कायक्लेश से सहित (साधु) हैं, तीव्र क्रोधी है ऐसे कितने ही जीव क्रमश भवनवासियो से लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त जन्म लेते है[1]।

सव्वट्ठोत्ति सुदिट्ठी महव्वई भोगभूमिजा सम्मा।
सोहम्मदुग मिच्छा भवणतिय तावसा य वर ॥५४६॥
चरिया या परिव्वाजा बह्मोत्तरपदोत्ति आजीवा।
अणुदिस अणुत्तरादो चुदा ण केसवपद जांति ॥५४७॥

त्रिलोकसार पृ० ४६९

१ सोहम्मादी अच्चुदपरियत् जति देसवदजुत्ता।
चउविहदाणपयट्टा अकसाया पचगुरुभत्ता ॥५५८॥
सम्मत्तणाणअज्जवलज्जासीलादिएहि परिपुण्णा।
जायते इत्थीओ जा अच्चुदकप्पपरियत ॥५५९॥
जिणलिंगधारिणो जे उक्किट्ठतवस्समेण सपुण्णा।
ते जायति अभव्वा उवरिमगेवज्जपरियत ॥५६०॥
परदो अच्चणवदतवदसणणाणचरणसपण्णा।
णिग्गथा जायते भव्वा सव्वट्ठसिद्धिपरियत ॥५६१॥
चरिया परिवज्जधरा मदकसाया पियवदा केई।
कमसो भावणपहुदी जम्मते बह्मकप्पतं ॥५६२॥

इससे यह स्पष्ट है कि वस्त्र सहित ऐलक अथवा आर्यिका भी सोलह-स्वर्ग के ऊपर नही जा सकते हैं और वस्त्ररहित दिगंबर मुनि चाहे भाव से मिथ्यादृष्टि भी क्यो न हो, नवग्रैवेयक तक जा सकते है तथा दिगंबर मुनि भावलिंगी ही नवअनुदिश, पाच अनुत्तरो मे जाते है। किन्तु अन्य सम्प्रदाय के[1] परमहस नामक नग्न साधु बारहवें स्वर्ग से ऊपर नही जा सकते हैं। अत दिगंबर जैन मुनि हुए बिना मुक्ति की प्राप्ति असंभव है।

श्रीशुभचंद्राचार्य भी कहते हैं—

जो पुरुष बाह्य परिग्रह को भी छोडने में असमर्थ हैं वह नपुसक (नामर्द वा कायर) आगे कर्मो की सेना को कैसे हनेगा ?[2]"

"एक लंगोटी मात्र परिग्रह भी रखने पर उसको धोना, सुखाना, सुरक्षा करना, फट जाने पर याचना करना आदि अनेको दोष आते हैं। पुन निर्विकल्प अवस्था रूप शुक्लध्यान की सिद्धि असभव है ही। यही कारण है कि "दिगंवर साधु वृक्षो की छाल, पत्ते, चर्म और वस्त्रादि से शरीर को नही ढँकते हैं अतएव अलकार परिग्रह और काम विकार से रहित नग्नमुद्रा को धारण करते है[3]।"

इन्ही सब कारणों से दिगंबर जैन सम्प्रदाय मे स्त्रियो को इसी भव से मुक्ति का निषेध है ऐसा समझना।

यह दिगंबरत्व अपरिग्रह की चरम सीमा है, जितेन्द्रियता और निर्वि-

---

जे पचेंदियतिरिया सण्णी हु अकामणिज्जरेण जुदा।
मदकसाया केई जति सहस्सारपरियत ॥५६३॥
तणुदसणादिमहिया जीवा जे अमदकोहजुदा।
कमसो भावणपहुदी केई जम्मति अच्चुद ताव ॥५६४॥
—तिलोय प० पृ० ६५३

१ परमहसनामा जो जती, सहस्रार ऊपर नही गती ॥
—चौवीस दडक

२ बाह्यानपि च य सगान्परित्युक्तुमनीश्वर।
स क्लीव. कर्मणा सैन्य कथमग्रे हनिष्यति ॥१७॥
—ज्ञानार्णव पृ० १६८

३ वल्कलाजिनवस्त्राद्यैरगासंवरण वर।
आचेलक्यामलकारानगसगविवर्जितम् ॥४४॥ —आचारसार पृ० १७

कारता की कसौटी है। ये दिगंबर मुनि सदैव बालकवत्[1] निर्विकार रहते है और निर्भय रहते है। ये शीलरूपी वस्त्र को धारण किये है अत नगे नही भी है। इसी मुद्रा को यथाजात कहते है अर्थात् जन्म के समय जो रूप था सो ही है। अत. यथाजात, यथारूप, प्रकृतरूप, प्राकृतिक मुद्रा, जिनमुद्रा आदि शब्दो से यह रूप जाना जाता है। इस जिनरूप को धारण करते हुए दिगबर मुनि सदैव इस पृथ्वीतल पर विचरण करते रहे और मोक्षमार्ग सदैव अस्खलितरूप से चलता रहे।

॥ जैनं जयतु शासनम् ॥

---

१ "निर्विकार बालकवत् निर्भय तिनके पायन धोक हमारी

—कवि भूधरदास